अनेकान्त
व
स्याद्वाद

[हिन्दी-संस्करण]

•

लेखक :—

स्व० श्री चन्दुलाल स० शाह

•

प्रकाशिका —

जैन मार्ग आराधक समिति

C/o चुनीलाल दुलीचंद

गोकाक, जि० बेलगाँव (मैसुर-राज्य)

संवत्-२०१६]   मूल्य ५) रु०   [वीर संवत् २४८६

● मिलने का पता :

जैन मार्ग आराधक समिति
C/o चुनीलाल दुलीचद राठोड
गोकाक, जि० वेलगाव (मैसुर राज्य)

● सस्करण १०००

वि० स० २०१६
वीर सवत् २४८६
सन् १९६३

● मूल्य

रु० ५)

● मुद्रक

श्री पावन पाठक
सस्ता साहित्य प्रेस,
कचहरी रोड,
अजमेर

समर्पण

जिनकी उपकारक दृष्टि से जीवन ने नया मोड लिया,

जिनकी असीम कृपा से सम्यक् ग्रानद की प्राप्ति हुई

और जिनकी प्रेरणा से यत्किञ्चित् लिखने का

सुअवसर प्राप्त हुआ उन महानुभाव

गुरुदेव के कर-कमलों

मे वदना पूर्वक

समर्पित।

—लेखक

प्रकाशक का वक्तव्य

अनेकान्त-स्याद्वाद

जैनधर्म के अहिंसामय आचार और अनेकान्त सिद्धान्त की विश्व-श्रेष्ठता के विषय मे आज कोई मतभेद नही है। परन्तु अनेकान्त के सिद्धान्त को सरल तथा बातचीत की पद्धति से प्रस्तुत करने की आवश्यकता की पूर्ति आधुनिक साहित्य मे कही दिखाई नही देती।

सूचित करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है कि अहमदाबाद निवासी स्वर्गीय श्री चन्दूलाल सकरचद ने अपने जीवन काल मे जैन धर्म की शुद्ध सेवा करने के उद्देश्य से अपना उपर्युक्त शैली मे लिखा हुआ अनेकान्त-स्याद्वाद विषयक एक भव्य गुजराती निबन्ध तैयार कर हमे प्रदान किया। आज हमे वह और उसका हिन्दी, मराठी तथा अग्रेजी अनुवाद करवा कर प्रकाशित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यह निबन्ध बडी रोचक शैली मे लिखा हुआ है, इसलिए कहानियो की पुस्तक की तरह सतत रसपूर्वक पढा जा सकता है। इसमे समाविष्ट आधुनिक दृष्टान्तो-उपमाओ की विपुलता, पारिभाषिक शब्दो का यथासभव कम प्रयोग, आवश्यक वैज्ञानिक तुलना आदि की शैली इस प्रकार के गभीर तात्त्विक ग्रन्थो की दुनिया में बिल्कुल नई वस्तु है।

इस निबन्ध मे अनेकान्तवाद के घरेलू प्रसग, अनेकान्त का विशद स्वरूप, सात नय, सप्तभगी, नवतत्त्व, जीवन एव जगत की जटिल समस्याएँ हल करने मे अनेकान्तवाद की प्रबल उपयोगिता तथा नमस्कार महामत्र आदि विषयो का समावेश किया गया है। प्रतिपादन इतना युक्तिपूर्ण तथा मनोविज्ञान के नियमानुसार किया गया है, कि कोई भी तटस्थ जैनेतर भी इसका ध्यानपूर्वक पठन कर लेने पर, हमे विश्वास है कि, अनेकान्त की श्रद्धा लेकर ही उठेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ का शास्त्रीय दृष्टि से निरीक्षण करने का कार्य प० श्री भानुविजयजी गणी ने किया है और उसका हिन्दी अनुवाद प्रो बी टी परमार एम ए, बी एस सी, साहित्यरत्न ने किया है। अत हम उनके आभारी हैं।

जैन मार्ग आराधक समिति, गोकाक।

|| ॐ ||

निवेदन

अधिक लम्बी चौडी बात करने की मेरी इच्छा नही। जब कि एक ओर तत्त्वसपत्ति का विपुल भण्डार पडा हुआ है तब दूसरी ओर ऐसा भी 'वाञ्छक' ('इच्छुक') वर्ग है जिसे यह भी नही मालूम कि यह भण्डार कहां पडा हुआ है ?

'मुझ से इन लोगो को कुछ लाभ हो' ऐसी सद्भावना मन मे जागृत होते ही एक छोटा-सा चमचा अपने आप गतिशील हुआ और अपनी शक्ति के अनुसार अपने साथ (ज्ञान भण्डार) लिये इच्छुक वर्ग के सामने उपस्थित होता है।

भला एक छोटे-से चमचे की गु जाइश ही कितनी ? इससे कही पेट थोडे ही भर सकता है ? तृप्ति थोडे ही हो सकती है ?

फिर ऐसी धृष्टता क्यो ?

कारण सिर्फ इतना छोटा-सा ही तो है।

इस चमचे मे लगे हुए अमृतसिन्धु के बिन्दु का स्वाद चखकर, कोई इच्छुक उक्त विपुल भडार की खोज मे उद्यमशील हो जाय ' बस ''' सिर्फ इतना ही।

ससार का सब से बडा दुर्भाग्य है कि 'अनेकान्तवाद' को किसी एक सम्प्रदाय की मुहर लग गई है।

जैसे सूर्य और चन्द्र को साम्प्रदायिक तत्त्व नही माना जा सकता, जैसे वे सारे विश्व के कल्याणकारक समझे जाते हैं ठीक उसी तरह 'अनेकात-वाद' के नाम से प्रसिद्ध तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति कही भी क्यो न हुई हो, विश्वके लिये मगलमय है। गणितशास्त्र की खोज किसी ने भी की हो, किसी भी व्यक्ति द्वारा उसे अक्षरदेह प्राप्त हुआ हो, किसी भी भाषा मे लिखा गया हो, फिर भी सामूहिक रूप मे वह एक और विश्वमान्य है। ठीक उसी तरह यह 'अनेकान्तवाद' भी एक विश्वकल्याणकारक तत्त्वज्ञान है। लौकिक एव लोकोत्तर, दोनो क्षेत्रो मे 'अनेकातवाद' और 'स्याद्वाद' ज्ञान का प्रधान महत्त्व है।

सम्प्रदाय के प्रभाव से मुक्त करके 'यह सिर्फ हमारा ही नही, हमारा, आपका और सभी लोगो का है।' ऐसी घोषणा द्वारा 'अनेकातवाद' के अद्भुत और विपुल भडार को समग्र मानवता के कल्याणार्थ उन्मुक्त छोड देने का समय अब आ पहुँचा है।

जब कि आज के अणुशस्त्र और अन्तरिक्षयान, समस्त मानवता का विनाश करने पर तुले हुए हैं तब 'स्याद्वाद' का ज्ञान एक ऐसा 'सर्वसरक्षक शस्त्र' है जिसमे जगत की रक्षा करने की अद्भुत शक्ति है।

'स्याद्वाद' के ज्ञान मे वह महाशक्ति छिपी हुई है जो मानव हृदय से शत्रुता की भावना का सहार करके उसके स्थान पर मित्रता की भावना जागृत कर सकती है।

'स्याद्वाद' समग्र मानवजाति का अमूल्य खजाना है, प्रत्येक मनुष्य इस परम सुखदायक सम्पत्ति का अधिकारी है।

जो जिसका है उसको मिलना ही चाहिये। जो जिसका है उसे उद्यम-पूर्वक और धैर्य से प्राप्त करना चाहिये।

ऐसे मनोरथ लेकर यह तुच्छ प्रयास उस सत्कार्य मे निमित्त बनने की इच्छा मे, भावनापूर्वक इस छोटी सी पुस्तक के रूप मे, इच्छुको के सामने प्रस्तुत है।

यह चमचा इस छोटे से काम को करने की प्रेरणा देने वाले, सहायता देने वाले और यह काम कराने वाले सभी आदरणीय स्वजनो, मित्रो, गुरुदेव, एव शासन देव आदि का (किसी के नामाभिधान की विधि किये बिना) आभार मानता है।

इस पुस्तक मे जो कुछ भी परोसा गया है वह तो महासिन्धु के बिन्दु का भी एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु मात्र है। परोसने वाले की कुछ त्रुटियाँ रह गई हो, इसमे मति अज्ञान के रजकण दिखाई दे, यह स्वाभाविक है और इसके लिये क्षमायाचना के सिवा और कौन-सा श्रेष्ठ मार्ग हो सकता है?

'मिथ्या मे दुष्कृतम्।'

—चन्दुभाई

प्रस्तावना

इस विशाल एवं विराट विश्व का पदार्थविज्ञान इतना गहन प्रवल और चित्रविचित्र है कि केवल कल्पना बुद्धि और तर्क से कोई भी दर्शनवेत्ता (Philosopher) सत्य का साक्षात्कार कर ही नहीं सकता, इसलिये तटस्थ तत्त्वचिन्तकों (Thinkers) को "स्वभावोऽतर्कगोचर" निर्विवाद कहना पड़ता है। सत्य का साक्षात्कार करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि चाहे बुद्धि पहुँचे या न पहुँचे परन्तु अपनी दृष्टि के अनुसार सृष्टि को समझने का कदाग्रह छोड़कर सृष्टि के अनुसार दृष्टि को दौड़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस अटल सिद्धान्त की भूमिका पर सृष्टि का अवलोकन करने के पश्चात् दर्शनशास्त्रो का अध्ययन किया जावे तो स्याद्वाद दर्शन जो अनेकान्तवाद, आर्हत दर्शन या जैन दर्शन के नाम से संसार में प्रसिद्ध है, उसको कभी भी संशयवाद, शुष्कवाद अथवा शून्यवाद कहने का स्थान ही नहीं रहता और जिन २ दार्शनिक विद्वानो ने स्याद्वाद की मौलिक मान्यता "एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्धनानाधर्मस्वीकारो हि स्याद्वाद" के सामने अपने मताग्रह के अभिनिवेश में "नैकस्मिन्नसंभवात्" की आवाज उठाने मे अपनी वाक्पटुता का जितने २ प्रमाण मे प्रदर्शन किया है उतने २ प्रमाण में इस आधुनिक विज्ञान (Modern Science) के युग में अपने ही विचारक एव तत्त्वशोधक अनुयायियो के बीच मे उन्हें विशेष हास्यपात्र बनना पड़ा है।

आधुनिक विज्ञान अनुमान पर नही परन्तु अनुभूति की भूमिका (Experimental Ground) पर खडा रह कर उद्घोषणा कर रहा है कि Permanance underlying change

is the fulcrum of all the universal substances अर्थात् विश्व के समस्त तत्त्वभूत पदार्थों का "उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत्" ही मूलाधार है और स्याद्वाद दर्शन की इमारत इसी बुनियाद (Foundation) पर ही निर्माण हुई है। जैन आगम शास्त्रों का स्पष्ट कथन है कि तीर्थंकर महाप्रभु अपने जन्म जन्म की जीवन-यात्रा में अहिंसा के आदर्श सिद्धान्तों को अमल में रखते हुए और सर्वोत्कृष्ट संयम की साधना करते हुए और तीव्रातितीव्र तप की आराधना करते हुए त्रिभुवनप्रकाशक केवल-ज्ञान ज्योति को प्राप्त करते हैं, तब नैसर्गिक नियमानुसार (Natural Law) अखिल ब्रह्माण्ड में दिव्य आन्दोलन (Cosmic Vibration) होता है और उस आकर्षण में देव देवी, नर नारी और पशु पक्षी सब आदर एवं पूज्य भाव से उनके (तीर्थंकर भगवन्त के) दिव्य दर्शन और दिव्यध्वनि का लाभ उठाने के लिये समवसरण (Cosmic congregation) में सम्मिलित होते हैं, तब श्री तीर्थंकर भगवन्त तीर्थ की स्थापना करते हैं और उस प्रसग पर सब से प्रथम प्रभु के पाद कमलों में आत्म-समर्पण (Unconditional surrender) करने वाले प्रज्ञाप्रौढ पुण्यवन्त पुरुष जो उनके प्रधान शिष्य एव गणधर कहलाते हैं, वे विनयपूर्वक प्रणाम करते हुए प्रश्न करते हैं कि-भन्ते ! किं तत्तं, किं तत्तं ? तत्त्व क्या है, तत्त्व क्या है ? प्रत्युत्तर में अनन्त कृपालु भगवत मधुर वाणी से फरमाते हैं कि-"उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" एव "उत्पाद व्यय ध्रौव्य" पदार्थ का स्वभाव ही तत्त्व है। इस त्रिपदी का ही स्याद्वाद दर्शन में ससार के सचालन का मूलाधार कहो चाहे ब्रह्माण्ड का बीज अथवा द्वादशाङ्गी वाणीगङ्गा का हिमाचल कहो अर्थात् यही सब कुछ है। कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त तत्त्वभूत पदार्थ जिनको जैन परिभाषा में द्रव्य (Substances) कहते हैं वे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाले अनादि-

नियत हैं। द्रव्य द्रु धातु से बना हुआ शब्द है यानि द्रव्य हमेशा अपने मूल गुणों से ध्रुव रहता हुआ अनन्त पर्यायों में अवस्थान्तर पाता ही रहता है और उसी कारणवशात् संसार में संयोग वियोग, उत्थान पतन, जन्म मरण, हर्ष शोक और हानि लाभ सारी घटनायें बनती रहती हैं। आगम ग्रन्थों में जब २ पदार्थदर्शन एवं वस्तुस्वभाव के ऊपर प्रश्नोत्तर का प्रकरण चलता है तो यही समाधान दिया है कि सारी वस्तु नित्यानित्य स्वभाव वाली है अर्थात् द्रव्यार्थिक नय (Absolute point of view) से सब ही नित्य है और पर्यायार्थिक नय एवं व्यवहार नय (Relative point of view) से अनित्य है, चाहे चेतन तत्त्व रूप मानव दानव या पशु पखी हो, चाहे अचेतन (जड़) तत्त्व रूप घट पटादि पदार्थ हो। उदाहरणार्थ जैसे सुवर्ण की मुद्रिका में से कान के कुण्डल बन गये तो सुवर्ण अपने पीला भारी और कोमल स्वभाव में वैसा का वैसा है मात्र आकृति (पर्याय) में परिवर्तन होता है। वही हालत भिन्न २ प्राणियों के जन्म मरणादि की है। इसलिये जो उपरोक्त दोनों दृष्टियों का विकास नहीं साधते हैं उनके लिये सारे हर्ष शोक एवं सुख दुःख का झगडा अनिवार्य है और सारे दर्शनों का साध्यबिन्दु प्राणियों को इस विडम्बना एव झगड़े में से मुक्त करने का है इसलिये स्थितप्रज्ञ, समभावी या समत्वदर्शी बनना ही अगर सारे शास्त्रों का साराश हो तो स्याद्वाद संशयवाद नहीं परन्तु सत्यवाद एवं सम्यग्वाद है। ससार के समस्त पदार्थ-विज्ञान का स्वभाव ही स्याद्वादमय है अर्थात् सृष्टि का संचालन स्याद्वादमय हो रहा है इसलिये स्याद्वाद के अध्ययन, मनन और सूक्ष्म परिशीलन के बिना मानव का महोदय पद को प्राप्त होना दुष्कर एव असम्भव है। यह ससार की समस्त समस्याओं के शान्ति समाधान (For the solution of all the burning problems) के अपूर्व ज्ञान का खजाना है इसलिये स्याद्वाद का

खण्डन करना सूर्य के सामने धूल उड़ाने जैसा विषय है। स्याद्-वाद यह नहीं कहता है कि चाँदी की भ्रान्ति अथवा रज्जू में सांप की भ्रान्ति से भ्रमित हो जाओ। स्याद्वाद तो यह कहता है—वस्तु विज्ञान का (१) स्याद् अस्ति,(२) स्याद् नास्ति, (३) स्याद् अस्ति नास्ति (४) स्याद् अवक्तव्य (५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य (६) स्याद् नास्ति अवक्तव्य (७) स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य, इस प्रकार से सप्त भंगी द्वारा सूक्ष्मावलोकन करके विकास साधो तब ही सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। स्याद् शब्द यही संकेत करता है कि तुम्हारे कथन में कुछ है परन्तु सब कुछ नहीं। अरब सागर (Arabian sea) में हिन्द महासागर, (Indian ocean) का ही पानी है परन्तु हिन्द महासागर नहीं। इसलिये सब ही पदार्थ का सापेक्ष प्रतिपादन है अर्थात् एकान्त नहीं परन्तु अने-कान्त है। इसी अनेकान्तवाद या सापेक्षवाद (एक पर्यायवाचक शब्द है) और आधुनिक विज्ञान का सम्राट् डा० आइन्सटन (Einsten) की (Theory of relativity) सापेक्षवाद की मान्यता भी कितनेक अंश में अनेकान्तवाद से अनुसरती है। इससे सिद्ध होता है स्याद्वाद विज्ञान का भी महाविज्ञान है, क्योंकि स्याद्वादमय स्वभाव से पदार्थ विज्ञान विश्व का सूक्ष्मगणितमय Higher mathematical process स्वयं संचालन कर रहा है। आधुनिक विज्ञानवेत्ता (Scientists) एक आवाज से स्वीकार करते हैं कि Universe is self created, self-ruled and self-systematised by its unchangable and potential Laws विश्व अपना सर्जन संचालन और शासन स्वयं ही अपने अटल नियमों के अनुसार कर रहा है। सृष्टि का सर्जनहार,संरक्षक और संहारक मात्र मानव कल्पनायें (Imaginary conceptions) हैं। स्याद्वाद भी विज्ञान की तरह ऐसी कल्पित मान्यताओं को कभी स्थान नहीं देता है इसलिये स्याद्वाद ही सत्यवाद है।

पदार्थविज्ञान का पूर्ण प्रतिपादन करने वाले आज हजारों एक से एक आला दर्जे के ग्रन्थ मौजूद हैं और मूल आगम जैसे भगवती समवायांग प्रज्ञापना या अनुयोगद्वार सूत्रों में इस बाबत में सम्यग् प्रतिपादन किया गया है इसलिये स्याद्वाद को संशयवाद मानने में सत्य में सशय पैदा करना एवं सत्य का प्रतीकार समझा जाता है। आज तो अंतरराष्ट्रीय ख्याति(International reputation) के अनेक धुरंधर विद्वान् डा० गगानाथ झा, प्रो० आनन्दशकर ध्रुव, फणिभूषण अधिकारी, डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण,महावीर-प्रसाद द्विवेदी, डा० परटोल्ड, डा० हर्मन जेकोबी डा० हेल्मथ वोन ग्लेजनेप, डा० टेसेटोरी आदि पौर्वात्य और पाश्चात्य अनेक विद्वान् स्याद्वाद की मुक्त कठ से प्रशसा करते हुए फरमाते है कि स्याद्वाद संसार की सघटन शक्ति (Unifying Force) है और सब मतभेद और भिन्न भिन्न दृष्टियों के समन्वय करने वाला (Compromising system of philosophy) दर्शन है,इसका अनेकान्त नाम सार्थक है क्योंकि वह अनेक विचारवैमनस्यों का सुन्दर ढंग से समाधान करता है ।

इन सब के अभिप्रायों का यथार्थ उल्लेख करने की भावना थी, परन्तु मै यहाँ स्वतन्त्र निबन्ध नही लिख रहा हूँ लेकिन एक निबन्ध की प्रस्तावना लिख रहा हूँ इसलिये विशेष लिखना अमर्यादित एव अप्रासगिक समझा जाता है इसलिये इतना ही सक्षेप मे लिखना उपयुक्त समझता हूँ। इस निबन्ध के लेखक को मिलने की उत्कण्ठा होने हुए भी मेरा मिलना नही हुआ और उनका अचानक स्वर्गवास हो जाने से दिल की भावना दिल मे ही रही। इतना कहना कोई अत्युक्त नहीं होगा कि उनके लेखो ने मेरे हृदय मे उनके प्रति बड़ा सद्भाव पैदा किया था इसलिये प्रसग २ पर उनको याद करता ही रहता हूँ। एक दफे मेरा बेंगलोर जाना हुआ और वहाँ पर बिराजे हुए महाराज से वार्ता-

लाप करते हुए लेखक महोदय की असाधारण चिन्तनशक्ति की प्रशंसा कर रहा था तब पूज्य महाराज श्री ने फरमाया कि अभी उनका लिखा हुआ स्याद्वाद पर एक सुन्दर, निबन्ध प्रकाशित हो रहा है सो तुम ही उसकी प्रस्तावना लिख दो। यद्यपि स्याद्वाद जैसे अतिगहन विषय पर प्रस्तावना लिखने की मुझ में कोई योग्यता न होते हुए भी केवल पूज्य मुनिवर्य की आज्ञा को शिरोधार्य करता हुआ मैंने दो शब्द पाठक वृन्द के सामने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है सो त्रुटि आदि के लिये क्षमा याचना हुआ अनुरोध करता हूँ कि लेखक महोदय ने माध्यस्थ भाव से एवं तटस्थ दृष्टि से बड़े रोचक और तात्विक शैली से स्याद्वाद जैसे सागर को गागर में समावेश करके समझाने का प्रशस्त प्रयत्न किया है उसको उसी माध्यस्थ एवं तटस्थ वृत्ति के स्तर पर रेडियो के मीटर की भाँति रह कर इस निबन्ध का अध्ययन, मनन एवं परिशीलन करेंगे तो स्याद्वाद के सत्यामृत का अनुभव हुए बिना रहेगा नहीं—"सुज्ञेषु कि बहुना"।

शिवगंज
८-१२-६०

धर्मानुरागी-
"ऋषभ"

इस ग्रन्थ में आये हुए विषय-विषयक ग्रंथ-सूची

नवतत्त्व

१ नवतत्त्व सुमगला टीका
२ कर्मग्रन्थ भाग १
३ स्थानाग सूत्र ६ स्थाने
४ तत्त्वार्थसूत्र हारिभद्रीय
५ ,, हिन्दी प० सुख०
६ ,, गुज० ,, प्रभु०
७ उत्तराध्ययन सूत्र अ० २४,२८

अनेकांतवाद

१ अनेकातजयपताका (वडोदा)
२ स्याद्वादमजरी श्लो० ५, २४
३ शास्त्रवार्ता समुच्चय (आ० लाव०)
४ सूत्रकृतागसूत्र २ श्रु० ५ अ०
५ अनेकातवादप्रवेश
६ द्रव्यगुणपर्यायरास
७ अनेकातवादमर्यादा (प०सुख०)
८ तत्त्वार्थ त्रिसूत्री

षड् द्रव्य

१ उत्तराध्ययनसूत्र (शात्या०)२८ अ०
२ द्रव्यानुयोगतर्कणा १० अध्या०
३ द्रव्यलोकप्रकाश
४ प्रज्ञापनासूत्र १,३ पदे
५ स्थानागसूत्र ४ स्था० ३ उ०
६ अनुयोगद्वारसूत्र
७ भगवतीसूत्र २ श० १० उ०
,, १३ श० ४ उ०

पंचकारणवाद

१ सन्मतितर्क गा० १४६

निक्षेप

१ विशेपावश्यकभाष्य गा० ६१२
२ आवश्यक सूत्र मलयगिरीय
३ अनुयोगद्वारसूत्र सटीक
४ प्रतिमाशतक श्लो० २

नय

१ नयोपदेश
२ रत्नाकरावतारिका ७ परि०
३ विशेपा० भाष्य गा० ७२,६१४
२१८०,२२६४,२२७३,३३६६,
३५८६ ।
४ सन्मतितर्क १ का० गा० ३५
३ काड
५ आवश्यकसूत्र मलय० १अ०१,२ख.
६ अनुयोग द्वार सटीक
७ द्रव्यानुयोगतर्कणा ५,८, अध्याय
८ अ०व्य०द्वा०स्याद्वादमजरीश्लो० ३०
९ द्वादशारनयचक्र(आ० लब्धि०)

सप्तभगी (स्याद्वाद)

१ रत्नाकरावतारिका ८ परि०
२ स्याद्वादविन्दु
३ शास्त्रवार्तासमुच्चय
४ स्याद्वादमजरी

५ सन्मतितर्क गा० १३२(उत्पादादि)

६ उत्पादादिसिद्धि

पाँच ज्ञान

१ नन्दिसूत्र मलय०

२ ज्ञानबिन्दु सटीक

३ कर्मग्रन्थ १ हिन्दी, गुज०

कर्म

१ कर्मसिद्धि स०

२ कर्म फल कैसे देते ? हि०

३ कर्मविचार गुज० (प०प्रभुदास)

४ योगविंशिका स० (कर्मसिद्धि)

५ यशो० द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका १६.२६, (कर्मसिद्धि)

६ स्थानांगसूत्र ४ स्थाने (कर्मसिद्धि)

७ उत्तराध्ययन सूत्र गा० अ०२३,३३

८ समवायांगसूत्र ६७ सम०

९ भगवतीसूत्र ८ श० १० उ०
१४ ,, ८ ,,
१६ ,, ८ ,,
२५ ,, ७ ,,

१० प्रज्ञापनासूत्र मलय०२३,२५,२७, पदे

११ ज्ञाताधर्मकथासूत्र ६ अ०

१२ सन्मतितर्क (ह०लि०) पत्र १५५,१८४

१३ कर्मग्रन्थ देवचन्द्रजीकृत १ से ६

१४ ,, हिन्दी १ से ६

१५ पंचसंग्रह

१६ कर्मप्रकृति

१७ प्रमा० न०लो० रत्नाकरावतारिका परि० ७ (कर्मसिद्धि)

१८ आवश्यकसूत्र मलयगिरीय द्वि० भा० गणधरवाद(कर्मसिद्धि)
,, ,, निह्नववाद

१९ विशेषावश्यकभाष्य, गणधरवाद, (कर्मसिद्धि), निह्नववाद

श्रावक (गृहस्थ व्रत)

१ उपासकदशांगसूत्र

२ धर्मबिन्दु

३ धर्मसंग्रह

गुणस्थान

१ समवायांगसूत्र १४ सम०

२ पंचम कर्मग्रन्थ संस्कृत, हिन्दी० गुज०

३ पंचसंग्रह २ द्वा० ३४, ४०, १ द्वा० गा० २८

४ द्वितीयकर्मग्रन्थ गा० २

५ चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ५२,७०,४५

६ गुणस्थानक्रमारोह स०गुज०हिन्दी

विषय-सूची

॥ श्री जिनेन्द्राय नम ॥

अनेकान्त और स्याद्वाद

प्रकरण १ —प्रवेश

"आपका यह 'अनेकाँतवाद' एक बडा भ्रम है भ्रम। एक ही वस्तु मे परस्पर विरोधी गुण धर्मो का होना भला कैसे सभव है? यह तो शब्दो का निरर्थक आडम्बर मात्र है। यह केवल बुद्धिचातुर्य का विलास है। विष और अमृत का एक साथ रहना असभव है, यह बात तो एक छोटा-सा बालक भी आसानी से समझ सकता है! फिर भला! विद्वान् और बुद्धिशाली व्यक्तियो को 'अनेकातवाद' को स्वीकार करने पर किस तरह राजी कर सकते है?"

अमरीका के न्यूयार्क शहर के एक आलीशान हॉटल मे मुझसे मिलने आये हुए एक विद्वान् मित्र ने जब बातचीत के दौरान मे इस प्रकार की आलोचना की तब मेरे चेहरे पर आनद और दु'ख की मिश्रित स्मित-रेखाए अकित हो गईं।

हम दोनो तत्त्वज्ञान के बारे मे चर्चा कर रहे थे। मेरे ये मित्र बडे बुद्धिशाली और जिज्ञासावृत्ति वाले थे। तत्त्वज्ञान के बारे मे चर्चा करते समय जब मैने जैन तत्त्वज्ञान का उल्लेख

शुरू किया तब उन्होने तुरन्त ही उपरोक्त बाते कह कर मेरी जबान ही बन्द कर देने की कोशिश की ।

"देवो और दानवो ने मिलकर जब समुद्र मथन किया तब उससे विष और अमृत दोनो निकले थे, यह बात तो आप जानते ही होगे ?" मैने पूछा ।

"हाँ" उन्होने जवाब दिया ।

"तो फिर आप इस बात को स्वीकार करते है कि समुद्र मे विष और अमृत दोनो एक साथ थे ?" मैने पूछा ।

यह प्रश्न सुनकर मेरे मित्र कुछ सोच-विचार मे पड गये । वे सोच-विचार कर ही रहे थे कि मैने एक दूसरा प्रश्न पूछा ।

"विद्वान् वर्ग मे आपको स्थान दिया गया है । लोग आपको ज्ञानी और पडित समझते है, क्या यह बात सही है ?"

"अवश्य सही है । वर्षो के अध्ययन के बाद विद्वत्ता प्राप्त हो सकी है । यदि लोग मुझे विद्वान् मानते है तो इसमे कुछ भी अवास्तविक नही है ।" उन्होने उत्तर दिया ।

"अच्छा, यदि कोई आकर आपसे ऐसा कहे कि आप विद्वान् नही बल्कि निरे मूर्ख है, तो आप क्या कहेगे ?" मैने पुन पूछा ।

" Absurd ! वाहियात " उन्होने तुरन्त ही जवाब दिया ।

उनका जवाव सुन कर मै पुन' मुसकुराया। वाद मे मैंने धीरे से पूछा "यदि मै यह सावित कर दू कि यह वात झूठ नही वल्कि सत्य है तो ?"

"You are welcome." यह सावित कर देने के लिये मै आपको आमन्त्रित करता हू।"

"अच्छा तो सुनिये! आप ठहरे सस्कृत के अध्यापक। आपका सस्कृत का अध्ययन इतना गहरा है कि किसी से भी आप टक्कर ले सकते हैं लेकिन आपको लेटिन भाषा का ज्ञान विल्कुल नही। आप किसी ऐसे प्रदेश मे जाएँ जहा की वोल चाल को भाषा लेटिन हो वहाँ खटिया के नीचे पानी होते हुए भी आपको प्यास के मारे तडपना होगा। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो जहाँ तक लेटिन भाषा का सम्वन्ध है, आपको विल्कुल अनपढ और मूर्ख समझा जाय या नही? ठीक इसी तरह फ्रासीसी, रूसी, जर्मन आदि भाषाओ के विषय मे भी यह वात सही है या नही?"

मेरी यह वात सुनकर वे सज्जन सोच-विचार मे पड गये, कुछ देर तक सोच-विचार करने के वाद उन्होने जवाव दिया "यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो आपकी वात सही है।"

"हा, तो फिर स्याद्वाद को अव आप मिथ्यावाद या प्रपचवाद नही कह सकते है। एक और वात सुनिये। आप तो वह के वही है लेकिन एक दृष्टि से देखा जाये तो आप विद्वान् है और दूसरी दृष्टि से आप

अनपढ और मूर्ख भी है अर्थात् आप विद्वान् है भी और नही भी है, ये दोनो परस्पर विरोधी बाते सही है, इस बात को अब आप स्वीकार करेगे या नही ?"

यह सुनकर मेरे विद्वान् मित्र को अपनी गलती का ज्ञान हो गया है ऐसा जान पडा। अक्सर मिलने का तथा पत्र-व्यवहार द्वारा सम्बन्ध निभाये रखने का वचन देकर उन्होने विदा ली। जाते-जाते उन्होने इस बात का भी मुझे विश्वास दिलाया कि वे इस विषय का गहरा अध्ययन करेगे और इस पर अधिक सोच-विचार भी करेगे।

ठीक एक ऐसा ही दूसरा अनुभव मुझे न्यूयार्क शहर मे हुआ। इस बार एक तेजस्वी विद्यार्थी से मेरी भेंट हुई। बातचीत के दौरान मे उसने कहा "आज के बीसवी सदी के नाम से पहचाने जाने वाले इस युग मे बुद्धिवाद और विज्ञान जिस वस्तु को स्वीकार नही करते उसे फिर किसी भी व्यक्ति की ओर से स्वीकृति प्राप्त होना असम्भव है। आज के युग मे प्रयोगशाला मे जिसका प्रमाण प्राप्त न हुआ हो या जो बुद्धिगम्य न हो ऐसी कोई भी बात स्वीकार करने के लिये शायद ही कोई तैयार होगा।

यह विद्यार्थी भारतीय, गुजरात प्रदेश का रहने वाला तथा जैनधर्म का मानने वाला था। विलायत मे अपना अध्ययन पूरा करके विज्ञान के विषय मे उच्च अध्ययन करने की इच्छा से अब अमरीका आया हुआ था। उसने मुझे बुद्धिवाद सम्बन्धी विस्तृत जानकारी देनी शुरू की।

"कुछ उदाहरण और तर्क के साथ समझाइये।" उसे प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से मैने कहा।

यह सुनकर उसने अपनी बात को आगे बढाते हुए कहा "देखिये, जैन लोगो का कहना है कि पृथ्वी नारगी की भाति गोल नही लेकिन थाली की भांति गोल है। साथ साथ यह भी कहते हैं कि पृथ्वी घूमती नही बल्कि स्थिर है। लेकिन आज विज्ञान ने यह साबित कर दिखाया है कि पृथ्वी नारगी की भाति गोल है और घूमती भी है। हा, तो अब बताइये कि आपका इस विषय मे क्या कहना है?"

इस प्रश्न का जबाव मुँह से देने के बजाय मैने अपनी जेब से एक डॉलर निकालकर उसके हाथ मे रखते हुए पूछा "तुम्हारे हाथ मे जो यह डॉलर है वह किसकी तरह गोल है, यह बताओगे?"

"इसे थाली के आकार का चपटा, गोल कहा जा सकता है।" उसने जवाब दिया।

बाद मे मैने उस सिक्के को वापस ले लिया। टेबल पर बाँये हाथ की पहली अगुली से उस डॉलर को दबाकर मैने खडा कर दिया। फिर दाये हाथ की पहली अगुली के छोर के पीछे की ओर के नाखून की सहायता से एक जोर का धक्का देते हुए मैने तुरन्त ही बाँये हाथ की अंगुली हटाली।

टेबल पर वह डॉलर गोल-गोल घूमने लगा। लट्टू की तरह वह सिक्का तेज गति से घूमने लगा। उस घूमते हुए डॉलर की ओर इशारा करते हुए मैने पूछा:—

"हाँ, तो अब बताओ कि यह डॉलर किसकी तरह गोल दिखाई देता है ? नारगी की भाँति गोल दिखाई देता है ?"

"यह तो आभास है ।" उसने जबाव दिया ।

"तो फिर, पृथ्वी नारगी की भाति गोल है या थाली की भाति गोल है इस बात का निर्णय करते समय आधुनिक विज्ञान को भी 'आभास' नही हुआ, इसका क्या प्रमाण है ?

यह सुनकर वह विद्यार्थी सोच मे पड गया । कुछ देर उसे विचार करने देकर मैने दूसरा प्रश्न पूछा ।

"तुमने रेल गाडी मे यात्रा तो अनेक बार की होगी । गाडी जब गति मे हो उस समय यदि खिडकी से बाहर की ओर देखे तो जमीन, पेड-सभी कुछ मानो दौडते हुए नजर आते है । तुम्हे भी यह अनुभव हुआ ही होगा ? सच पूछा जाय तो ये सब चीजे अपनी-अपनी जगह पर स्थिर होते हुए भी मानो वे गतिशील हो ऐसा प्रतीत होता है, यह बात ठीक है ?"

"हाँ ऐसा दिखाई देता है सही ।"

"ठीक इसी तरह मान लीजिये कि किसी छोटे से स्टेशन पर दो गाडियाँ खडी हुई है । इनमे से एक गाडी समय होते ही आगे चलना शुरु करदे और अभी तक स्टेशन पर ही खडी हुई गाडी मे बैठ कर जब हम दूसरी गाडी की ओर नजर दौडाते है तब हमे ऐसा अनुभव होता है, मानो जिस गाडी मे हम बैठे हुए हैं वही आगे बढ रही हो । लेकिन जब

हम दूसरी ओर नजर करते हैं तब हमे सभी चीजे अपनी-अपनी जगह पर स्थिर खडी हुई दिखाई पडती है। उस समय हमे विश्वास होता है कि जिस गाडी मे हम बैठे हुए है वह चलती नही लेकिन पास मे जो गाडी खडी थी वह आगे बढ गई है। ठीक ऐसा ही अनुभव तुम्हे भी हुआ होगा ?"

"लेकिन यह सब तो आभास मात्र ही है, वास्तव नही" उसने जवाब दिया।

"बाद मे कही हमे इस बात का ज्ञान होता है कि यह आभास मात्र है। क्या तुम यह विश्वास के साथ कह सकते हो कि विज्ञान द्वारा हमे जो कुछ बताया गया है, सब तथ्य है, और उसमे आभास बिलकुल नही ?" मैने पूछा।

"यह भला हम कैसे कह सकते है ? अतीत मे जो कुछ भी खोज कार्य हुए है और उस समय जो हमे सत्य प्रतीत होता था वही कालान्तर मे आज झूठा और निष्फल साबित हो चुका है। इसके अतिरिक्त जिन्हे असभव और कोरी कल्पना मात्र समझा जाता था ऐसी बहुत-सी बाते आज सभव सिद्ध हो चुकी है। आज भी ये सशोधन एव अन्वेषण-कार्य जारी हैं। लेकिन जो गलत था उसे बुद्धि पूर्वक तथा प्रयोगात्मक प्रमाण द्वारा गलत साबित किया गया है। आज जो कुछ भी नये सशोधन या आविष्कार हुए है वे सभी बुद्धि एव प्रयोग के ही फलस्वरूप है" उसने प्रत्युत्तर मे कहा।

"क्या यह बुद्धि सम्पूर्ण एव अपरिमित है?" मैने उससे प्रश्न पूछा।

"भला मै ऐसा कैसे कह सकता हूँ?"

"तो फिर अपूर्ण बुद्धि द्वारा स्वीकृत बात को मान्य रखना तथा इस अपूर्ण बुद्धि मे जिस बात को समझने की भी शक्ति न हो उस बात का इन्कार करना, इसे ही तुम बुद्धिवाद समझते हो तो फिर मुझे कहना होगा कि जिसे तुम बुद्धिवाद समझते हो वह सिर्फ अहवाद और उससे उत्पन्न हुआ 'नकारवाद' ही है।"

यह सुनकर वह विद्यार्थी कुछ उलझन मे पड गया। उसे उलझन मे पडा हुआ देख कर स्पष्टीकरण करने के उद्देश से मैने फिर से कहा—

"कृपया मेरी बातो से यह न समझ लेना कि बुद्धि मे मेरा विश्वास ही नही तथा विज्ञान के क्षेत्र मे आज जो एक महान क्रान्ति आ रही है उसे मै निरर्थक समझता हू। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि विज्ञान ने आज दिन तक इतनी प्रगति तो नही की जिससे वह जैन आगमो मे सर्वज्ञ भगवतो के जो विधान सग्रहीत पडे हुए है उनको चुनौती दे सके, इसके विपरीत विज्ञान ने जो आविष्कार किये है, उनके मूल तो उन सर्वज्ञ भगवनो के कथन मे ही समाये हुए है। मेरे कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि आज मनुष्य के पास जो बुद्धि है उसका उपयोग यदि बुद्धि का अधिक विकास करने के उद्देश से किया जाय तो कालान्तर मे एक न एक

दिन वह विकसित होते हुए पूर्णता के निकट अवश्य आ पहुँचेगी। लेकिन वहाँ तक पहुँच पाने के लिये बुद्धि द्वारा जो ग्राह्य नही, उसके सामने रोष प्रकट करने के वजाय उसका इन्कार करने के वजाय, यदि श्रद्धा का आश्रय ले तो वह मार्ग उचित समझा जायगा।

"अब आपकी वात मेरी समझ मे कुछ आ रही है।" उसने कहा।

"जो कुछ भी हमारी समझ मे आता है, हम अपनी नजरो के सामने जो कुछ भी देख रहे है उसको स्वीकार कर लेने मे भी खतरा है। क्योंकि उस समझ या दृश्य की फिर एक वार सत्य के वजाय किसी आभास पर रचना हुई हो यह भी वात असम्भव नही अर्थात् जो कुछ भी हमारी समझ मे आता हो उसका प्रमाण ढूढने के लिये सर्वज्ञ भगवन्तो के कथन का सहारा लेना और जो हमारी समझ मे नही आता उसके लिये 'यह मेरी समझ मे नही आता' इस वात को स्वीकार कर लेना यह अधिक सुरक्षित मार्ग है। ऐसा करने के वजाय चूंकि यह बुद्धिग्राह्य नही इसलिये वह गलत है, विज्ञान ने उस पर अपनी मुहर नही लगायी इसलिये वह निरर्थक है—इस तरह कहना उचित नही समझा जाता।" मैंने कहा।

"आपने तो आध्यात्मिक क्षेत्र से सम्वन्धित वाते वतायी, जवकि आज का विज्ञान भौतिक विषय पर ही प्रयोग कर रहा है। ये दोनो वाते आप एक मे मिला दे (Mixed up)

यह तो ठीक नही" इस विद्यार्थी मित्र ने एक और तर्क किया।

"आज बहुत कम लोग इस बात को स्वीकार करेंगे कि आध्यात्मिक और आधिभौतिक विषय एक दूसरे से भिन्न नही हैं। दृष्टि भेद के कारण ये दोनो बाते भिन्न-सी प्रतीत होती है। विज्ञान का दावा है कि मानव जाति की भलाई के लिये उसका अस्तित्व है। विश्व के अध्यात्मिक गुरुजनो ने भी मानव जाति की भलाई और कल्याण की भावना का चित्र अपने सामने रखकर ही ये बाते कही है। जो कुछ भी भिन्नता नजर आती है वह तो सिर्फ सुख और कल्याण विषयक कल्पना मे—समझ मे है। मूल मे तो सुख और कल्याण दोनो मे अभिन्नता है।" मैने जवाब दिया।

"यदि हम सिर्फ भौतिक प्रश्नो के बारे मे ही सोच-विचार करे तो क्या उसका तरीका आध्यात्मिक विचार धारा से भिन्न न होगा ?" उसने अपना सन्देह प्रकट करते हुए कहा।

"नही, दोनो एक ही है। फिर भी जहाँ तक भौतिक विषय का सम्बन्ध है, मनुष्य ने अभी तो इस विषय मे कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त ही नही किया। जब प्रोफेसर आइन्स्टाइन ने अपना सापेक्षवाद का सिद्धात (Theory of Relativity) प्रयोगशाला मे सिद्ध करके विश्व को बतलाया तब सारा विश्व आश्चर्य मुग्ध हो गया था। लेकिन उनका वह सापेक्षवाद, जैन तत्त्वज्ञान मे ठूँस-ठूँस कर हजारो--लाखो वर्षो से भरा

पडा है और प्रोफेसर आइन्स्टाइन की खोज उसके आगे तो सिन्धु के सामने विन्दु की भाँति नजर आती है, इस वात की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट क्यो नही होता ?' मैंने पूछा ।

"क्या यह सापेक्षवाद जैन तत्त्वज्ञान मे भी है ?" उसने पूछा ।

"जैन तत्त्वज्ञान की नीव ही सापेक्षवाद पर खडी की गई है" मैंने जवाव दिया ।

"तो फिर आपके तत्त्वज्ञान का अध्ययन मुझे करना ही होगा" उसने कहा ।

"हमारा नही, अपना कहो । तुम जन्म से ही जैन हो, क्या इस वात को तुम भूल गये ?"

कुछ शरमाते हुए (Thanks) 'धन्यवाद' वस इतना ही कहकर उसने विदा ली ।

× × ×

इस लेखक की अमरीका की यात्रा के वीच ऊपर वताई गई घटनाओ के सदृश एक तीसरी घटना भी याद रखने योग्य है । इस वार एक अमरीकन मित्र के साथ कुछ चर्चा हुई । वे सज्जन यहूदी थे । धर्म और तत्वज्ञान के विषय मे उन्हे गहरी दिलचस्पी थी ।

कुछ चर्चा करने के वाद उन्होने मुझसे कहा.—"जैन धर्म और जैन तत्त्वज्ञान सम्वन्धित ये सभी वाते आप इस ढग

से कह रहे है मानो आपका तत्त्वज्ञान, Complete, absolute & all compiehensive—पूर्ण, स्वतन्त्र, सर्वग्राह्य और सर्वव्यापक हो।

"वेशक, मेरा यही खयाल है।" मैने जवाव दिया।

"अच्छा, तो फिर आप मुझे यह वतायेगे कि आपके देश की–भारत की–कुल आवादी कितनी है ?" उन्होने पूछा।

"चालीस करोड।" मैने जवाव दिया।

"इसमे से आपके जैन धर्म मे मानने वालो की सख्या कितनी है ?" उन्होने दूसरा प्रश्न पूछा।

"वारह से लेकर पन्द्रह लाख के आस-पास।' मैने जवाव दिया।

मेरा जवाव सुनते ही वे भाई–साहव खिलखिलाकर हँसने लगे। वाद मे धीमी आवाज मे मुझसे तीसरा प्रश्न इस ढ ग से पूछा मानो कोई महान् विजय प्राप्त करके उनका मन सन्तुष्ट हुआ हो।

"जिस धर्म और तत्त्वज्ञान के वारे मे आप ऐसी अद्भुत और वडी-वडी वाते कह रहे है, जिसे आप विश्व के तत्त्वज्ञान का सवसे ऊँचा शिखर मानते है, उस धर्म मे मानने वाले और उसका अनुसरण करने वालो की सख्या भला इतनी कम क्यो है ?

जवाव देने के वजाय मैने ही उनसे प्रश्न पूछा,

"इस न्यूयार्क शहर की आवादी कितनी है ?"

"अस्सी नव्वे लाख होगी ?" उन्होने जवाव दिया ।

"अच्छा, इस नव्वे लाख की आबादी मे Millionaires लखपति कितने होगे ?" मैने दूसरा प्रश्न पूछा ।

यह प्रश्न सुनकर वे भाई-साहव उलझन मे फँस गये । फिर भी उन्होने मेरे प्रश्न का जवाव तो दिया ही,

"A few hundreds—कुछ सौ होगे ।"

"ऐसा क्यो ?" मैने तीसरा प्रश्न पूछा ।

मेरे इस तीसरे प्रश्न का जवाव वे भाई-साहव न दे सके । कुछ देर तक चुप रहने के वाद उन्होने फिर से कहा ।

"भला इस वात का आपके धर्म विषयक वात से क्या सम्वन्ध है ?"

"धर्म और धर्म का पालन करने वालो की सख्या, इन दोनो वातो के वीच जो सम्वन्ध रहता है, इतना ही सम्वन्ध इन दोनो वातो के वीच मे है । जो कार्य वहुत कठिन होता है, उसे करने की शक्ति थोडे से लोगो मे ही होती है । धर्म के विषय मे भी कुछ ऐसा ही हुआ है । जो काम आसान हो उसे पूरा करने के लिये अधिक लोग तैयार होगे । ठीक उसी तरह जिस धर्म का पालन करना आसान हो उस धर्म के अनुयायियो की सख्या आसानी से वढ सकती है, लेकिन जिस धर्म का पालन करना कठिन हो उस धर्म के लिये नये अनुयायियो का मिलना मुश्किल है । इसके विपरीत, अनुयायियो की सख्या वढने के वजाय, दिन प्रतिदिन कम होती रहती है । लेकिन

मै आपको विश्वास दिला सकता हू कि जैन धर्म और जैन तत्त्वज्ञान इतने तो कठिन या उलझे हुए नही है जितना कि समझा जाता है, यदि मनुष्य मे उन आपत्तियो का—जो शुरू-शुरू मे मार्ग मे आती हैं—धीरज और क्षमता के साथ सामना करने की हिम्मत हो तो वे आपत्तिया आप-ही-आप दूर हो जाती हैं। शुरू-शुरु मे यदि जगल और पहाडो को पार किया जाय तो फिर चारो ओर महकता हुआ नन्दनवन ही हमे फैला हुआ नजर आएगा" मैने जवाव दिया।

"फिर तो आपके धर्म और तत्त्वज्ञान के वारे मे मुझे विशेष जानकारी प्राप्त करनी ही होगी।" उन्होने गम्भीरता पूर्वक कहा।

"सिर्फ विशेष ही नही वल्कि सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करने की कोशिश कीजियेगा।" मैने जवाव दिया।

"क्या आप मुझे एक सूची दे सकते है जिसमे अग्रेजी मे लिखित उन पुस्तको का नाम दिया गया हो जिन्हे पढकर मै आपके धर्म और तत्त्वज्ञान के वारे मे आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकू" उन्होने अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहा।

यहा पर मुझे शिकस्त मिली। मैंने अपना सिर झुका लिया। कहने को तो कह दिया, "कुछ सोच-विचार और पूर्ण जाच करने के वाद मै ऐसी पुस्तको की एक सूची आपके नाम भिजवा दूँगा।" इस सूची की खोज मैं कहाँ करूं ? मै अपने उन अमरीकन मित्र का आभार आज भी मानता हू जिनके कारण इस विषय मे अपने अज्ञान का मुझे भान हुआ।

× × ×

वाहर विश्व मे जैन धर्म और जैन तत्त्वज्ञान के वारे मे जो अज्ञान फैला हुआ है उसे देखकर मेरे मन मे वडी ग्लानि पैदा हुई और उस ग्लानि को मन मे ही समाये भारत वापस लौट आया। इस घटना को हुए आज कई वर्ष वीत गये है।

स्वदेश लौटने के वाद जव मैने यह देखा कि हमारे भारतवर्ष मे भी जैन तत्त्वज्ञान के वारे मे अज्ञान फैला हुआ है तव मेरे आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा। इससे भी अधिक आश्चर्य की वात तो यह है कि स्वय जैन समुदाय मे इस तत्त्व-ज्ञान की जानकारी वहुत कम है। जव मैने यह कहा कि जैन धर्म ईश्वर को कर्ता के रूप मे मानने के लिये तैयार नही तव मैंने कुछ ऐसे जैन भाइयो को देखा जिन्होने मेरी इस वात पर हँसी उडायी और मुझे नास्तिक कहा। यह देखकर मेरे दिल को गहरी चोट पहुँची।

मुझे अपनी ही अल्पता से परिचित होने का जव अवसर मिला तव मैंने सवसे अधिक दु ख, आश्चर्य और आघात का अनुभव किया।

वहुतसी जगहो पर मैं जैन धर्म और जैन तत्त्वज्ञान के वारे मे लम्वी चौडी वाते किया करता था। 'अन्धो मे काना राजा' या 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते' वाली कहावत के अनुसार, जैन तत्त्वज्ञान की वाते जगह जगह कह कर मैने लोगो को चकित कर दिया था। मुझे यह विश्वास हो गया

था कि मेरे पास इस विषय से सम्बन्धित बहुत सारी जानकारी है। लेकिन यहा आने के बाद जब कुछ जैन मुनिराजो, पन्यास जी महाराजो तथा आचार्य भगवन्तो से मेरी मुलाकात हुई, उन लोगो से कुछ तत्त्व चर्चा हुई और उनकी ओर से मुझे जो थोडी-सी जानकारी प्राप्त हुई उसे देखने और समझ लेने के बाद मुझे विश्वास हो गया कि जैन तत्त्वज्ञान सम्बन्धी मेरा अपना ज्ञान, सिन्धु के बिन्दु के भी एक अणु के समान था। बिन्दु के उस अणु से मोहित होकर मै मदारी की डुग-डुगी की तरह जगत के बहुत से लोगो को मोहित करने के उद्देश से निकल पडा था, इस बात का ज्ञान होते ही मेरे ओठ मानो सिल गये, सस्कृत मे लिखे हुए एक प्राचीन कथन का मुझे सस्मरण हो आया। उस कथन का तात्पर्य यह है —

अहो लघु ज्ञानी मूर्ख मन मे गर्व धरता,
सब कुछ जानता हूँ, खुद को यो समझना,
किन्तु परिचय मिला जब सत जन का,
खुली आँख तब तो निज को मूर्ख गिनता।

[भर्तृहरि नीति शतक]

लेकिन यह ज्ञान होने के फल स्वरूप मुझे तो लाभ ही हुआ। खोज करने पर एक 'गुरुदेव' 'सुगुरु' से मेरी भेट हुई। उन्होने मेरा जो मार्ग-दर्शन किया, उसके अनुसार मै कार्य करता रहा। उन्होने मुझे जो पुस्तके दी वे तथा जिन पुस्तको की उन्होने सिफारिश की, वे सभी मैने पढी।

करीब पाँच साल के अध्ययन और परिश्रम के बाद, आज जब मैने यह लिखना शुरु किया तब भी मुझे अपनी अल्पज्ञता का भान, जैसा पहले था वैसा ही तीव्र है। पूज्य महाराजश्री की–अपने गुरुदेव की–प्रेरणा मुझे न मिली होती तो आज यह लिखना प्रारभ करने की मेरी हिम्मत होती या नही यह भी एक प्रश्न है।

जो पुस्तके मैने पढी, उनमे कोई सस्कृत या प्राकृत भाषा मे लिखी हुई पुस्तके नही थी। जैन तत्त्वज्ञान का विपुल भडार इन दो भाषाओ मे सग्रहीत पडा है। उनकी सहायता से अग्रेजी, हिन्दी और गुजराती भाषाओ मे लिखी हुई बहुत सी पुस्तके मै देख गया। सस्कृत और प्राकृत भाषाओ पर अधिकार प्राप्त करने के लिये कोशिश करने की और इतना धीरज रखने की सुविधा तो थी ही नही।

फिर भी मै पूज्य गुरुदेव का मार्गदर्शन प्राप्त करता रहा। जो कुछ भी समझ मे न आता था उसे समझने के लिये मै प्रत्यक्ष या पत्र द्वारा उनका मार्गदर्शन प्राप्त करता रहा। उन्होने अत्यन्त प्रेम, करुणा और उत्साह के साथ मुझे अपनाया और मेरा मार्गदर्शन करते रहे।

अर्वाचीन भाषाओ मे जो कुछ भी लिखा गया है उसे देखकर पूज्य गुरुदेव को कम असतोष नही था। जब मै इन्दौर मे था तब उन्होने मेरे नाम एक पुस्तक भेजी थी ताकि मै उसका अध्ययन कर सकूँ। इस सिलसिले मे उन्होने मेरे नाम

जो एक पत्र लिखा था उसका कुछ हिस्सा मै यहाँ पर उद्धृत कर रहा हूँ —

" 'नामक पुस्तिका की तीसरी ग्रावृत्ति मै भेज रहा हूँ। केवल एक वार पढने पर हमे इस वात का पता लगेगा कि हमारे यहाँ स्याद्वाद पर जो साहित्य प्रकाशित होता है वह कितना ग्रस्पष्ट ग्रोर पढने वाले को उलझन मे डालने वाला है। फिर भी इस समस्त साहित्य मे 'स्याद्वाद' के सत्य विखरे पडे है जिनकी खोज करने के वाद एक ऐसे साहित्य का निर्माण होना चाहिये जो हमे ठोस सत्य की प्रतीति करवाये तथा पढने वालो के दिमाग मे स्वाद्वाद के सिद्धान्तो की उपयोगिता का एक स्पष्ट चित्र ग्रकित कर दे, इस वात की ग्रावश्यकता भी तव ग्रापको महसूस होगी।"

जव मै ग्रमरीका ग्रौर यूरोप की यात्रा कर रहा था तव मुझे इस प्रकार के साहित्य के निर्माण की ग्रावश्यकता महसूस हुई थी ग्रौर मेरे मन मे ये भाव जागृत हुए ही थे कि यथाशक्ति इस वारे मे कुछ कार्य करूँ। पूज्य गुरुदेव ने मेरी इस भावना को प्रोत्साहित किया ग्रौर उस विषय मे कुछ कहने की मुझे प्रेरणा भी दी।

तत्पश्चात् सयोगवशात् अधिक समय तक मै गुरुदेव के सम्पर्क मे न रह सका। लेकिन उन्होने जो वीज वोया था वह तो मेरे मन मे ही निहित था ग्रौर उसका विकास भी जारी था। मै इस विषय का ग्रध्ययन तथा पठन यथामति वढाता ही रहा था।

फलत. कई वर्षों के वाद, कलम का सहारा लेकर आज मुझे कुछ लिखने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। मन-ही-मन श्री जिनेश्वर भगवान् को और पूज्य गुरु महाराज को वंदन करके मैं अपना वह प्रयत्न आरंभ करता हूँ · परिणाम ·?

पाठकवर्ग तथा भविष्य ही इसका निर्णय करेंगे। मेरी आप लोगो से इतनी ही प्रार्थना है कि आगे के प्रकरणो मे जो कुछ भी लिखा गया है उसका धैर्य, लगन और समभाव से अध्ययन करे।

०००

प्राथमिक

जैन तत्त्वज्ञान के बारे मे कुछ बाते आरम्भ करने से पहले थोडी सी प्राथमिक बातो पर हम सोच-विचार कर ले।

आज विश्व मे चारो ओर हमे जो कुछ भी नजर आता है तथा उससे जो जानकारी प्राप्त होती है उसमे न जाने कितना बडा मतभेद हमे प्रतीत होता है ? क्या ये सभी मत-भेद असत्य है ? भ्रम है ?

एक व्यक्ति को जो कुछ भी दिखाई पडता है अथवा उसकी समझ मे जो कुछ आता है वही दूसरे व्यक्ति को न तो दिखाई पडता है और न तो उसकी समझ मे ही आता है। इसके द्वारा क्या हम यह समझ ले कि देखने वाले और न देखने वाले, समझने वाले और न समझने वाले सभी झूठे है। यदि इन लोगो के साथ बातचीत करने का हम अवसर प्राप्त कर ले तो हमे पता चलेगा कि हर व्यक्ति अपने आपको सत्यवादी तथा अन्य को झूठा मानता है।

आज के युग मे राजनीति को ही प्रधान स्थान दिया गया है। हर विचारशील नेता यही स्वप्न देखा करते है कि सारे विश्व मे पूर्ण लोकशासन यथार्थ रूप मे स्थापित हो, किन्तु इस एक ही 'वाद' के बारे मे उन लोगो की जो विचार-धारा है उसमे कितना महान अन्तर है।

'Greatest good of the greatest number of People' 'अधिक से अधिक लोगो का अधिक से अधिक कल्याण' ऐसी लोकशासन की एक कल्पना है। 'Government of the People, for the People, by the People' अर्थात् 'जनता का शासन, जनता के लिये और जनता द्वारा' ऐसी भी एक कल्पना की गई है। यहाँ पर 'जनता' के स्थान पर 'प्रजा' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। जब हम इस विषय की गहराई मे जाकर उस पर सोच-विचार करेगे तब कही हमे इस बात का पता चलेगा कि उसमे 'Greatest Good—अधिक से अधिक कल्याण किसे कहना, इस बात पर भी अनेक मतभेद है। इसके अतिरिक्त 'जनता' अथवा 'प्रजा' शब्द के भी सकुचित, विस्तृत अथवा उनके बीचके अनेक अर्थ निकाले गये है।

लोकशासन के स्वरूपो के बारे मे भी भिन्न-भिन्न अभिप्राय प्रचलित है। पूजीवादी लोकशासन साम्राज्यवादी लोकशासन, समाजवादी लोकशासन, केन्द्रीय लोकशासन, प्रान्तीय लोकशासन, राष्ट्रीय लोकशासन अमरीकी ढग का, ब्रिटिश छाप, फ्रास का अनोखा, इन्डोनेशिया का मर्यादित, भारत का समाजवादी समाज रचना वाला (Socialistic Pattern of Society) लोकशासन, इरान का जबरदस्ती लादा हुआ (Imposed) लोकशासन आदि कितने ही भिन्न-भिन्न प्रकार के लोकशासनो का विश्व मे आज अस्तित्व है। गाधीजी का स्वदेशी और अहिंसक लोकशासन (रामराज्य) और ठीक इसके विपरीत सिद्धातवाला रूस और चीन का

साम्यवादी शासन भी आज लोकशासन के नाम से पुकारा जाता है।

इन सभी मे हमे जो मतभेद दिखलाई पडते है वे स्वय ही एक वडा लोकशासन है। वहुत साल पहले प० जवाहरलाल नेहरू ने एक वार लन्दन मे आयोजित कॉमनवेल्थ के प्रधानमन्त्रियो की परिषद मे भाषण देते हुए कहा था —

"यदि विश्व की सारी जनता लोकशासन के नाना प्रकार के स्वरूपो मे से किसी एक को चुनने मे सहमत हो जाय, सबका अभिप्राय यदि एक-सा हो जाय, तो फिर विश्व मे 'लोकशासन' नाम की किसी चीज का अस्तित्व ही न रहेगा।"

इस वात को समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसकी गहराई मे मानवजाति के मूलभूत स्वभाव का वास्तविक मूल्याकन छिपा हुआ है। आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के वारे मे भी कुछ ऐसी ही वात है। उसमे भी हमे भिन्न-भिन्न विचारधाराओ के दर्शन होते हैं, जव तक विश्व का अस्तित्व है तव तक मतभेदो का मिटना असम्भव है। अनादिकाल से ये मतभेद चलते ही आ रहे हैं और अनन्तकाल तक ये मतमतातर रहेगे इसमे कोई सन्देह नही। विश्व का अस्तित्व 'असामजस्य' के कारण ही गतिशील रहा है। यदि 'सामजस्य' की स्थापना हो जाय तो उसकी गति रुक जाएगी। इन्ही मतभेदो के कारण तो हमे जीने का आनन्द प्राप्त होता है। अनादिकाल से इन्ही मतभेदो को मिटाने के लिये हमारे महापुरुषो द्वारा जो प्रवल

पुरुषार्थ होता आ रहा है वह एक सबसे बडे गौरव की बात है। फिर भी हम देख रहे है कि ये मतभेद कम होने के बदले बढते ही जा रहे है।

फिर भी इससे निराश होने की कोई आवश्यकता नही, जिस तरह से ये मतभेद एव मतमतातर अनादि अनन्त है ठीक उसी तरह साथ ही साथ 'सत्य क्या है ?' इस विषय मे मनुष्य की जिज्ञासा भी अनादि अनन्त है। मनुष्य के हृदय मे आदि काल से यह जिज्ञासावृत्ति सुरक्षित रही है और अनन्तकाल तक वह जीवित रहेगी। जब तक मनुष्य के मनमे से 'सत्य की खोज' की यह वृत्ति लुप्त न होगी तब तक तो उसके विकास मे कोई बाधा न पहुँचेगी।

इस जगतीतल पर आज जितने भी तत्त्वज्ञान विद्यमान है उन सभी की उत्पत्ति मनुष्य की इस जिज्ञासावृत्ति के विकास मे से ही हुई है। सदैव नई चीज देखने की तथा जानने की मनुष्य की जिज्ञासावृत्ति को धन्यवाद देते हुए तथा उसे वन्दन करते हुए जब हम आगे बढेगे तो सर्वप्रथम हमारे मस्तिष्क मे यही एक विचार आएगा कि इस जिज्ञासावृत्ति से विश्व को जो कुछ भी लाभ प्राप्त हुआ है उसमे ठोस सत्य क्या है ?

यह प्रश्न सचमुच बडा जटिल है। जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के लिये किसने मेहनत की ? कितनी मेहनत की ? किस तरह की ? उसके पीछे कितना समय गवाया ? इन सभी बातो पर हमे सोच-विचार करना होगा। इन बातों पर

विचार करते-करते, मनुष्य की बुद्धि-शक्ति की मर्यादा का, अपूर्णता का एव उसके अहभाव का खयाल आये विना नही रह सकता ।

वैज्ञानिक खोज करते समय मनुष्य को एक हल-निराकरण (Solution) मिलते ही वह खुशी मे फूल उठता है और अपनी उस खोज की प्रसिद्धि के लिये वह अपने साथियो तथा अनुयायियो की मदद से वडे जोरशोर से नगाडे पीटना शुरू कर देता है ।

आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी, अनादिकाल से ठीक ऐसा ही होता आ रहा है । कोई-कोई साधक, आत्म-साधना के लिये मत्र, जाप, योग या ध्यान आदि मे से किसी एक मार्ग को अपना लेता है । यदि किसी को प्रकाश का एक वृत्त दिखाई देता है कि तुरन्त ही वह "आत्मसाक्षात्कार हो गया" यह समझकर पद्मासन का त्याग कर देता है । किसी की मानसिक शक्ति, योगवल से वढ जाने के कारण कुछ चमत्कार दिखाना प्रारभ कर दे तो 'अब सशोधन का अन्त आ गया है' यह समझकर वह नाचने लगता है ।

'Heroworship' 'वीरपूजा' मानव-स्वभाव की सहज विशेषता है । यदि कोई व्यक्ति कुछ नया कर दिखाये, कुछ चमत्कारपूर्ण कार्य करके दिखाये या कुछ सिद्धियो का प्रदर्शन करे तो शीघ्र ही अनुयायियो का एक वडा समूह उसके चारो ओर एकत्रित हो जाता है । मनुष्य स्वभाव की एक दूसरी विशेषता 'अतिशयोक्ति' करने की है । देखी हुई

था जानी हुई बात को बढ़ा चढ़ाकर बडा स्वरूप देने की और सुनी हुई बात को, जैसे अपनी आँखो मे देखी हो इस तरह विस्तृत स्वरूप देकर—कहने की मानव की आदत अनादिकाल से चली आ रही है। इस वृत्त के पीछे अपना महत्त्व स्थापित करने की अहभाव जन्य इच्छा छिपी रहती है।

जो मनुष्य सिर्फ 'भौतिक सुख' की ही लालसा मे मग्न रहता है वह ऐसे किसी न किसी अवधूत के पीछे अवश्य लगा रहता है। सिद्ध माने जाने वाले के आगे-पीछे बडी सख्या मे मानव-समूह एकत्रित हो जाता है। यह समूह उस सिद्ध पुरुष की भक्ति, जो सिर्फ खुशामद का ही एक रूप होता है, करना शुरू कर देता है। अपनी खुशामद करते हुए मानव-समूह को देखकर अपने आपको सिद्ध मानने वाला 'अब अपना विकास पूर्ण हो गया है और अब कुछ भी करना बाकी नही रहा' यो समझने लगता है। असीम बुद्धिशाली वर्ग, महान् योगी और वैज्ञानिको की जब ऐसी दशा हो तब भला साधारण जनसमुदाय का तो कहना ही क्या ?

हमारे देश मे, अध्यात्मिक तथ्य के विषय मे आज दो विभाग प्रतीत होते है। एक वर्ग 'जन्मजात श्रद्धा' को ही परंपरा से मानकर, पहले से जैसा चला आ रहा है उसे अपनाता है। दूसरा वर्ग 'बुद्धिप्रधान और आधुनिक शिक्षा प्राप्त किये हुए लोगो' का है। विश्लेषण करने पर मालूम-होगा कि इन दोनो वर्गो के बीच कोई बडा भेद नही।

'जन्मजात श्रद्धावाले' वर्ग मे जिस तरह अनेक मतमतातर है ठीक उसी तरह इस सुरक्षित एव बुद्धिशाली माने जाने

वाले वर्ग मे भी उतने ही हठी और कट्टर मतमतातर है। स्वामी रामकृष्ण परमहस, श्रीरमणमहर्षि, श्री अरविंद घोप, नित्यानन्द स्वामी, स्वामी रामदास और ऐसे दूसरे अनेक महापुरुपो के शिक्षित अनुयायियो से अलग-अलग भेट करने पर पता चलेगा कि भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो को मानने वाले ये लोग "सत्य उनकी अपनी जेब मे है, और कही नही" ऐसी बात बडी कट्टरता से और दृढता से मानते हुए प्रतीत होगे, लोग इस तरह मानते है इतना काफी नही 'अन्य लोगो को भी उनकी मान्यता को स्वीकार करना चाहिये और स्वीकार लेने के बाद कही उनका उद्धार होगा अन्यथा नरक की खाई मे ही उन्हे गिरना होगा' ऐसी बात ये सभी लोग कहा करते है।

'आगरे के किले मे से दिखते हुए ताजमहल के बारे मे किसी फारसी कवि ने लिखा है—

"इस धरती पर यदि कही स्वर्ग हो तो
वह यही है, यही है, यही है ●

आज चारो ओर इस काव्य की सी बात प्रतीत होती है। आध्यात्मिक विपय मे दिलचस्पी रखने वाले किसी भी सज्जन से आप मिले, अधिकतर लोग, जिस मत के अनुयायी होगे उसीकी प्रशसा करना शुरू कर देगे।

● अगर फिरदौस बर रुए जमीनस्त,
इमीनस्तो इमीनस्तो इमीनस्त।
वास्तव मे यह शेर काश्मीर के, विषय मे कहा गया है।

—प्रकाशक

स्वर्गीय श्री किशोरलाल मशरूवाला जब गाधीजी के आश्रम मे रहने गये उस समय वे स्वय स्वामीनारायण पथ के पक्के अनुयायी थे और उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि गाधीजी को भी स्वामी नारायण–पथ मे मिलाकर उन्हे सहजानन्द स्वामी के अनुयायी बना ले। यह बात उन्होने स्वय लिखी है। इन समभावी एव बुद्धिशाली किशोरलाल भाई की श्री केदारनाथजी से जब भेंट हुई तब उन्हे कुछ और ही तरह का अनुभव हुआ। श्री केदारनाथजी के सम्पर्क मे आने के बाद उन्हे 'सत्य' की प्राप्ति हुई है इस आशय का एक तार उन्होने आबू पर्वत से अपने आप्त जनो के नाम भेजा था। इसके विपरीत श्री केदारनाथजी ने स्वय कहा है कि उनको (किशोरलाल को) तथा वैसे ही दूसरे सज्जनो सन्तो तथा योगियो को जो अनुभव हुए है, वे अपूर्ण है।

जब हमारे चारो ओर ऐसी ही परिस्थिति नजर आती हो तब स्वाभाविक तौर पर ऐसा प्रश्न मन मे उपस्थित हुए बिना नहीं रह सकता कि "हमे क्या मानना चाहिये ?" इस मानने के बारे मे एक सर्वसाधारण अभिप्राय ऐसा है कि हम जो कुछ भी समझ ले अथवा स्वीकार कर ल वह सब सतर्क, सुतर्कयुक्त, उदाहरण और दलील से सुसगत होना चाहिये। किसी भी बात को तर्क (Logic) का समर्थन प्राप्त न हो तो उसे गलत समझकर छोड देना चाहिए।

इस प्रकार की मान्यता मे एक अत्यन्त महत्त्व की बात तो हम भूल ही जाते है और वह यह है कि जिसे हम तर्क के नाम से पहचानते है वह 'शुद्ध' एव 'सम्पूर्ण' है क्या ?

आधुनिक विश्वविद्यालयो मे जो तर्कशास्त्र—Logic—पढाया जाता है उसमे 'झूठ तर्क'—Fallacy of Logic—की भी एक बात आती है। तर्कशास्त्र, एक बडा जटिल विषय है। तर्कशास्त्र लिखने वाला, पढाने वाला, पढने वाला इन तीनो वर्गो मे, पूर्णरूपेण सुगठित विवेक बुद्धि का अभाव हो, मानस यदि पूर्व ग्रह से युक्त हो–मुक्त न हो—और यदि ये तीनो क्रियाए (लिखने की, पढाने की, पढने की) अहभाव की छाया से प्रभावित हो तो उसका क्या नतीजा होगा ?

गणितशास्त्र का ही एक तर्क हम ले ले। कोई पाच आदमी पन्द्रह फीट गहरी नदी पार करना चाहते थे। गणितशास्त्री ने तो हिसाब लगाकर उन्हे बता दिया कि हर एक के हिस्से मे तीन फीट अर्थात् कमर तक पानी आएगा।

अब यदि इस गिनती को स्वीकार कर कही ये लोग नदी पार करने को चलने लगे तो उसका क्या नतीजा हो सकता है ? पाचो व्यक्ति डूब जाएगे। गणितशास्त्री की राय के मुताबिक यह तर्क बिल्कुल सही था किन्तु व्यवहार मे वह प्राणघातक सिद्ध होता है अर्थात् यह तर्क मिथ्या है। यदि इसका अनुसरण किया जाय तो उसमे विवेकशून्यता ही होगी।

मिथ्या इसलिये कि गणित का हिसाब लगाने वाले व्यक्ति ने आदमी और नदी को ध्यान मे रखे बिना तथा दोनो के नाप को एक साथ ध्यान मे रखे बिना ही विचार किया। उन पाचो आदमियो ने अपनी विवेकबुद्धि का उपयोग किये बिना ही उसका अनुसरण किया।

एक दूसरी छोटी-सी और साधारण बात को ले लें।

किसी एक मकान मे दीवारे सफेद रग की है। उसमे हरे रग के विजली के लट्टू लगाये गये हैं। अव जव विजली का प्रकाश दीवारो पर पडता है तव हमे दीवारे सफेद के वदले हरे रग की प्रतीत होती है।

रात और दिन के समय यदि दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा इन्ही दीवारो को देखने के पश्चात् उनकी राय पूछी जाय तो दोवारो के रग के वारे मे उनमे मतभेद अवश्य उपस्थित होगा। एक का यह कहना होगा कि दीवारे सफेद रग की हैं जव कि दूसरा कहेगा कि वे सफेद नही वल्कि हरे रग की हैं। इन दोनो की वात सही भी है और गलत भी। इस वात का फैसला तो तव हो सकता हे जव कि यह भेद जानने वाले किसी तीसरी व्यक्ति की राय पूछी जाय जो इसी मकान मे रहता हो। इन दोनो की वाते आपस मे विरोधी होते हुए भी दिन और रात की अपेक्षा से सही है। इस वात का ज्ञान तो तव होगा जव कि ये दोनो व्यक्ति दिन और रात दोनो समय इन्ही दीवारो को फिर से देखें। तव तक यदि ये दोनो व्यक्ति अपनी-अपनी मान्यता पर अडे रहे तो उसमे आश्चर्य की कौन-सी वात है ?

आँखो से जो दिखाई देता है उसकी वात ले।

एक पहाड की चोटी पर चार व्यक्ति खडे है। एक व्यक्ति की आँख मे मोतिया है और उसने ऐनक नही लगायी है। दूसरे की आँखे मे भी मोतिया है लेकिन उसने ऐनक लगायी है। तीसरे की आँख सव प्रकार के रोगो से मुक्त है।

चौथे की आँखे ठीक है और इसके अतिरिक्त उसके पास दूरबीन भी है।

अब जब ये चारो व्यक्ति क्षितिज की ओर नजर करेगे तब क्या इन लोगो की दृष्टि-मर्यादा मे समानता होगी ? सभी व्यक्तियो को क्या एक सा दिखाई देगा ? यदि उस समय इन लोगो को आँखो देखे हाल का वर्णन करने को कहा जाय तो चारो के पास से अलग-अलग बात सुनने को मिलेगी।

इस तर्क Logic की भी वही दशा है। उसका उपयोग करने वाले तथा कराने वाले विभिन्न व्यक्तियो की समझ, बुद्धि, ज्ञान अनुभव तथा शक्ति का प्रभाव एक या दूसरी तरह उन पर पडे बिना नही रह सकता। उसमे 'अशुद्धि' आये बिना नही रह सकती।

तो फिर 'शुद्ध' तर्क किसे कहा जाय ?

यहाँ पर हम दुनियादारी और मनुष्य की बुद्धि को ही ध्यान मे रख कर तर्क के बारे मे चर्चा कर रहे है। तत्वज्ञान के तर्क के बारे मे विचार करने तक हम नही पहुँचे। वहाँ पहुँचने के लिए हमे धीरज रखना होगा।

अभी तो हम अपनी इस प्राथमिक बात को ही आगे बढाएँ। इसके लिये जिस भूमिका की आवश्यकता है उस ओर हम झुकें।

●●●

भूमिका

किसी भी वस्तु को बुद्धिपूर्वक समझने के लिए तर्क का आश्रय लेना आवश्यक है, इस बात को हम अच्छी तरह समझ गये और साथ ही इस बात को भी स्वीकार करते है कि तर्क करते समय बहुधा अनेक स्थानो पर गलतियाँ हो जाने का भी अदेशा रहता है। अब हम आगे बढे।

किसी अदालत के दृश्य की कल्पना कीजिए। न्यायाधीश, फरियादी, अभियुक्त, फरियादी पक्ष का वकील, बचाव पक्ष का वकील, ज्युरी के सदस्य और ऐसे प्रेक्षकगण जिन्हे इस मामले मे दिलचस्पी हो, इस तरह सात प्रकार के लोग यहाँ पर इकट्ठे होते है। मुकदमे की कार्यवाही शुरू होने के बाद दोनो पक्ष के गवाहो की जॉच की जाती है। दोनो ओर से बहस होती है। न्यायाधीश ज्युरी का मार्गदर्शन करते है, फिर ज्युरी अपना अभिप्राय प्रकट करती है।

तत्पश्चात् न्यायाधीश के लिए फैसला करने का कार्य बाकी रह जाता है। न्यायाधीश अपना फैसला किस प्रकार सुनाते है। न्याय के आसन पर विराजमान जज साहब के पास कानूनी ज्ञान, अनुभव, आसन की पवित्रता (Dignity) ये सब बातें होती है। मुकदमे की कार्यवाही प्रारभ होते समय जज साहब 'तटस्थवृत्ति' के पवित्र सिहासन पर बैठे हुए होते है।

अदालत के सामने पेश किये गये प्रमाण, तथा उस सिलसिले मे की गई वहस को ध्यान मे लेकर जज साहव, कानून की मर्यादा मे रह कर, स्वयं विलकुल तटस्थता धारण कर, किसी प्रकार के पूर्वग्रह के विना रिश्वत से दूर रह कर, अपनी राय मे जैसा उचित जँचे वैसा ही फैसला सुनाते है। हम यह मान कर ही चलते है कि जज साहव पूर्णतया तटस्थ, तथा न्याय विपयक अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक है।

ऐसा होते हुए भी जितने फैसले सुनाये जाते है, क्या वे सव न्याययुक्त होते है ? ऊँची अदालतो मे जव अपील की जाती है, तव, प्राय हम देखते है कि, कई फैसले वदलने पडते हैं। इस तरह परिवर्तित निर्णय भी पूर्णतया न्याययुक्त हो, ऐसा हमेशा नही होता।

वहुधा ऐसी भी शिकायते सुनी जाती है कि न्याय पाने की उम्मीद से अदालत मे जाने वाले कुछ लोगो को न्याय ही नही मिलता। क्या हमने वहुत-से ऐसे भी किस्से नही सुने जहाँ निर्दोष व्यक्ति को दण्ड मिला हो और गुनहगार को रिहा कर दिया गया हो ?

किसी न किसी झगडे का निपटारा करने के उद्देश्य से ही अदालत की शरण ली जाती है। ये झगड़े भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है और इनके कारण भिन्न-भिन्न होते है। लेकिन विश्लेषण करने पर हमे ज्ञात होगा कि इन झगडो के मुख्य कारण इस प्रकार है —

"अज्ञान, गलतफहमी; पूर्वग्रह, अहभाव, ममत्व, अध-स्वार्थ, विवेकहीनता, वासनाओ की गुलामी और असहिष्णुता आदि कारण ही झगडो के मूल मे रहते है।

लेकिन सबसे बडा दुर्भाग्य तो यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने आपको इनमे से थोडे-से, सभी अथवा किसी एक कारण के लिए भी जिम्मेदार मानने को तैयार नही होता। मानना तो दूर रहा, लेकिन इस बारे मे विचार करने की भावना या इच्छा भी उसके हृदय मे कदाचित् ही प्रकट होती है।

अपने बारे मे दूसरे लोगो के मनमे गलतफहमी है, ऐसा कहने वाले लोग तो अनेक है लेकिन इस प्रकार की बात करने वाले व्यक्ति के खुद के मन मे, दूसरो के लिये ऐसी ही गलतफहमी है, इस बात को स्वीकार करने के लिये अथवा विचार करने के लिये भला कितने लोग तत्पर होगे ?

मित्र-मित्र मे, व्यापारी सम्बन्धो के सिलसिले मे, पति-पत्नी, भाई-भाई, सास-बहू, देवरानी-जेठानी, पिता-पुत्र, देवर-भौजाई, ननद-भौजाई और अडोसी-पडौसी के सम्बन्धो मे वैमनस्य, क्लेश, टटे-फिसाद ढूंढने के लिए कही हमे दूर जाने की आवश्यकता नही है।

सच्ची बात का अज्ञान, गलत खयाल अर्थात् अज्ञान, पहले से ही बने बनाये अभिप्राय अर्थात् पूर्वग्रह, 'अन्य सभी लोगो मे मै श्रेष्ठ और निराला हूँ' ऐसा अहभाव, तुच्छ स्वार्थ, विचार करने के लिये जिस शुद्ध और शास्त्रीय तर्क के ज्ञान की आवश्यकता है उसका अभाव तथा उसके फलस्वरूप पैदा होने वाली विवेकशून्यता, अपनी इन्द्रियो की वासनाओ को

वश में करने की असमर्थता, अपनी ही बातो पर अडे रहने की आदत तथा उसके फलस्वरूप कुछ भी न छोडने की असहिष्णुता इन सभी बातो मे आज का मानव समाज डूबा हुआ, खोया हुआ सा प्रतीत होता है।

देश-देश के बीच न जाने कितने प्रकार के झगडे होते ही रहते है। पहले जर, जमीन और जोरू को ही झगडे का मूल कारण मानते थे। लेकिन अब रग द्वेष (Colour Prejudice) और वैचारिक या सैद्धान्तिक सघर्ष (Ideological Conflicts) के कारण भी झगडो मे अभिवृद्धि हुई है। इन कारणो मे से किसी एक के उत्पन्न होने पर वह भयकर झगडे का रूप धारण कर लेता है। इस तरह इन बातो पर विचार करने से हमे ज्ञात होगा कि ऊपर जितने भी कारण बताये गये है उनमे से कोई न कोई कारण स्वतन्त्र रूप से या दूसरे कारणो से मिल कर इन सभी झगडो के पीछे अवश्य लगा हुआ है। चूकि हम यहाँ पर राजनैतिक विषय की चर्चा करना नही चाहते अतः उसकी गहराई मे जाना उचित नही होगा। सत्ता का मोह, अन्धस्वार्थ मे समाविष्ट हो जाता है। आसुरी शक्ति, विनाश के अभूतपूर्व साधनो का अस्तित्व आदि सभी कारणो की पृष्ठ-भूमि मे स्वार्थवृत्ति एव अहभाव तो अवश्य होते है। इस बात को यही समाप्त कर अब आगे बढे।

आज प्राय यह देखा जाता है कि बहुत-से लोग किसी प्रयोजन के बिना ही तरह तरह की चर्चा करते रहते हैं। साथ ही यह भी देखा गया है कि कुछ लोग किसी एक निश्चित अभिप्राय को लिये पूर्वग्रह बाँधकर ही आते हुए नजर आते

हैं। यह वात किसी एक ही क्षेत्र मे होती हो ऐसा भी नही है। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक, शैक्षणिक, भौतिक, आधिभौतिक, धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्रो मे भी आज ऐसी ही परिस्थिति दिखलाई पडती है। कुछ लोग अपने वंश-परंपरागत अभिप्रायो का समर्थन करते रहते है, कुछ लोग 'वावावाक्य प्रमाण' मान कर चलने वाले है तो कुछ लोग ऐसे भी होते है जो 'हम भी कुछ हैं' की अहभाव-जनित वृत्तियाँ लिये हुए उछलकूद करते नजर आते है। 'तर्क' जिसका हमने आगे जिक्र किया है, वहुत-से स्थानो पर घोडे के रूप मे न आकर गाडी के रूप मे भी आता है। साधारणतया मनुष्य 'तर्क' को ही आगे रखकर कार्य करता है। यहाँ पर तर्क घोडे का काम करता है। स्वय आगे चलता हुआ विचार और कार्य को अपने पीछे खीचे चलता है।

अपनी ही धुन मे मस्त रह कर तथा स्वार्थ और वासना से प्रेरित होकर भी मनुष्य कभी-कभी विना सोचे ही कार्य कर वैठता है। तत्पश्चात् उसने जो कुछ भी कार्य किया है उसे ही सही प्रमाणित करने के उद्देश्य से 'तर्क' का आधार लेता है। यहाँ निर्णय अथवा कार्य पहले होता है जव कि 'तर्क' वाद मे आता है। ऐसे मामलो मे 'तर्क' घोडे का रूप लेकर नही वल्कि गाडी का रूप लेकर आता है। जैसे घोडे के आगे गाडी लगाने से गाड़ी का चलना असंभव है, ठीक उसी तरह 'तर्क' जिसका प्रयोग वाद मे किया जाता है, वह सही रूप मे 'तर्क' नही वल्कि स्वार्थ-परायण दलीलवाजी ही होती है।

कभी-कभी हम अपनी नजरो के सामने देखते है या अनुभव करते है कि जब दो मनुष्य चर्चा करते है, आपस में बहस करते हैं तब वे कान बद करके बैठे होते है। एक मनुष्य दलील कर रहा हो तब उसे सुनने के स्थान पर दूसरा मनुष्य अपने मन मे अपने व्यक्त किये हुए अभिप्राय के समर्थन के लिये नई युक्तियो की खोज मे ही व्यस्त रहता है। इस प्रकार की चर्चा के समय बहुत-सी अप्रस्तुत तथा बन्दर की सी उछलकूद वाली बातो का मानो एक ढेर-सा लग जाता है।

सत्य की खोज करने का तथा उसे प्राप्त करने का यह मार्ग नही, इस बात को हम आसानी से समझ सकते है। प्रश्न यह उठता है कि हमे 'सत्य' की खोज कहाँ और किस तरह करनी चाहिये ? जैन तत्त्वज्ञानियो ने जिस ढग से इन प्रश्नो का उत्तर दिया है, वैसा किसी दूसरे ने भी दिया हो, ऐसी बात हमने आज दिन तक नही सुनी। 'अनेकातवाद' तथा 'स्याद्‌वाद' द्वारा इन प्रश्नो का उत्तर दिया गया है। जैन तत्त्वज्ञान के सिवा किसी और तत्त्वज्ञान ने 'अनेकातवाद' और स्याद्‌वाद की शिक्षा दी हो ऐसा आज दिन तक जानने को नही मिला।

इस तत्त्वज्ञान के मूल मे जो मुख्य बात छिपी है वह यह है कि किसी भी एक ही दृष्टि-विन्दु से किसी बात पर सोच विचार न करना चाहिये। जिस विषय के सबध मे हमे विचार या निर्णय करना हो उसके अन्य पहलू भी है या नही इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है। कई लोगो ने ढाल के दूसरी ओर देखने की बात कही है, किन्तु वह ढाल अपनी ही कल्पना के अनुसार होती है। इसके दो ही पहलू

होते है। ऊपर बताये गये सभी दूषरण तो उन सब मे अवश्य रहते है। इसीलिये जैन तत्त्वज्ञानियो ने इस वात पर बार-बार ज़ोर दिया है कि तीव्र बुद्धिशक्ति के बावजूद भी जब तक तटस्थता का भाव प्रकट नही होता तब तक पूर्ण सत्य की प्राप्ति असभव है। इसी कारण वे कहते है कि तटस्थवृत्ति को विकसित करना नितान्त आवश्यक है।

इस तटस्थवृत्ति को विकसित करने के लिए अज्ञानता दूर करके सच्चा (सम्यक्) ज्ञान प्राप्त करना होगा। जो भूठा ज्ञान (भ्रम) अर्थात् मिथ्या-ज्ञान है उसे फेक देना होगा, सभी प्रकार के पूर्वग्रहो को, पहले से बने हुए अभिप्रायों को जमीन मे गाडना होगा। अहंभाव से हमे बिल्कुल मुक्त रहना होगा। अन्ध स्वार्थ, भौतिक स्वार्थ जिसका इन्द्रियादिक वृत्तियो के साथ सम्बन्ध है, उसे भी दूर करना होगा। इन्द्रियादिक वासनाओ तथा वृत्तियो की गुलामी से हमे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करनी होगी। विवेक बुद्धि पूर्ण रूप से जागृत करनी होगी और समग्र जगत के प्रति करुणा एवं मैत्री की भावना हृदय मे जागृत करके सहिष्णुता की परमपावक ज्योति प्रज्वलित करनी होगी।

कुछ बहुत वडी बात कह दी, क्यो ?

यह सब पढकर घबराने की कोई जरुरत नही। जिन्होने 'अनेकातवाद' और 'स्याद्वाद' के अपूर्व तत्त्वज्ञान की भेट जगत को दी है वे सभी जैन तीर्थंकर-सर्वज्ञ भगवतगरण ऊपर बताये गये तमाम दोषो से मुक्ति प्राप्त करने मे सफल रहे थे और पूर्णज्ञान-केवल ज्ञान-प्राप्त करने के वाद ही उन्होने ये

बाते जगत के सामने प्रस्तुत की थी ।

हम मे से कोई भी व्यक्ति इस सीमा तक नही पहुँच पाया। लेकिन जो कुछ उन्होने कहा है उसे समझने की शक्ति भी हम मे नही ऐसा मानने की जरूरत नही है। इन बातो को समझने के लिये जिस प्रोत्साहन की आवश्यकता है उसे पाने के लिये यही एक कारण बस है कि इस परम पद को प्राप्त करने मे हम अभी तक सफल नही हो पाये ।

जैन तीर्थंकरो ने जगत को पूर्ण सत्य की खोज करने का, उसे समझने का तथा उसे प्राप्त करने का सही उपाय बताया है, इस बात को तो आज पौर्वात्य एव पाश्चात्य समर्थ विद्वान भी स्वीकार करने लगे है। सर्वज्ञ भगवन्तो ने जो उपाय हमे बताया है, उसका सहारा लेने मे भला हमे कौन रोक सकता हे ?

यदि हम वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ का निरीक्षण करे तो हमे पता चलेगा कि एक ही वस्तु पर अनेक प्रकार के प्रयोग हो रहे है। यदि कोई एक अन्वेषणकार्य पूरा हो जाय तो उसके बाद उसके फलस्वरूप प्राप्त हुई चीज पर पुन अन्वेषण कार्य शुरू होता है और यही कार्यक्रम जारी रहता है। इन सभी अन्वेषणो के पीछे जो एक मुख्य बल कार्य कर रहा है वह यह है कि "जो कुछ भी प्राप्त हुआ है उससे भी विशेष और कुछ है।" अभी तक तो किसी वैज्ञानिक ने यह नही कहा कि जो कुछ खोज लिया गया है वह पूर्ण है और इससे अधिक या विशेष अब और कुछ नहीं है। यदि कोई यह कहे तो अन्वेषण कार्य की गति ही रुक जाएगी ।

अब इसमें समझने योग्य एक विशेष बात तो यह है कि वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ मे जो भी प्रयोग अथवा अन्वेषण कार्य हो रहे है उन सभी के पीछे सिर्फ आकाशकुसुमवत् कल्पना ही नही है। इन सब के पीछे 'कुछ' है। हम जो कुछ भी जानते हैं इससे विशेष 'कुछ' है इस प्रकार की श्रद्धा दृढ रूप से कार्य कर रही है। 'कुछ है' ऐसी यह श्रद्धा भला कैसे उत्पन्न हुई ?

इस बात पर हमे अधिक सोच-विचार करना होगा, इसमे कोई सन्देह नही। एक बात तो निश्चित है कि कही न कही से उसका उद्गम अवश्य हुआ होगा। इस से यह सिद्ध होता है कि 'जो न दिखता था न समझ मे आता था ऐसा 'कुछ' अस्तित्व मे अवश्य था' इन सभी सशोधन कार्यो के लिये जिस प्रेरणा की आवश्यकता है उसकी प्राप्ति हमे उपर्युक्त अस्तित्व सम्बन्धी श्रद्धा से ही हुई, यह मानना ही पडेगा।

इस श्रद्धा के बल पर प्रयोगशाला मे कार्य करने वाले वैज्ञानिको को प्रयोग करते समय 'तर्क का ही सहारा' लेना पडता है। झूठे तर्क पर आधारित कोई प्रयोग जब असफल हो जाता है तो फिर से नये तर्क की सहायता लेकर उन्हे अपना कार्य नये सिरे से पुन प्रारम्भ करना पडता है। और जब वे यह कार्य करते-करते अपने उस भौतिक क्षेत्र मे शुद्ध तर्क तक आ पहुँचते है तब उन्हे सिद्धि प्राप्त होती है।

यह तो हुई भौतिक विषय से सम्बन्धित बात। इसी तरह जीवन के समस्त क्षेत्रो मे, मनुष्य को शुद्ध तर्क का आश्रय लेना ही पडता है। अपने ही मन की प्रयगश द्वारा इस

शुद्ध तर्क को सिद्ध करना सभी लोगो के लिये सभव नही। इसलिये हमे उन्ही लोगो का आश्रय लेना होगा जिन्होने अपने समस्त पापो का क्षय करके, इस जगत और जगत के बाहर की तमाम भौतिक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक बातो को, केवल ज्ञान—Omniscience के द्वारा देखा है और जगत के सामने प्रस्तुत किया है। इन भगवन्तो द्वारा जो कुछ भी बाते कही गई है वे सभी सत्य है या नही इसे सिर्फ जिज्ञासावृत्ति से प्रेरित होकर समझने की कोशिश करे तो वह हमे आगे की ओर दूर-दूर कही अवश्य ले जायगी।

छोटे-से बालक को जब सर्व प्रथम स्कूल मे दाखिल किया जाता है तब उसे ('चौदह तिया बयालिस' नही मालूम होता) गणित का बिल्कुल ज्ञान नही होता। स्थापित गणितशास्त्र मे विश्वास रखकर, अनपढ माँ-बाप अपने बच्चे को स्कूल मे दाखिल करवा देते हैं। वहा पर शिक्षक बच्चे को जो कुछ भी याद करने के लिये कहता है, बच्चा ठीक उसी तरह याद करता है। 'पन्द्रह तिया पैतालीस' ऐसा जो पहले याद किया होता है उसका उसे शास्त्रीय ज्ञान नही होता। बाद मे जब उसकी बुद्धि का विकास होता है, वह जोड, और बाकी करना सीख लेता है, तब वह तीन बार पन्द्रह का जोड कर लेता है, और उसने पहले जो रटा था उसकी यथार्थता का अनुभव उसे तब होता है।

जहाँ तक तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध है, हम सब बालको जैसे है। प्रारम्भ से ही हम यदि श्रद्धापूर्वक रहना शुरू न करेगे तो

ज्ञान की यथार्थता का अनुभव भला हमे किस तरह से प्राप्त होगा ?

कोई व्यक्ति शायद यह प्रश्न पूछेगा कि ससार भर मे गणितशास्त्र तो सिर्फ एक ही है। लेकिन जहाँ तक तत्त्वज्ञान के विषय का सम्वन्ध है, ऐसे प्रश्न का उठना क्या सभव है ? यहाँ तो 'तीन कनौजिये, तेरह चूल्हे' वाला हिसाब है।

अच्छा तो इस वात को हमने स्वीकार कर लिया कि जगत मे तत्त्वज्ञान के कई प्रकार है। तो फिर हमे जैन तत्त्वज्ञान से ही क्यो प्रारभ करना चाहिये ? किसी और ही तत्त्वज्ञान से प्रारंभ क्यो न करे ? इस तरह के दूसरे प्रश्न का उठना स्वाभाविक है।

इसका जवाव हमे ठीक तरह से याद रख लेना चाहिये। जैन तत्त्वज्ञानियो का यह दावा है कि "जैन दर्शन ही एक ऐसा तत्त्वज्ञान है जिसमे भिन्न-भिन्न तमाम दृष्टिविन्दु इस तरह से सम्मिलित हो गये है जिस तरह से अनेक सरिताए सिन्धु मे।" इस तरह का दावा किसी और तत्त्वज्ञान ने किया हो ऐसा हमे याद नही। ऐसी परिस्थिति मे हम यदि जैन-तत्त्वज्ञान का ही अध्ययन शुरू कर दे तो उसमे आपत्ति की कौन-सी वात है ?

आज विज्ञापन का युग है। पेट मे उठे हुए दर्द को मिटाने के लिये, चमडी को स्वच्छ और मुलायम रखने के लिये किसी एक दवा या सावुन का ही विज्ञापन हम पढ ले। उस विज्ञापन मे, उसी चीज के वारे मे वडे-वडे दावे किये जाते है। इसी विज्ञापन को पढकर हम इनमे से कोई एक चीज खरीदकर लाते है या नही ? विज्ञापन मे जिन गुणो का वर्णन किया गया

हो वे सभी यथार्थ है या नही, इस बारे मे उस चीज का उपयोग किये विना क्या हम निर्णय कर सकते है ?

तो फिर जैन तत्त्वज्ञान के बारे मे उसके प्रणेताओ का जो दावा है उसकी यथार्थता का अनुभव प्राप्त करने के लिये एक अवसर उन्हे भी दिया जाय तो उसमे कौन-सी आपत्ति है ? यदि सही तौर पर देखा जाय तो वह अवसर हमे उन्हे देना नही है बल्कि प्राप्त करना है, उन्हे ऐसा अवसर प्रदान करने से आखिर मे फायदा तो हमे ही होनेवाला है, उन्हे नही। इसलिये यह तो हमारे ही लाभ की बात हुई । फिर भी फिलहाल उन्हे एक अवसर देना है ऐसा मानकर हम आगे चर्चा करे तो इसमे कोई आपत्ति नही। जैन तत्त्ववेत्तागण हमारा आभार अवश्य मानेगे।

जैन तत्त्वज्ञानियो का यह दृढ विश्वास है कि इस सर्वोच्च तत्त्वज्ञान को समझने की जिज्ञासावृत्ति एकबार भी जिनके मन मे जागृत होगी उनके सामने, इस तत्त्वज्ञान का सौदर्य और उसका सौरभ आप ही आप अपने बल से प्रकट हुए विना नही रह सकता।

इस बात को समझने के लिये, उस सम्बन्ध मे पूर्णतया अनुभव प्राप्त करने के जिन दुर्गुणो और दोषो का त्याग करने का पहले कहा गया है उनका आज इसी वक्त त्याग करने के लिए कोई आग्रह नही करता क्योकि यदि एक बार इस तत्त्वज्ञान की समझ शक्ति का विकास प्रारभ हुआ कि आप ही आप सभी दुर्गुण अपना बोरिया-बिस्तर लिये भाग-छूटने

की तैय्यारी करना शुरू कर देगे, ऐसी अटल श्रद्धा इस तत्त्वज्ञान के उपदेशको के हृदय मे है ।

फिर भी इस तत्त्वज्ञान का यदि लाभ उठाना हो तथा उसे ठीक तरह से समझना हो, तो एक छोटी-सी शर्त का पालन हमे अवश्य करना होगा । यह शर्त 'तटस्थता भाव' अपनाने की है । जो कुछ भी कहा जाय उसे तटस्थवृत्ति से पूरा समझने की हमे कोशिश करनी चाहिये । उसे आधे रास्ते पर या दो कदम चलने पर ही छोड न देना चाहिये ।

आपसे यही उम्मीद रखते हुए अब हम आगे चर्चा करेगे।

● ● ●

परिचय

पिछले प्रकरण मे 'तटस्थ' भावना अपनाने की जो बात बतलाई गई है उसके अनुसार अब आप तटस्थ भावना की स्थिति मे आ पहुँचे है। यह मानकर आगे चर्चा करे।

यहाँ पर इस बात का निर्णय कर लेना आवश्यक है कि आखिर हमे समझना क्या है ? अच्छा, एक प्रश्न ही पूछ ले। इस जगत मे क्या ऐसा भी कोई उपाय है जिसकी सहायता से मनुष्य की समझ-शक्ति, छोटे-बडे तमाम क्षेत्रो मे पूर्ण सत्य की खोज कर सके और उसे प्राप्त कर सके ?

जैन-दार्शनिको ने इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' मे दिया है। उन लोगो का यह दावा है कि सर्वज्ञ भगवतो ने इस समझ शक्ति को प्राप्त करने का जो मार्ग दिखाया है वह अपूर्व है, अद्भुत है और पूर्ण है।

यदि हम इस बात को ठीक तरह से समझना चाहते हैं तो जैन-धर्म और जैन तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित मुख्य-मुख्य बातो की एक सूची हमे देखनी होगी। महत्त्व की बातो पर एक विहगम दृष्टि डाल कर उनका परिचय हमे प्राप्त करना होगा। क्योंकि जो तरीका, जो पद्धति, जो गणित हमे देखना और समझना है, जो उसका मूल है, जो उसके मूलभूत सिद्धान्त एव आचरण है, उनका सक्षिप्त परिचय हो जाने से उस (तत्त्वज्ञान) को समझने मे हमे अधिक सुविधा होगी।

हाँ, तो अब हम यह परिचय प्राप्त कर ले ।

(१) 'जैन' का शाब्दिक अर्थ है 'जिन' के 'अनुयायी'। 'जिन' का अर्थ है मन, वाणी और शरीर पर विजय प्राप्त करके जिन्होने तीर्थंकर पद प्राप्त किया हो वे, तीर्थंकर का अर्थ है साधु, साध्वी, श्रावक-श्राविका-इन चारो के तीर्थ (समूह अर्थात् सघ) की जिन्होने स्थापना की हो वे। तीर्थंकर के लिये अर्हत्, अरिहत, सर्वज्ञ अथवा केवलज्ञानी ऐसे अन्य भी नाम हैं। अपने समग्र पापो का क्षय करके मोक्ष प्राप्ति से पहले, केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जो लोग जगत को सद्धर्म की पहचान करवाते है वे 'जिन' भगवान के नाम से पहचाने जाते हैं और उनके बतलाये हुए मार्ग पर चलने वाले लोग 'जैन' कहलाते हैं।

(२) 'जैन' शब्द किसी जाति या कौम का सूचक नही। वह तो धर्म का सूचक है। जैनधर्म का पालन करने के लिये किसी कौम या जाति का भेद नही रखा गया। जैनधर्म के आचारो का पालन करने वाला तथा उसके सिद्धान्तो को मानने वाला कोई भी व्यक्ति, फिर वह किसी भी कौम या जाति का हो, किसी भी देश का निवासी हो, 'जैन' नाम से पहचाना जाता है।

(३) जैनधर्म पूर्ण रूप से लोकशासनवादी धर्म इसलिये माना जाता है कि तीर्थंकरो ने जिसकी स्थापना की है वह 'सघ' एक सामूहिक सत्ता है, श्रावक-श्राविका, साधु और साध्वी इन चार विभागो के सुन्दर मिलन से बने हुए 'सघ' की शान और सत्ता इतनी विशाल है कि वह सर्वोपरि मानो

गई है। तीर्थंकर भगवत भी जब उपदेश देना आरम्भ करते है तब इस 'चतुर्विधि' सघ को पहले नमस्कार करते है। इसमे पूर्णतया लोकशासनवाद प्रतिष्ठित है। जैन धर्म मे 'स्त्री' और 'पुरुष' के बीच भी किसी प्रकार का भेदभाव नही रखा गया।

(४) जैसा कि कुछ पाश्चात्य विद्वान मानते है, जैनधर्म और जैन तत्त्वज्ञान सिर्फ ढाई हजार वर्ष से ही प्रचलित नही। जैनो के अतिम तीर्थंकर श्री महावीर के समय से ही जैन तत्त्वज्ञान अस्तित्व मे नही आया। श्री महावीर तो इस युग के अतिम-चौवीसवे तीर्थंकर थे। वर्तमान मुख्य काल-विभाग के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋपभदेव को हुए भी आज अगणित लाखो वर्ष बीत गये।

(५) श्री ऋषभदेव से लेकर श्री महावीर तक जो चौबीस तीर्थंकरो का काल-निर्गमन हुआ उससे भी पूर्व जैन धर्म का अस्तित्व था।

(६) जैन दार्शनिको ने काल-विभाजन करते समय उसके दो विभाग किये है। एक को उत्सर्पिणी तथा दूसरे को अवसर्पिणी नाम दिया गया है। ये दोनो मिल कर एक काल-चक्र पूरा होता है। ऐसे अनेक कालचक्र अनादि काल से चले आ रहे है, और अनन्त काल तक चलते रहेगे। काल-चक्र के ये दो विभाग-उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी भी अनादिकाल से चलते आये है और अनत काल तक चलेगे। इन दोनो को मिला कर एक कालचक्र वनता है, ऐसे अगणित-असख्य काल चक्र हो गये है, और होते रहेगे, इसकी कोई सीमा नही है।

प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल-विभाग मे

चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते चले आये है और होते ही रहेगे। आज हम वर्तमान काल-चक्र के अवसर्पिणी-विभाग मे है। काल के इन दोनो विभागो मे से भी प्रत्येक छ हिस्सो मे बाँटा गया है। इस हिस्से को 'आरा' नाम दिया गया है। आज हम वर्तमान अवसर्पिणी के पाचवे 'आरे' मे है।

अतीत मे हुये अनन्त कालचक्रो मे प्रत्येक उत्सर्पिणी और प्रत्येक अवसर्पिणी मे चौबीस-चौबीस तीर्थंकर हो गये, ऐसा समझा जाता है और इस क्रम को अनादि अनत माना जाता है, अर्थात् जैन लोग् अपने धर्म को भी अनादि, शाश्वत और निश्चल मानते है। ऐसे अनादि और अनत कालचक्रो की परम्परा की भाँति जैन धर्म भी अनादि है और अनन्तकाल तक रहेगा।

(७) इस विश्व या ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति या अत मे जैन तत्त्वज्ञान को विश्वास नही। जगत को अनादि-अनत माना गया है। जगत का न तो कोई प्रारम्भ है और न कोई अन्त ही। इसी तरह इस जगत का कर्ता कोई ईश्वर या ब्रह्म-तत्त्व है, इस मान्यता को जैन तत्व-ज्ञान स्वीकार नही करता। जिस तरह काल-चक्र अनादि है, ठीक इसी तरह जगत भी अनादि है और यदि उसे 'सादि' माना जाय और ईश्वर या ब्रह्मतत्व जैसे किसी को भी 'कर्ता' माना जाये तो फिर उस 'आदि' से पहले क्या था ? और उस 'कर्ता' का अस्तित्व कहाँ से आया ? ऐसे बहुत से प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते है। जगत के किसी भी अन्य तत्त्व-ज्ञान ने इन सभी प्रश्नो के जवाब सन्तोष-पूर्ण नही दिये, इसीलिये इस सम्बन्ध मे जैन दर्शन की मान्यता

सतर्क और युक्ति-सगत है ।

(८) जैन तत्त्वज्ञान ने इस जगत के आधार रूप छ द्रव्य बताये है । द्रव्य अर्थात् पदार्थ । ये छ द्रव्य निम्नलिखित है –

(क) धर्मास्तिकाय : यहाँ पर 'धर्म' शब्द का अर्थ 'गति मे सहायक द्रव्य' बतलाया गया है । यह धर्म-द्रव्य जगत मे जो कुछ भी गतिमय है उसकी गति मे सहायता पहुचाता है ।

(ख) अधर्मास्तिकाय इस 'अधर्म' शब्द को पढ कर घबरा जाने की कोई बात नही । यहाँ 'अधर्म' का अर्थ होता है 'अगति', हम उसे 'स्थिति' कहेगे । जिस तरह कोई गति-सहायक धर्म पदार्थ है ठीक उसी तरह स्थिति मे सहायता देने के लिये भी कोई एक द्रव्य चाहिए । और यह दूसरा 'अधर्म द्रव्य' अथवा स्थिति मे सहायक द्रव्य है । घूमना-फिरना (गतिमय होना) और स्थित होना इसमे जीव और जड पदार्थ स्वय स्वतन्त्र कर्ता है । लेकिन उनकी गति मे और स्थिति मे सहायक बनने वाले पदार्थो का होना आवश्यक है । इस बात को अब आधुनिक वैज्ञानिक लोग भी स्वीकार करने लगे है । जैन दार्शनिको ने इसके लिये 'धर्म' और 'अधर्म' नाम के दो पदार्थ अनादिकाल से बताये है ।

(ग) आकाशास्तिकाय : कोई ऐसा भी द्रव्य होना चाहिए जिसमे दूसरे सभी द्रव्यो को समा लेने की, सम्हालने की तथा अवकाश देने की शक्ति हो । और वह द्रव्य है 'आकाश द्रव्य' । यह आकाश, तो अब सर्वस्वीकृत और सर्वमान्य पदार्थ है । दिशाओ का समावेश भी आकाश मे हो जाता है । इस द्रव्य के दो विभाग है—(१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश ।

(घ) पुदगलास्तिकाय . 'पूर' और 'गल्' इन दो धातुओ के मिलन से 'पुद्गल' शब्द की उत्पत्ति हुई। 'पूरण' और 'गलन' का अर्थ है मिलना और अलग होना—जुड जाना और गिर पडना। जिसका स्वभाव इस तरह का हो उसके लिये 'पुद्गल' शब्द का प्रयोग किया गया है। पुद्गल का 'मिलने' और अलग होने का कार्य दो प्रकार से होता है—एक तो जीव की सहायता से और दूसरा अपने आप। इस चराचर विश्व की समग जड रचनाएँ जीव की सहायता से अथवा अपने आप मिल कर फिर अलग होते हुए इस पुद्गल पदार्थ के कारण ही होती है और होती रहेगी।

(च) जीवास्तिकाय जो जड नही है उसे चैतन्यशाली चेतन माना गया है। यह चैतन्यशाली चेतन भी एक द्रव्य-पदार्थ है जिसे हम आत्म-द्रव्य के नाम से जान सकते है।

(छ) काल छट्ठे द्रव्य का नाम है 'काल'। इस 'काल' द्रव्य का अर्थात् समय द्रव्य का भी अपना स्वतत्र अस्तित्व रहता है। जैन द्रष्टाओ ने इसे भी एक जड द्रव्य माना है।

विश्व की समग्र रचनाएँ उपरोक्त छ द्रव्यो मे ही समा जाती हैं। जीव रूप चेतन द्रव्य, पुद्गल रूप जड-द्रव्य (शरीर) से मिलकर, आकाश द्रव्य-रूपी स्थल मे, 'धर्म' द्रव्य और 'अधर्म' द्रव्य की सहायता से 'गति' और 'स्थिति काल द्रव्य को साथ लेकर करता है।

जन तत्त्वज्ञान के अनुसार विश्व-रचना किस प्रकार हुई, इस सम्बन्ध मे हमने चर्चा की है। यहाँ पर इस बात का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि 'धर्म', 'अधर्म' 'आकाश'

पुद्गल और जीव के साथ ही जो अस्तिकाय शब्द जोड दिया गया है वह सहेतुक है। 'अस्ति' अर्थात् प्रदेश और 'काय' अर्थात् समूह। इन पाँचो द्रव्यो के असख्य या अनन्त प्रदेश और समूह माने गये हैं। इसीलिये 'अस्तिकाय' शब्द जोडा गया है। जब कि काल द्रव्य का कोई प्रदेश न होने के कारण उसके साथ यह शब्द नही जोडा गया।

(६) उपरोक्त छ द्रव्यो के आधार पर ही जैन-दार्शनिकों द्वारा मुक्ति-मार्ग मे उपयोगी नौ तत्वो के ज्ञान का निरूपण किया गया है। ये नौ तत्त्व निम्नलिखित है—

(१) जीव —चैतन्यशाली चेतन। जीव द्रव्य के आधार पर इसका निरूपण किया गया है।

(२) अजीव —चैतन्यरहित जड पदार्थ। इसमे धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल का समावेश हो जाता है।

(३) पुण्य —अच्छे और शुभ कर्म।

(४) पाप —बुरे कर्म।

(५) आस्रव —आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध होने का मार्ग।

(६) सवर —जिसके द्वारा कर्म बन्धन होने से रोक दिया जाय। आत्मा मे प्रवेश करते हुए कर्मो को रोकने की आत्मा द्वारा सचालित क्रिया।

(७) निर्जरा —कर्म का क्षय। इस क्षय के दो प्रकार है—(१) 'सकाम निर्जरा' अर्थात् तपश्चर्या आदि साधनो द्वारा कर्मो का क्षय किया जाता है। (२) 'अकाम निर्जरा'

अर्थात् वे कर्म भुगत लिये जाने पर समय पूरा होते ही-अपने आप दूर हो जाते हैं।

(८) वध —जिस तरह दूध मे पानी मिल जाता है उसी तरह कर्म का आत्मा के साथ संबध स्थापित हो जाय, वह वन्धन।

(९) मोक्ष.—सभी कर्मों के क्षय के कारण आत्मा की मुक्ति। जैन दार्शनिको ने छ द्रव्यो की भाँति इन नौ तत्त्वो का अति सूक्ष्म अवलोकन किया है। यहाँ तो उनकी अत्यन्त सक्षिप्त व्याख्या दी गई है। यदि आपको इस विषय में दिलचस्पी हो तो उस विषय से सम्बन्धित सभी ग्रन्थो को स्वय पढ लेना चाहिए अथवा तज्ज्ञ (विशेषज्ञ) पुरुषो की मदद से उन्हे समझ लेना चाहिए।

(१०) उपर्युक्त छ द्रव्य तथा नौ तत्त्वो के सयोग-प्रयोजन से इस अनादिकाल से चली आती हुई विश्वरचना मे जो कुछ भी होता है उसमे जैन दार्शनिको ने पाँच कारण प्रयोजक रूप वतलाये है। ये पाँच कारण निम्नानुसार है—

(क) काल.—इस 'काल' कारण से हमे 'वस्तु अथवा कार्य का परिपक्व या अपरिपक्व समय' ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

(ख) स्वभाव —यहाँ पर 'स्व-भाव' ऐसी व्युत्पत्ति है। अर्थात् मनुष्य या जानवर का स्वभाव नही वल्कि प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव, जिसे हम 'सहज-धर्म' नाम से भी पहचान सकते है।

(ग) भवितव्यता.—इसका दूसरा नाम नियति भी है।

इसका अर्थ 'कर्म द्वारा बना हुआ प्रारब्ध' नही होता। यह तो एक अनादि-अनत और स्वतत्र कारण है।

(घ) प्रारब्ध —इसका दूसरा नाम 'कर्म' भी है। व्यक्ति-गत-तथा सामुदायिक कर्मो द्वारा जो बनता है सो प्रारब्ध।

(च) पुरुषार्थ —इसका दूसरा नाम 'उद्यम' भी है। जीव-चैतन्य जो उद्यम अथवा पुरुषार्थ करता है सो।

जैन तत्त्वज्ञान यह मानता है कि जब तक ये पाँचो कारण इकट्ठे नही होते तब तक कुछ भी कार्य नही होता। इस विषय मे विशेष चर्चा हम आगे चल कर करेगे। यहाँ तो केवल सक्षिप्त व्याख्या ही दी गयी है।

(११) यह सब, अर्थात् जो कुछ भी ऊपर बतलाया गया है वह तथा दूसरी अनेक बाते समझने के लिये जिस ज्ञान की आवश्यकता है उसे जैन-दार्शनिको द्वारा पाँच विभागो मे बाँटा गया है। उनके निम्नलिखित पाँच अलग-अलग नाम दिये गये है।

(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान (४) मन पर्यवज्ञान (५) केवलज्ञान।

इस पाँच प्रकार के ज्ञान के सम्बन्ध मे साधारणतया विशेष जानकारी आगे के पृष्ठो मे उचित स्थान पर हम प्राप्त करगे।

(१२) उपरिनिर्दिष्ट ज्ञान वास्तव मे ज्ञान ही है, अज्ञान नही, यह प्रमाणित करने के लिये तथा उसे समझने-समझाने के लिये जैन-शास्त्रज्ञो ने प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण बतलाये है। प्रमाण से तात्पर्य है आधार, सबूत। यहाँ पर प्रत्यक्ष प्रमाण के साव्यवहारिक और पारमार्थिक दो विभाग है। जब

कि परोक्ष प्रमाण के अनुमान, उपमान और आगम अथवा श्रुतप्रमाण, इस प्रकार तीन भेद है। इस विपय की अधिक जानकारी आगे चलकर दी जाएगी।

(१३) ऊपर जो प्रमाण बताये गये है, उन प्रमाणो द्वारा वस्तु का निर्णय करने के लिये जैन दार्शनिको ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नामके चार साधन बतलाये है। उन्हे हम चार आधार भी कह सकेंगे। इन चारो के लिए 'चतुष्टय' नाम दिया गया है। इन्हे प्रमाण मे ज्ञेय चीज के विभाग 'निक्षेप' भी कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु का निर्णय करते समय इस 'चतुष्टय' की अपेक्षा का अधिक महत्व रहता है। इसके भी 'स्व-चतुष्टय' और 'परचतुष्टय' नाम के दो विभाग है। इनके बारे मे कुछ अधिक जानकारी आगे के पृष्ठों मे प्राप्त होगी।

(१४) ऊपर बताये गये तथा अन्य विपयो की जानकारी जिसमे दी गयी है वह तत्त्वज्ञान जैन दार्शनिको मे अनेकातवाद, स्याद्वाद तथा सापेक्षवाद आदि नामो से पहचाना जाता है। यह तत्त्वज्ञान सर्वज्ञ भगवतो द्वारा प्रदान किया गया है।

(१५) स्याद्वाद तत्त्वज्ञान को समझने के लिये जो पद्धति बनाई गयी है उसे 'नय' नाम से पहचाना जाता है। इस 'नय' शब्द को हम 'अपेक्षा के कारण प्राप्त वस्तु का ज्ञान Relative Knowledge इस अर्थ मे लेगे। इस 'नय' के भी दो मुख्य विभाग हैं:—

(क) द्रव्यार्थिकः—अर्थात् वस्तु के साधारण रूप की जो जानकारी दे (General)।

(ख) पर्यायार्थिक.—वस्तु के विशेष रूप की जो जानकारी दे (Specific)।

'नय' के सात नाम (भेद) इस प्रकार है—

(१) नैगम।

(२) सग्रह।

(३) व्यवहार।

(४) ऋजुसूत्र।

(५) शब्द।

(६) समभिरूढ।

(७) एवभूत।

उपरोक्त सात मे से प्रथम तीन द्रव्यार्थिक-विभाग मे आते है और बाकी के चार 'नय' पर्यायार्थिक विभाग मे आते है। इन सातो के विषय मे अधिक विचार आगे करेगे। ये सातो नय तत्त्वज्ञान को ठीक तरह से समझने के लिये है। धर्म के आचरण के लिये जैन तत्त्ववेत्ताओ ने 'नय' को दो-विभागो मे बाँट दिया है—

(१) निश्चय नय।

(२) व्यवहार नय।

यहाँ पर 'निश्चय' का अर्थ मूलभूत सिद्धान्त, ध्येय अथवा एक और अबाधित सत्य, इस प्रकार किया गया है! लेकिन 'व्यवहार' मे प्रत्यक्ष रूप से जिसमे सिद्धान्त का दर्शन न हो, फिर भी उस सिद्धान्त की पूर्ति के लिये व्यवहार मे आचरण करते समय जो उपयोगी सिद्ध हो, ऐसे विषयो को सम्मिलित किया गया है। मूल सिद्धान्त का बाधक, विरोधी या उन्मूलक

हो ऐसे व्यवहार का, आचरण का इसमे समावेश नही होता।

उपरोक्त सात 'नय' मे साधारण और विशेष ये दो बाते द्रव्यार्थिक-तथा पर्यायार्थिक विभाग मे बतलाई गई है, उसमे जैन-तत्त्वज्ञानियो ने विशेष बल देकर याद रखने योग्य जो बात कही है वह यह है कि—

"विशेष से रहित साधारण और साधारण से रहित विशेष ऐसी किसी भी वस्तु का इस जगत मे अस्तित्व नही है।"

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि ऊपर जो सातो नय बताये गये हैं उन्हे अलग अलग या व्यक्तिगत तौर पर समझ लेने के बाद भी उन्हे एक ही समूह मे गिनना होगा। नय का यह विषय अत्यन्त रसप्रद और समझने योग्य है। इस बारे मे विस्तृत चर्चा हम आगे उचित स्थान पर करेगे।

(१६) जैन दार्शनिको ने एक ऐसा कोष्टक भी तैयार किया है, जिसकी सहायता से ऊपर जिन विषयो का उल्लेख किया गया है, उन्हे तथा दूसरे विषयो को हम अच्छी तरह समझ सके। उन्होने इसे 'सप्तभंगी' नाम दिया है। इसी सप्तभंगी मे स्याद्‌वाद के तत्त्वज्ञान का रहस्य छिपा हुआ है। इस सप्तभगी को देखकर बहुत से लोग भडक जाते है क्योकि पहली बार देखने पर तो उसमे परस्पर विरोधी बाते ही दिखाई देती है। जिन्हे वस्तु के विज्ञान की समझ या ज्ञान नही है ऐसे लोग इस सप्तभगी मे प्रयुक्त शब्दावलि को देखकर उलझन मे फँस जाते है। जैन तत्त्ववेत्ताओ ने एक अति महत्त्व की बात कही है जिससे इस विषय को हम अच्छी तरह से

समझ सके। इस बात को ध्यान मे रखकर 'सप्तभगी' को समझने की यदि हम कोशिश करे तो कोई दिक्कत न होगी।

"प्रत्येक वस्तु 'अनेकधर्मात्मक' है।" यहाँ पर अनेक-धर्मात्मक' का अर्थ है "प्रत्येक वस्तु के एक नही, बल्कि अनेक पहलू होते हैं।" इससे भी एक विशेष याद रखने तथा समझने योग्य बात यह है कि "इन अनेक धर्मो मे परस्पर विरोधी गुण धर्म भी होते हैं।"

इस विषय मे विशेष जानकारी हम आगे प्राप्त करेगे। इस समय तो जिस 'सप्तभगी' का उल्लेख किया गया है उसका ही निरूपण करेगे।

(१) अस्ति अर्थात् 'है'।

(२) नास्ति अर्थात् 'नही है'।

(३) अस्ति नास्ति। अर्थात् 'है' और 'नही है'।

(४) अवक्तव्यम् अर्थात् (शब्दो द्वारा) जिसका वर्णन न किया जा सके।

(५) अस्ति अवक्तव्यम् · अर्थात् 'है लेकिन अवर्णनीय है'।

(६) नास्ति अवक्तव्यम् अर्थात् 'नही है, लेकिन अवर्णनीय है'।

(७) अस्ति नास्ति अवक्तव्यम् अर्थात् 'है और नही है, लेकिन अवर्णनीय है।

ऊपर बतलाये गये इन सात पदो मे 'स्यात' और 'एव' ऐसे दो शब्द प्रत्येक के आगे पीछे लगाये जाते है। इन दो शब्दो का अर्थ "(स्यात्) एक विशेष प्रकार से, (एव) निश्चित" होता है। इस विषय की अधिक चर्चा हम एक विशेष प्रकरण

मे उचित स्थान पर आगे करेगे। यहाँ तो केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि ये सब बाते सत्य और स्पष्ट है। इनमें गडबड या अस्पष्टता को कोई स्थान नही। इनमे से प्रत्येक का निश्चित और स्पष्ट अर्थ होता है।

(१७) वेदान्त और दूसरे दर्शनो ने इस विश्व-रचना को 'उत्पत्ति, स्थिति एव लय' नाम के तीन विभागो मे बाँटा है। जब कि जैन दार्शनिको ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ऐसी तीन परस्पर सम्मिलित अवस्थाएँ बताई है। इस बारे मे अधिक जानकारी हम आगे प्राप्त करेगे।

(१८) जीव अर्थात् आत्मा को, जैन दर्शन ने एक स्वतत्र व्यक्तित्व प्रदान किया है। अनादिकाल से प्रत्येक आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व था और अनतकाल तक रहेगा। लेकिन वह आत्मा जब सभी प्रकार के कर्मो से मुक्त हो जाएगा तभी उसे मोक्ष प्राप्त होगा। तात्पर्य यह है कि वहाँ मोक्ष मे भी उसका स्वतत्र अस्तित्व तो रहेगा ही ऐसा माना गया है। यह अस्तित्व निर्मल, शुद्ध, ज्ञान-स्वरूप और पुनर्जन्म से मुक्त माना गया है।

(१९) जगत की विधायक शक्तियो मे से जैन तत्त्वज्ञान ने कर्मशक्ति को ही प्रधानता दी है। उसके सामने एक आत्मशक्ति है, लेकिन चूँकि ससार मे बसा हुआ आत्मा कर्म के बन्धन से जकडा हुआ है इसलिये वह स्वरूप मे शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध है ऐसा समझा गया है। इस आत्मशक्ति और कर्मशक्ति के बीच अनादिकाल से जो सघर्ष चल रहा है उस सघर्ष मे आत्मा की समग्र प्रवृत्ति का ध्येय, कर्म-शक्ति के

प्राबल्य को तोडकर अर्थात् अपने साथ चिपके हुए तमाम पुद्गलो को झाडकर अपने मूल एव शुद्ध स्वरूप को प्रकट करना है।

(२०) ऊपर बताये गये ध्येय की सिद्धि के लिये जैन तत्त्वज्ञान ने सूत्र को हमारे सामने रखा है—'ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष'। इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि 'ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया द्वारा मोक्ष' यह एक अनुपम और अद्वितीय सूत्र है। यहाँ पर क्रिया शब्द का अर्थ सिर्फ क्रियाकाड ही नही होता बल्कि उसका अर्थ है 'प्रवृत्ति' अथवा 'पुरुषार्थ'। इसमे उन्होने दो प्रकार की क्रियाए बताई है। एक को 'द्रव्यक्रिया' और दूसरी को 'भावक्रिया' कहते है। ये दोनो क्रियाएँ एक दूसरे से स्वतत्र नही, बल्कि एक दूसरे की पूरक है।

(२१) यह क्रिया अहिसा के सिद्धान्त पर आधारित है। अहिसा शब्द का अर्थ बडा विशाल है। 'अहिसा' को इतना अधिक और विशेष महत्त्व दिया गया है कि धर्म की एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या के लिये 'अहिंसा परमो धर्म' (अहिंसा परम धर्म) ऐसा कहा गया है।

(२२) जैन तत्त्ववेत्तागण यह बात भार पूर्वक कहते आये है कि —

ससार मे जन्म लेते हुए, मृत्यु पाते हुए, पुन पुन जन्म-मरण के चक्कर मे फँसनेवाले आत्मा की तमाम प्रवृत्तियो का ध्येय 'मोक्षमार्ग की ओर प्रगति करना' है। अधर्माचरण द्वारा अवनति होती है जबकि धर्माचरण द्वारा उन्नति होती है, यह बात सर्वविदित है। आत्मा की उन्नति और मोक्षप्राप्ति के

हेतु जीव मात्र के लिये जो धर्माचरण-धर्म बतलाये गये है उन्हे जैन शास्त्रकारो ने दो विभागो मे बाँटा है.—

१—सर्व विरति-साधुधर्म

२—देश विरति-गृहस्थ धर्म

जैन तत्त्वविशारदो ने इन दोनो प्रकार के आचरण मार्गों का अधिक गहराई मे जाकर वर्णन किया है। गृहस्थ के लिये जैन धर्म मे "श्रावक" शब्द का प्रयोग किया गया है। इन दोनो धर्मो का अपना-अपना विशिष्ट स्थान एव महत्व है।

(२३) समस्त जैन सघ 'नमस्कार महामत्र' के नाम से परिचित मत्र की अत्यन्त भावपूर्वक आराधना करता है। सकल शास्त्रो के साररूप माने हुए इस महामत्र मे भक्ति, साधना और आत्मविकास मे अचित्य फल प्रकट करने की शक्ति छिपी हुई है।

जैन तत्वज्ञान और धर्म की खास खास और महत्व की बातो का एक छोटा-सा सूचिपत्र ऊपर दिया गया है। इतना सक्षिप्त परिचय प्राप्त कर के अब हम आगे जो कुछ भी देखेगे या सोचेगे उसे समझने मे अधिक सरलता होगी।

जीवन के सभी क्षेत्रो मे, छोटे बडे सभी प्रश्नो मे हमे सच्ची जानकारी दे सके ऐसी रीति या पद्धति—जिसे हमने 'स्याद्वाद पद्धति' नाम दिया है—पर सोच विचार करने से पहले हम 'धर्म और तत्वज्ञान' के विषय मे थोडा सा विचार कर ले तो इस पद्धति को हृदयगम करने मे हमे बडी सहायता मिलेगी। तो चलिये, अब हम 'धर्म और तत्त्वज्ञान' के विषय में साधारण जानकारी प्राप्त कर लें।

●●●

धर्म और तत्त्वज्ञान

'धर्म क्या है ? तत्त्वज्ञान क्या है ? अिन दोनो के वीच क्या कुछ भेद है ? और यदि है तो कौन-सा है ? अिन दोनो को उत्पत्ति कहाँ से हुई ? कब हुई ? इन दोनो का मनुष्य-जाति पर कैसा और कितना प्रभाव पडा है ? इन दोनो के वीच क्या सम्बन्ध है ? दोनो एक दूसरे पर आधारित है या स्वतत्र है ?

जब हम धर्म और तत्त्वज्ञान के बारे मे सोच विचार करेगे तब हमारे मन मे उपरोक्त प्रश्न अवश्य उपस्थित होगे।

सबसे पहले हम उसकी एक साधारण व्याख्या कर ले।

धर्म आचार बताता है और तत्वज्ञान का विचारो के साथ सम्बन्ध है। फिर भी ये दोनो परस्पर सबधित हैं। इन दोनो का महत्व एक समान है।

धर्म और तत्त्वज्ञान की इतनी सक्षिप्त व्याख्या कर के अब हम आगे बढे।

अिस बात को तो सभी लोग स्वीकार करेगे कि अच्छे विचार बिना अच्छे आचार (वर्ताव अथवा आचरण) सभव नही। उसी तरह अच्छे आचरण के विना अच्छे विचारो का मन मे उठना असभव ही है।

अिसमे, सबसे पहले हम वर्ताव पर ही विचार करगे मनुष्य का वर्ताव हमेशा किसी विचार द्वारा हो

प्रेरित नही होता । अनेक बार वह Instinctive अर्थात् किसी वृत्ति से प्रेरित होकर और Impulsive अर्थात् किसी उत्तेजना से प्रेरित होकर, कुछ न कुछ आचरण कर ही लेता है । जिस मनुष्य मे विचार करने की आदत नही है वह वहुत बार विचारहीन कहा जाने वाला कार्य कर वैठता है । और यदि उस कार्य का अपेक्षित या शुभ परिणाम निकले तो फिर अपने इस कार्य के लिये विचार करने की उसे कोई आवश्यकता ही नही रहती । लेकिन यदि कही विपरीत परिणाम निकले, पश्चात्ताप करने या दुखी होने का समय आ जाय, तव अधिकतर वह अपनी विचारशक्ति का प्रयोग करता है ।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य अपेक्षित या शुभ फल की प्राप्ति के लिये किसी भी आचरण पर विचार की-पूर्व विचार की आवश्यकता समझता है । वैसे ही, अच्छे आचरण रखने वाले मनुष्य के लिये भी वह आवश्यक वन जाता है । क्योकि, अच्छा वर्ताव करने वाले मनुष्य के विचार यदि अच्छे न हो तो समय वीतने पर उसका वर्ताव भी विगडने लगता है । और आखिर मे वह दुराचारी वन जाता है ।

दूसरी ओर एक ऐसे मनुष्य की कल्पना करें जो निरतर शुभ विचार ही करते हुए भी वासनाओ के शिकजे से छूटने मे असमर्थ होने के कारण वह अपना व्यवहार उल्टा ही करता है और दुराचार को अपनाता रहता है । लेकिन जव तक उसके विचार अच्छे रहेगे तव तक अपने दुराचार के प्रति उसका जागृत रहना तथा बुरी आदतो, दुर्वलताओ से

अपने आपको मुक्त करने के लिये सतत् चितनशील तथा प्रयत्नशील रहना सभव है।

इस पर से यह न माने कि आचार की अपेक्षा विचार का महत्त्व अधिक है। जिस तरह अच्छे विचार वर्ताव सुधार सकते है ठीक उसी तरह अच्छे आचार भी विचार को उच्च स्तर पर ले जा सकते हैं। उसी न्याय से, जिस तरह बुरे विचार वर्ताव को बिगाड देते हैं उसी तरह बुरे आचार विचारो को भी अध.पतन की ओर ले जाते हैं। इसलिये इन दोनो के बीच के आपसी सम्बन्धो का एक समान महत्व है।

अब एक ऐसे मनुष्य का विचार कीजिये जो किसी देव को प्रसन्न करने की सोचना रहता है लेकिन उसका हेतु, सासारिक, भौतिक सुखो को प्राप्त करने का होता है। किसी ने उससे कहा कि मनुष्य का बलिदान करने से अमुक देव प्रसन्न होकर हमारे मन की इच्छा पूरी करते हैं। स्वार्थ से अन्धा बना हुआ वह मनुष्य सोच विचार किये बिना ही इस बात को स्वीकार कर लेता है और उसके मुताबिक वर्ताव करना आरभ कर देता है। आज के जागृत और सुसस्कृत कहलाने वाले युग मे भी ऐसी बातो का होना असभव नही। बालक की-सतान प्राप्ति की—इच्छा वाले माँ-बाप, दूसरो के बालको को मार डालते हैं ऐसी बाते आज भी समाचार-पत्रो मे और न्याय की अदालतो मे हमे पढने या सुनने को मिलती हैं।

इस तरह आचारभ्रष्ट होने वाले मानव की क्या दशा होगी ? ऐसे लोगो के लिये शराबी, मासाहारी, जुआरी, चोर

और अपराधी बनने का मार्ग शीघ्रता से खुल जाता है। और स्वार्थ-विवश व्यक्तियो को, आचारभ्रष्ट होने के कारण क्या बुरा परिणाम होगा, इसका ख्याल कदाचित ही आता है।

कुछ मध्यम कक्षा की बात करें तो प्राय यह देखा गया है कि समाज के उच्च वर्ग के प्रतिष्ठित लोग भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये किसी 'साहब' को रिश्वत, या अन्य मार्ग से खुश करने की कोशिश करते ही रहते है। यदि हमने विवेक खो दिया तो उसका क्या नतीजा आवेगा इस विषय में लोग कदाचित् ही विचार करते हैं।

इस विषय मे श्री भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक के एक श्लोक मे गगा नदी का जो उदाहरण दिया है वह वास्तव में समझने योग्य है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है—

"स्वर्ग से पतित हो, शिव जटा स्पर्श कर के,
पर्वत से भूमि पर गिर, म्लान बन के,
गगा चली खार जल-सिधु मे यथा,
विवेक खोने से पतन होता सर्वथा।"

इस एक उदाहरण द्वारा अमर योगीन्द्र भर्तृहरिजी ने कितने महत्व की बात कह दी है? गगा नदी का स्वर्ग से अवतरण तो एक रूपक की तरह से प्रस्तुत किया गया है लेकिन आचारभ्रष्ट मनुष्यो का कितना बडा समूह हमारे यहाँ देखने को मिलता है।

अब हम एक दूसरे प्रकार के मनुष्य की कल्पना करे। विचार का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह मनुष्य पूर्णतया 'अहिसा'

का पुजारी है। लेकिन मनोवल के अभाव के कारण वह अहिंसक वर्ताव को अपने जीवन मे स्थान नही दे सकता। फिर भी अच्छे विचारो की सहायता से, वह अपने आचरण के प्रति पूरा जागृत रह सकेगा। और यदि वह हिंसा करेगा तो इसका उसके हृदय को दुःख तो अवश्य होगा।

अब एक और वात ले। जव हम अच्छे विचार और अच्छे वर्ताव की वाते करते है तव उस 'अच्छे' शब्द का अर्थ क्या है ? हमे जो अच्छा लगे वह ? नही, हमारी वृत्तियो को सन्तोष प्राप्त हो और इन्द्रियो को आनन्द मिले ऐसे सभी कार्य हमे अच्छे लगेगे ही, यह वात सभी समझ सकते है। हमे जो कुछ भी अच्छा महसूस हो उस सव का आचरण करना यदि शुरू कर दे तो उसके फल स्वरूप दुःख के गर्त मे ही गिरने का समय आवेगा।

यहाँ पर हमे इस निर्णय पर आना होगा कि 'अच्छा' माने 'सत्य' लेकिन फिर एक प्रश्न उठेगा कि 'सत्य किसे कहे' 'यह सत्य' क्या है उसका निर्णय करने की जिम्मेदारी यदि हम अपने कन्धो पर ले ले तो फलस्वरूप हम उलझन मे फँस जाएँगे। क्यो कि हमारी स्वार्थ वृत्तियाँ और अधूरी समझ तथा सीमित बुद्धि फिर एक वार हमारे मार्ग मे वाधा रूप सिद्ध होगा।

इसलिये यहाँ पर, तत्त्वज्ञान की आवश्यकता का प्रश्न उपस्थित होता है। किसी एक सुनिश्चित तत्त्वज्ञान का आश्रय लेने की आवश्यकता और उपयोगिता अव हमारी समझ मे आये विना नही रह सकती।

वाद मे यह प्रश्न उठेगा कि किस तत्त्वज्ञान का आश्रय लिया जाय ?

यो देखा जाय तो, जगत् के सभी तत्त्वज्ञान मनुष्य को अच्छे विचार प्रदान करते है। सद्व्यवहार के लिये शुभ विचारो की जो आवश्यकता है उसकी पूर्ति सभी तत्त्ववेत्ताओ ने की है। स्वाभाविक तौर पर अब यह प्रश्न उपस्थित होगा कि ऐसी परिस्थिति मे हमे कौन सा तत्त्वज्ञान अपनाना चाहिये ?

एक धोती का जोडा या साडी खरीदने के लिये हम वाजार जाते है। वहाँ जाकर ट्यूब लाइटो की रोशनी से जगमगाती हुई एक दूकान के भीतर हम प्रविष्ट होते है। व्यापारी हमे धोती और साड़ी दिखाता है।

आँखो को चकाचौध कर देने वाली उस रोशनी मे, वह व्यापारी हमे जो कुछ भी वताता है, वह सब हमे अच्छा ही दिखाई देता है। लेकिन क्या यह सब कुछ सचमुच ही अच्छा होता है ? इस तरह आकर्पित होकर क्या हम खरीद लेते है ?

कदापि नही। हम कपडे की जात को देखेगे। रग कच्चा है या पक्का, इसकी पहचान करेगे, जिन रेशो का वह वना हुआ है उनकी जाच करेगे, उसकी सफाई देखेगे, यह भी देखेगे कि यह माल किस मिल मे वना हुआ है, उसके मूल्य पर विचार करेगे और आखिर मे, वेचनेवाला व्यापारी ईमानदार है या नही उस पर भी विचार करेगे। इस तरह सात प्रकार के विचार करने के पश्चात् कौन-सा माल खरीदना है उसका हम निर्णय करेगे।

इस समय इन सातो विचारो से घिरे हुए मन को यदि मालूम हो कि इस जगत् मे सात भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार करने की समझ देने वाली पद्धति से युक्त एक तत्वज्ञान भी मौजूद है तो उसे कितना आनन्द होगा ?

जेन दार्शनिको द्वारा ऐसे ही एक विशिष्ट तत्वज्ञान की भेट जगत् को अर्पित की गई है जो 'अनेकातवाद' के नाम से विख्यात है।

बाजार से एक साधारण चीज खरीदते समय हम यह जानते है कि किसी एक विशेष बात को ध्यान मे रखकर, जैसे कि उसके बाह्य-सौदर्य पर आकर्षित होकर खरीदेगे तो अवश्य ही ठगे जाएँगे।

तत्वज्ञान के बारे मे ठीक ऐसा ही विचार करना क्या आवश्यक नही ? जिस पर हमारे जीवन का, जीवन के विकास का, जिन्दगी के सुख और सन्तोष का आधार है उस तत्वज्ञान को चुनते समय हम भला असावधान कैसे रह सकते है ?

भारत मे, पूर्व के देशो मे तथा पाश्चात्य देशो मे धर्म और तत्वज्ञान के बारे मे जो परिस्थिति आज विद्यमान है उससे सभी परिचित है। पाश्चात्य देश भोतिकवादी है। भौतिक सुख और भौतिक विकास की ही वे सदैव इच्छा करने वाले है। अपने पेगबरो द्वारा बताये गये धर्म भी उनके पास है और उन्होने अपना एक तत्वज्ञान भी बनाया है। लेकिन, यह सब भौतिक और सासारिक सुखो के चारो ओर ही घूमता रहता है।

इनके सभी आचरण, मुख्यत ऐहिक सुखो को ध्यान मे

रखकर ही होते हैं। कुछ लोग तत्वज्ञान के प्रति आकर्षित होते हैं, लेकिन इसके पीछे अधिकतर सिर्फ कुतूहल की ही दृष्टि होती है। ये लोग 'जानने' के उद्देश्य से ही उसका अध्ययन करते हैं, आचरण करने के लिए शायद ही करते हों। यदि हम यह कहें कि पाश्चात्य देशों में आत्मविकास के लिये, आध्यात्मिक क्षेत्र में उपयोगी हो ऐसे तत्वज्ञान का संशोधन करने के विचार किसी के भी दिमाग में पैदा नहीं हुए हैं, तो यह गलत न होगा। अधिकांश में यह बात सही है। इसका मुख्य कारण तो यह है कि उनके यहाँ 'शरीर से अलग आत्मतत्व' की मान्यता ही नहीं है।

मानव-मानव के बीच मेलजोल, सद्भाव और व्यवहार की आवश्यकता है, इस बात को तो पाश्चात्य देशों के लोगों ने भी स्वीकार किया है। लेकिन उनका हेतु सिर्फ ऐहिक सुख-साधनों की वृद्धि करने तक ही सीमित रहा है। पाश्चात्य देशों में किसी के मन में आत्मविकास के लिये आवश्यक तत्त्वज्ञान को संशोधन करने का विचार अभी तक नहीं आया। इसीलिये वे तत्त्वज्ञान के पूर्ण विकास की छाया से वंचित रहे हैं।

इसके विपरीत भारत में, 'धर्म' और 'तत्त्वज्ञान' आत्म विकास के साधन माने गये हैं। और इसी दृष्टि से उनका विकास हुआ है। दोनों एक दूसरे के पूरक बन कर रहे हैं। न जाने प्रकृति की कौन सी ऐसी सांकेतिक लीला है जिसके कारण एशिया खंड ही दुनिया भर के सभी धर्मों का उद्भवस्थान बना रहा है। हिन्दू धर्म, जैन धर्म, बौद्धधर्म ईसाई

धर्म और इस्लाम धर्म, ये पाचो धर्म आज के विश्व के मुख्य धर्म है। इनमे से ससार ने जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म को तो भारत मे विकसित होते देखा है जब कि इस्लाम और ईसाई धर्म भी पूर्व एशिया से ही अस्तित्व मे आये है।

इनमे से इस्लाम, ईसाई और बौद्ध धर्म तो पिछले दो-ढाई हजार वर्ष से ही अस्तित्व मे आये है। इन तीन धर्मो का ऐतिहासिक क्रम आज जगत् के पास मौजूद है, इसलिये इसके उद्भवकाल के बारे मे न तो कोई सन्देह है और न कोई विवाद ही। हिन्दू तथा जैन धर्म, ये दोनो धर्म ही ऐसे है, जिनके अनुयायी अपने अपने धर्म अनादिकाल से चल रहे होने का दावा करते है। कोई धर्म, प्राचीन या अनादि होने के कारण ही श्रेष्ठ है ऐसा निर्णय नही किया जा सकता। लेकिन जॉच करने पर यह पता चलता है कि हिन्दू धर्मशास्त्रो मे जो अधिक से अधिक प्राचीन और प्रचलित माने गये है ऐसे उपनिषदो मे और भागवत आदि ग्रन्थो मे जैनो के वर्तमान तीर्थंकर-चौवीसी के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव विषयक उल्लेख मिलते है। अत. इन दो धर्मो मे भी जैन धर्म अधिक प्राचीन है इसमे कोई सन्देह नही। ममत्व के कारण यदि इस बात को गलत कहा जाय या जैन धर्म की निदा की जाय या फिर वेद धर्म के बाद ही उसका उद्गम हुआ है ऐसा कहा जाय तो अलग बात है। लेकिन वस्तुत. इतिहास इस बात का प्रमाण देता है कि जैन धर्म इस विश्व का सबसे पुराना और प्राचीन धर्म है इसमे कोई सन्देह नही।

पाश्चात्य तथा भारत के मान्य विद्वानो ने भी इस बात को स्वीकार किया है।

जहा तक तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध है, हिन्दू धर्म मे उसकी बहुत सी शाखाएँ है। उच्च भूमिका पर हिन्दू तत्त्ववेत्ताओ के बीच मतभेद है यह बात तो प्रसिद्ध ही है। हिन्दू तत्त्वज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओ मे वेदान्त, नैयायिक, वैशेषिक, साख्य योग, मीमासक वैयाकरण और चार्वाक आदि भिन्न-भिन्न मत है (चार्वाक दर्शन हिन्दू धर्म की शाखा है या नही इस बारे मे विवाद चल रहा है) वेदान्त मे अद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि अनेक शाखाएँ है।

इन सभी के आगे, केवल जैन तत्त्वज्ञान ही एक ऐसा तत्त्वज्ञान है, जिसमे शाखाएँ या उपमार्ग नही है। धर्म के आचरण के बारे मे जैन धर्म मे श्वेताबर, दिगबर और स्थानकवासी शाखाएँ है (इन्हे फिरके भी कहते है)। लेकिन तत्त्वज्ञान की भूमिका पर जैन धर्म की ये तीन शाखाएँ एक ही है, एक मत है। इधर-उधर छोटे-छोटे मतभेदो का होना असभव न होते हुए भी तत्त्वज्ञान की मूलभूत पीठिका पर कोई महत्वपूर्ण मतभेद नही है।

यह एक ही ऐसी बात है जो जैन दर्शन की स्थिरता, घनता तथा मूलभूत दृढता को साबित करती है। जैन तीर्थंकरो ने जो अबाधित सिद्धान्त जगत् के सामने रखे है वे आज भी ज्यो के त्यो मौजूद हैं। यदि ऐसा ही है और ऐसा होने मे किसी प्रकार का सन्देह नही, तो फिर इसका कोई विशेष

कारण भी होना चाहिए। यह कारण है जैन तत्त्वज्ञान की विशिष्टता।

प्राचीनता की दृष्टि से तो जेन दार्शनिक लोग ऐसा दावा करते है कि जैन धर्म, अनादि, शाश्वत और अविचल है। लेकिन केवल इसी कारण को लक्ष्य मे रखकर वह विशिष्ट और श्रेष्ठ है ऐसा दावा नही किया गया। इसकी विशिष्टता एव श्रेष्ठता तो इसका जो तत्त्वज्ञान है उसमे छिपी हुई है।

जगत् के तमाम तत्त्वज्ञानो मे जिसने अनोखा और विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है और जो दिग्विजयी है ऐसा यह तत्वज्ञान अनेकातवाद के नाम से प्रसिद्ध है, यह बात तो हम पहले कह चुके हैं। इस तत्त्वज्ञान की एक विशेप महत्व की बात उसकी तर्कपद्धति है। यह तर्कपद्धति ऐसी सपूर्ण और प्रमाणयुक्त है कि कही से भी अँगुली घुसाना असभव है। जगत् के जितने भी विद्वान इसके परिचय मे आते है वे सभी इस पर मुग्ध हो जाते है। सर्वश्री हर्मन जेकोबी, डॉ० स्टीनकोनो, डॉ० टेसीटोरी, डॉ० पारोल्ड और बर्नार्ड शॉ जैसे पाश्चात्य देशो के विद्वान भी इस तत्त्वज्ञान पर मुग्ध हो गये है।

तत्त्वज्ञान की उच्च-लोकोत्तर-भूमिका पर यह अनेकातवाद शायद कठिन और अटपटा दिखाई पडेगा लेकिन साधारण मनुष्यो के सदैव के जीवन मे और विचारशील वर्ताव मे तो यह "वाद" घर करके बैठा ही है। ऊपर हमने कपडे की खरीद से सम्बन्धित जो उदाहरण दिया है उसमे अनेकातवाद की छाया नही तो और क्या है?

"अनेकात" शब्द का विग्रह कर दिया जाय तो उसमे 'अनेक' और 'अत' ऐसे दो शब्द हमे दिखाई देगे। अर्थात् इसका सीधासादा अर्थ होगा 'जिसके अत अनेक है।' जैन तत्त्वज्ञान या जैनधर्म के अनेक छोर है, ऐसा अर्थ नही निकालना है। इसका स्पष्ट अर्थ तो यह है कि तत्त्वज्ञान रूपी विषय का अनेक छोरो से (पहलुओ या दृष्टियो से) निरीक्षण करनेके बाद जिस सत्य की प्राप्ति हुई है उसका परिचय हमे यह तत्त्वज्ञान कराता है। जैन दार्शनिको ने 'अनेकात' के द्वारा सिर्फ अपने ही तत्त्वज्ञान की जॉच की हो सो बात नही, अपनी इस अद्वितीय पद्धति से उन्होने ससार के सारे तत्वज्ञानो की छानबीन की है और ये सारे तत्त्वज्ञान केवल एक ही अत (एकात) पर निर्भर है यह बात भी सिद्ध कर दी है। अलग-अलग सभी दृष्टिबिन्दुओ को ध्यान मे रखे बिना ही, सिर्फ एक ही ओर से जाँच करके सोच विचार करके दूसरे तत्त्वज्ञानो की रचना हुई है ऐसा जैन दार्शनिको का मत है।

जैन तत्त्वज्ञान मे जिसे आगम प्रमाण का एक हिस्सा मान लिया गया है वे सात 'नय' समझने योग्य है। यदि इन्हे किसी भी तत्त्वज्ञान की जाँच करने के लिये 'सात अत अथवा छोर' इस नाम से हम पहचाने तो उसमे कोई आपत्ति न होगी। इस दृष्टि से, जैन तत्त्ववेत्ताओ ने यह साबित कर दिखाया है कि सिर्फ जैनदर्शन अकेला ही इन सातो-सात अत-सीमाओ के समूह पर निर्भर है। बाकी के मुख्य-मुख्य दर्शन ऐकातिक अर्थात् एक ही 'अंत' अथवा 'छोर' पर रचित है।

जैन दार्शनिको के प्रमाणित अभिप्राय के अनुसार भिन्न-भिन्न दर्शनो की परिस्थिति निम्नलिखित है।

(१) अद्वैत, वेदात, और साख्य, 'सग्रह' नय पर रचित हैं।

(२) नैयायिक और वैशेषिक दर्शन, ''नैगम' नय पर रचित है।

(३) चार्वाक मत, सिर्फ 'व्यवहार नय' पर निर्भर है।

(४) बौद्धमत, ऋजुसूत्र 'नय' का अनुसरण करता है।

(५) मीमासकमत 'शब्दनय' के आधार पर बँधा हुआ है।

(६) वैयाकरण-दर्शन, 'समभिरूढ नय' का आधार लिये चलता है।

(७) इसके सिवा दूसरे कई Extremist उद्दाम तत्त्व-ज्ञान है वे सभी 'एवभूत नय' के अनुसार चलते है।

जब कि जैन दर्शन इन सातो 'नयो' के समूह रूप, एक विशाल महासागर सदृश है। 'नय' शीर्षक प्रकरण मे हम आगे प्रत्येक 'नय' के बारे मे अधिक चर्चा करेगे।

ऊपर जो बाते बताई गई है उनके समर्थन मे विशेप कुछ लिखने की आवश्यकता नही। यदि हम अधिक विस्तार से लिखना चाहे तो लिखते-लिखते हजारो पन्नो के एक महाग्रन्थ की हमे रचना करनी पडेगी। इसलिये, जहाँ तक इस विपय का सम्बन्ध है, यहाँ पर हम इतना ही उल्लेख करेगे कि यदि किसी को इस विपय मे दिलचस्पी हो तो वे इस विपय का गहरा अध्ययन अवश्य करे। ताकि उन्हे बहुत कुछ जानने का तथा समझने का अवसर प्राप्त हो सके।

यदि किसी को इस विषय मे कोई सन्देह हो या ये सब बाते गलत मालूम होती हो तो चुप रहने के बजाय कम से कम अपनी मान्यता सच्ची है ऐसा प्रमाणित करने की दृष्टि से भी इस विषय की गहराई मे उतरे, इसका अध्ययन करे तो उन्हे जो निर्णय Conclusions प्राप्त होंगे वे ही इन बातो की सत्यता की प्रतीति करवायेंगे। यहाँ इस पुस्तक मे जो निर्णय निकाले गये है उनकी सत्यता के विषय मे फिर कोई सन्देह न रहेगा।

धर्म और तत्त्वज्ञान विषयक विचार करते करते तथा अपने जीवन को सफलता पूर्वक मार्गदर्शन देने के लिये आवश्यक तत्त्वज्ञान की पसन्दगी करते-करते अब हम इस तत्त्वज्ञान के समीप आ पहुँचे जो 'अनेकातवाद' के नाम से प्रसिद्ध है।

हाँ तो चलिये, अब इस एकान्तवाद के विषय मे हम अधिक जानकारी प्राप्त करे।

अनेकानवाद की साधारण जानकारी तो पिछले प्रकरण मे आपको दी गई है। इस शब्द को हमने अनेक+अत ऐसे दो शब्दो का बना हुआ माना है। इसमे दो के बजाय तीन शब्द भी हैं। अन्+एक+अत अर्थात् जिसका एक अत नही अर्थात् अनंत है उसका नाम अनेकात। यह अनेकातवाद एक रमणीय तत्त्वज्ञान है।

किसी भी चीज के बारे मे निर्णय करने से पहले हमे उसके अलग-अलग पहलुओ की ओर तथा उसकी अनेक सीमाओ की ओर दृष्टिपात करना पडेगा। यह बात अब हमारी समझ मे ठीक आ गई है।

हाँ तो चलिये, उसके कुछ और उदाहरण ले.—

वहुत से लोगो का यह कहना है, वे मानते है और लोगो को मनाते भी है कि हमे ढाल के दोनो पहलुओ की ओर देखना चाहिये। लेकिन उनकी दृष्टि उन दोनो पहलुओ से आगे नही जाती। यदि हम ढाल के वारे मे अधिक सोच-विचार करेगे तो उसके आगे तथा पीछे के, इस तरह दो पहलुओ के अतिरिक्त जिस धातु से वह वनी है तथा उसके बनाने वाले के वारे मे विचार हमारे मस्तिष्क मे अवश्य जागृत होगे। ढाल निर्माण करने वाले कारखाने का चित्र भी हमारे सम्मुख उपस्थित हो जायगा। थोडा-सा और विचार करने पर उस ढाल का उपयुक्त स्थान तथा उसका उपयोग करने वाले की आवश्यकता हमारी दृष्टि के सामने आएगी। युद्ध का मैदान, भीषण हत्या-काड तथा मनुष्यो की शूर-वीरता आदि के अनेक चित्र हमारे मन प्रदेश मे प्रस्तुत होगे जिन पर विचार करने से हमे वहुत-कुछ जानकारी प्राप्त होगी।

एक पेड और एक पहाड की वात ले।

पेड का तना गोल है। उसका आधा हिस्सा हमे सामने से दिखाई देता है और वाकी का आधा हिस्सा देखने के लिये हमे दूसरी ओर जाना पडता है। लेकिन उसके गोलाकार दो पहलुओ के अतिरिक्त भी उस पेड के भीतर वहुत कुछ है। तने का खोखला, पेड़ की जडे वह जमीन जिसके अन्दर वे जडे गडी हुई है, उस जडो को पोषित करने वाला पानी जो जमीन के भीतर है, उस पेड का सिर, उसकी शाखाएँ, पत्ते,

फल और उन फलो का स्वाद आदि बहुत-सी चीजो का सबध इस एक 'पेड' शब्द के साथ है।

ठीक इसी तरह 'पहाड' शब्द यो तो सिर्फ तीन वर्णो का ही बना हुआ है लेकिन उसके भीतर दृष्टिपात करने पर हमे पता चलेगा कि उसका सम्बन्ध तो तीन हजार से भी अधिक चीजो के साथ है। उसमे अनेक विविधताएँ होने के अतिरिक्त, हमे और भी बहुत सी ऐसी बाते जानने को मिलेगी जो एक दूसरे की विरोधी हो। यह एक ऐसी बात है जो हमारी विचारशक्ति को उत्तेजित करके उसे प्रगतिमार्ग पर ले जाती है और साथ-ही-साथ हमे एक तरह के आनन्द का अनुभव भी प्रदान करती है।

चलिये हमे एक टेवल खरीदना है। एक टेवल हमारी नजर के सामने पडा हुआ है। हमे उसके मूल्य पर विचार करना है। बेचने वाला व्यक्ति जो कुछ भी मूल्य मागेगा, क्या हम वही मूल्य दे देगे ? वह टेवल लोहे का बना हुआ है या लकडी का, यदि लकडी का है तो किस प्रकार की लकडी है, टेवल नया है या पुराना, यदि पुराना है तो कितने साल से उसका उपयोग किया जा रहा है। हिफाजत के साथ उपयोग किया गया है या लापरवाही से, उसकी ऊँचाई, लम्बाई, चौडाई, उसका समस्त रूप, उसको बनाने वाला कारीगर अथवा कारखाना तथा उसे बेचने वाला व्यापारी, आदि सब के बारे मे हमे सोच-विचार करना होगा।

जैन तत्त्वज्ञान द्वारा जो चार साधन बताये गये है वे द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव है जिनके बारे मे यहाँ हम थोडा-सा

विचार करेंगे। टेवल का द्रव्य माने लकडी की जाति, क्षेत्र का अर्थ है लकडी देशी. आयात की हुई या दूसरी किसी जगह की है, टेवल हमारे देश मे वना हुआ है या विदेश मे वनकर आया है। काल का अर्थ है कव वना, नया है या पुराना, और 'भाव' का अर्थ है, हम जिस समय खरीदने वठे है उस समय उसकी हालत, उसका रूप और उसकी मजवूती आदि। इन चार दृष्टियो से जाँच करने के वाद इस टेवल का एक पूर्ण चित्र तैयार हो जाता हे। तत्पश्चात् उसका मूल्य निश्चित करने मे हमे कोई कठिनाई नही होती। हमारी आवश्यकता Uigency ताकीद आदि दूसरे दृष्टिविन्दु भी हमे इस प्रश्न का निर्णय करने मे सहायता पहुँचाते है। यह हुई जड पदार्थ की वात। अव हम, चैतन्य स्वरूप किसी एक मनुष्य की वात ले ले। किसी व्यक्ति का चेहरा देखकर उसके वारे मे हम कितनी वाते कह सकेंगे।

हम सर्व प्रथम यह तय कर लेगे कि वह नर हे या नारी या नपुसक। अव इसमे से हम नर की वात करे। वह कौन है? कहा का है? किस देश का है? कौन से और कैसे परिवार मे पैदा हुआ है? घनवान? कुलीन? उसके रग, रूप शरीर की हालत, सस्कार, पढाई, वुद्धि, इज्जत आदि न जाने कितनी ही वातो के विचार हमारे दिमाग मे आएँगे? उसके वाहरी लक्षणो के अतिरिक्त उसके भीतर जाच करने पर हमे कितनी अनोखी वाते दिखाई देगी?

हर एक चीज, आपस मे विरोधी अनत गुणधर्मात्मक, अनेक प्रकार की विविधताओ से भरी हुई है। उसका उदाहरण

हमे किसी भी एक मनुष्य को ठीक तरह से समझने की कोशिश करने पर मिल जाएगा। क्या हम इस मनुष्य की किसी भी एक, दो-चार बातो पर विचार करने के बाद उसके बारे मे बिलकुल स्पष्ट और निश्चित अभिप्राय दे सकेगे ? नही दे सकेगे।

इससे यह स्पष्ट है कि किसी भी एक ओर से (एक ही पहलू से) किसी भी चीज को देखकर हम उसके बारे मे अपनी राय कदापि न दे सकेगे। अनेकातवाद हमे ऐसी सुनहरी और अमूल्य शिक्षा देता है कि किसी भी विषय का निर्णय करने से पहले, उसके हर पहलू से जांच करो। यह कितनी सुन्दर बात है।

उच्च भूमिका से सम्बन्धित कुछ बाते हम यहा पर करेगे। अनेकात दृष्टि से जैन दार्शनिको का कहना है कि "**जो वस्तु तत्त्व-स्वरूप है, वह अतत्त्व स्वरूप भी है, जो वस्तु सत् है वही असत् भी है, जो एक है वह अनेक भी है। जो नित्य है वह अनित्य भी है। इस तरह हर एक वस्तु परस्पर विरोधी गुणधर्मो से भरी हुई है।**"

यदि यह बात आरभ मे कह दी होती तो उसे पढकर हम अपना मुँह बिचकाते, और सभवत यहाँ तक पहुँच भी न पाते लेकिन इससे पहले जो थोडा-सा विवेचन हुआ है वह हमारी समझ मे यथाशक्ति आ ही गया है। इस कारण अब हमे ये सब बाते बेकार सी प्रतीत न होगी।

फिर भी स्वाभाविक तौर पर एक प्रश्न उपस्थित हुए बिना न रहेगा—'जो सत् है उसे ही 'असत्' कैसे माना जा

सकता है ? सर्वप्रथम तो हमे ऐसा महसूस होगा मानो स्पष्ट दिखने वाला यह प्रबल विरोधाभास ऐसा आघातजनक है कि बैठे हुए मनुष्य को खडा कर दे।

साधारण बुद्धि के मनुष्य की बात को अभी एक ओर रख दे। जिन लोगो की बहुश्रुत विद्वानो मे गिनती होती है ऐसे मनुष्य भी असभव मानकर उसे दुत्कार दे ऐसी यह असाधारण बात है। परन्तु वस्तुत ऐसा नही है।

यदि सिर्फ एक ही पहलू से निर्णय किया जाय तो यह बात हमे बेकार ही महसूस होगी। लेकिन यहाँ हमे यह नही भूलना चाहिए कि जैन दार्शनिको ने, अनेकातवाद की दृष्टि से, अनेक भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दुओ तथा विचारधाराओ का एक साथ विचार करने के बाद ही, यह बात कही है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की चारो ही अपेक्षाएँ सातो ही नयो द्वारा की गई तुलना और सप्त भगी के कोष्टक से मिलान करने के बाद कही जैन शास्त्रज्ञो ने, यह अजीब-सी लेकिन वास्तव मे 'पूर्ण सत्य' बात कही है।

व्यवहार का एक छोटा-सा उदाहरण ही ले ले। दवाई, अमुक पीडित मनुष्य के लिये उपयोगी है लेकिन दूसरे पीडित मनुष्य के लिये निकम्मी है, यह स्वीकृत तथ्य है। इसलिए, यह एक ही दवाई उपयोगी भी है और निकम्मी भी' इस बात से क्या हम इन्कार कर सकते हैं ?

अन्य मत मे मानने वाले जैनेतर दार्शनिको का जैन तत्त्वज्ञान के अनेकातवाद के विरुद्ध सबसे बडा विरोध तो यह है कि "जो वस्तु सत् है वही वस्तु भला असत् कैसे हो सकती

है ? जो नित्य है वही भला अनित्य कैसे हो सकती है ? एक ही चीज में दो परस्पर विरोधी धर्मों का होना उन्हें आकाश-कुसुमवत् लगता है।

इसका मुख्य कारण तो यह है कि उन्होंने एक चीज को एक ही पहलू से, एक ही स्वरूप में देखा है और दूसरे स्वरूप दूसरे पहलुओं को देखने की कोशिश तक नही की। सत्य में भला असत्य का होना कैसे संभव है ? यह एक सीधा सादा प्रश्न है। इसका सीधा-सादा जवाब ढूंढने के लिये यदि हम प्रतिदिन के ऐसे अनेक अनुभवों को याद करें तो ऐसी बहुत सी बाते हमें देखने को मिलेंगी। इसमें याद रखने योग्य विशेष बात तो यह है कि जैनतत्त्ववेत्ताओं ने वस्तु के पूर्ण स्वरूप को अपनी दृष्टि के सामने रखकर यह बात कही है, किसी एक हिस्से या स्वरूप के सम्बन्ध में यह बात नही की।

पानी में उत्पन्न होने वाले सिंघाडे की ही बात लीजिये। वह बाहर से काला और भीतर से सफेद है। यदि उसके विषय में अलग अलग कहना हो तो 'काला' अथवा 'सफेद' इस तरह दो बाते कह सकते है। परन्तु समस्त रूप में वह 'काला और सफेद है'—ऐसी एक ही बात कहनी होगी।

एक मनुष्य के लिये हम "गौर वर्ण" इस शब्द का प्रयोग करेंगे लेकिन समस्त मनुष्य जाति के लिये हमें अनेक रंगों की बात एक साथ करनी होगी।

पूर्णचन्द्र मुखोपाध्याय नाम का एक विद्यार्थी जो अपनी कक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुआ है उसके लिए 'यह विद्यार्थी

परीक्षा मे सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुआ है' जब इस प्रकार से कहेगे तब उसके वर्ग की अपेक्षा से यह 'सत्यवचन' है। लेकिन दूसरी कक्षाओ के परिणाम के बारे मे जब हम विचार करेगे तब, दूसरी अपेक्षा से, वह 'असत्य वचन' भी है।

एक दूसरी बात ले। सभी लोग इस बात को अवश्य स्वीकार करेगे कि एक चीज जिस आधार पर टिक रही हो वह ? उस आधार से कभी भिन्न हो ही नही सकती। शरीर का सारा हिस्सा, अपने दो पैरो पर आधार रखकर चलता है तथा स्थिर रह सकता है। यहाँ; पैर, क्या उसके शरीर से भिन्न है ? कदापि नही।

ठीक इसी तरह, सत्य का अस्तित्व असत्य के आधार पर ही निर्भर है। इस बात को बडे गौर से सोचिये। यदि 'असत्य' का अस्तित्व न होता तो फिर 'सत्य' की क्या आवश्यकता थी ? यदि असत्य न होता तो फिर 'सत्य' की भला कौन पूछ करता ? जगत् मे 'असत्य' है इसीलिये 'सत्य' है 'सत्य' है इसीलिये 'असत्य' है। दोनो का अस्तित्व एक दूसरे पर ही निर्भर है। यदि दोनो मे से एक को दूर कर दे तो दूसरा स्वय अदृश्य हो जाता है। एक की अनुपस्थिति मे दूसरा निरर्थक बन जाता है। इससे यह हमारी समझ मे स्पष्ट आ जायेगा कि 'सत्य' और 'असत्य' दोनो एक ही मे समाये हुए है। एक साथ हिले मिले है।

सत और असत् ये दोनो अलग-अलग तत्व नही है इसका स्पष्ट दर्शन तो हमे तब होगा जब कि हम अनेकातवाद के आधार पर उनकी जाच करे। एक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्त्व

के कारण, दूसरे के आधार पर ही है। यदि एक का नाश हो जाय तो दूसरा निरर्थक बन जावेगा और बाद मे उसकी आवश्यकता, उपयोगिता या अस्तित्व कुछ भी न रहेगा।

अनेकातवाद का आश्रय लेकर गभीरता और गहराई से इस बात पर सोच-विचार किया जाय तो तुरन्त ही हमारी समझ मे आ जाएगा कि सत् और असत् भिन्न दिखाई पडते हुए भी भिन्न नही है। सत् के बिना असत् का अस्तित्व असभव है और ठीक उसी तरह असत् के बिना सत् का। अर्थात् आपस मे विरोधी दिखाई पडने वाले ये तत्त्व,अन्योन्याश्रित होने के कारण, तत्वत दोनो एक तत्त्व के दो स्वरूप है। अनेकात दृष्टि से देखा जाय तो ये दोनो भिन्न भी है और अभिन्न भी।

ठीक उसी तरह, 'नित्य-अनित्य', धर्म-अधर्म' 'एक-अनेक' आदि सभी,परस्पर विरोधी गुणधर्म होते हुए भी वास्तव मे एक ही है। समस्त रूप से एक ही है। इन तीनो युग्मो मे दो मे से एक को आप दूर करेगे तो दूसरे का अस्तित्व Automatically स्वत. मिट जाता है। इस बात को ठीक तरह से स्वीकार कर यदि हम आगे चले तो व्यवहार मे अनेक कठिनाइयो का जो सामना करना पडता है उनका अत आ जाय।

प्रकाश और अधकार इन दो तत्त्वो की हम बात करे। यो देखा जाय तो ये दोनो तत्त्व भिन्न है। इन दोनो का कार्य एक दूसरे का विरोधी है। अब यदि कोई यह कहे कि प्रकाश मे अधकार भी है और अधकार मे प्रकाश भी,तथा इन दोनो बातो को मिलाकर यो कहे कि एक ही चीज मे प्रकाश तथा अधकार

दोनो साथ रहते है, तो प्रथम दृष्टि मे इस वात को मानने के लिये कोई तैयार न होगा।

लेकिन हम यह पूछे कि आकाश मे जब प्रकाश था तब भला अधकार कहाँ था ? प्रकाश का आगमन होते ही अधकार कहाँ छिप गया ? सोच विचार करने पर ज्ञात होगा कि जो अधकार था वह तो प्रकाश मे ही विलीन हो गया। ठीक उसी तरह जब अधकार का आगमन हुआ तब जो प्रकाश था वह अधकार मे विलीन हो गया, उसमे मिल गया, उसके साथ ही हिल-मिल गया।

इस प्रकाश और अधकार के छिपने के लिये दूसरा कोई स्थान तो है ही नही। इसलिये,जो जहाँ था वही रह गया अथवा जो पहले न था, वह बाद मे आने वाले मे मोजूद था ही और जो आया वह, प्रथम जो आया था उसमे ही मौजूद था ऐसा कहने मे क्यो ऐतराज है ? इसके विरुद्ध दलील किस तरह हो सकती है ? जो कुछ परिवर्तन हुआ है वह तो सिर्फ अवस्था अथवा समय का है। रात की अपेक्षा से अधकार और दिन की अपेक्षा से प्रकाश को हमने देखा। लेकिन, इन दोनो का आधार एक ही होने के कारण, परस्पर विरोधी गुणधर्म होते हुए भी, वे दोनो एक दूसरे मे समाये हुए है, इस वात का इकार भला हम कैसे कर सकते है ?

घर के एक कोने मे बैठकर मै यह लिख रहा हूँ। बिजली का बटन दबाते ही प्रकाश छा जाता है। फिर विरुद्ध दिशा मे दबाते ही अँधेरा छा जाता है। कमरा एक ही है। चारो ओर से बन्द कर दिया गया है। उजाला होते ही अँधेरा कहाँ

गायब हो गया ? उसमे ही विलीन हो गया। अँधेरा होते ही उजाला कहाँ खो गया ? उसमे ही विलीन हो गया समझ मे आता है न ?

उदाहरण के तौर पर ही यह वात कही गई है। तत्व-दृष्टि से भी जैन शास्त्रकारो ने अधकार और प्रकाश के पुद्गलो को एक ही माना है। अवस्थाभेद के कारण ही वह अधकार और प्रकाश रूप मे आते है।

इससे यह बात स्पष्ट होगी कि परस्पर विरोधी गुण धर्म वाले ये तत्त्व, वास्तव में एक ही तत्त्व के अन्तर्गत है। अनेकात दृष्टि से इस बात को समझने मे हमे कोई कठिनाई न होगी।

वेदात के अनुयायी जब इस बात का विरोध करते है तब हमे बडा आश्चर्य होता है। उनके मतानुसार, प्रथम जो था वह, शुद्ध, विशुद्ध, निर्गुण ब्रह्म था। वह ब्रह्म परम चेतन स्वरूप था। उनका कहना है कि इसी ब्रह्म से माया का सर्जन हुआ है। यह 'ब्रह्म' और 'माया' ये दोनो परस्पर विरोधी गुणधर्म वाले तत्व है। ब्रह्म शुद्ध है और माया 'अशुद्ध' है। यदि इस माया की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई तो उसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि आगमन से पहले यह माया ब्रह्म मे ही बसी हुई थी। और यदि थी तो फिर उस शुद्ध ब्रह्म के भीतर ही एक अशुद्ध तत्व मोजूद था। इस तरह, वेदान्त की कल्पना के अनुसार, शुद्ध और अशुद्ध—दो परस्पर विरोधी तत्व एक साथ ही थे। ऐसा होते हुए भी, वे लोग इस बात को स्वीकार नही करते और यदि करे तो फिर, 'प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी

गुणधर्मों से युक्त है', ऐसी बात जो जैन तत्वज्ञान ने बताई है सो भी उन्हें स्वीकार करनी ही होगी।

जैन दार्शनिको का तो यह कहना है कि 'ब्रह्म' यदि वेदान्त के कहने के अनुसार शुद्ध तत्व हो, तो उसमे से 'माया का तत्व' जो अशुद्ध माना जाता है, उसकी उत्पत्ति ही न होती। इसलिये या तो 'ब्रह्म' केवल शुद्ध स्वरूप न था अथवा 'यदि वह शुद्ध स्वरूप था तो उससे माया की उत्पत्ति नही हुई' ये दोनो बातें हमारी समझ मे आ जाएँगी। 'ब्रह्म और माया' के आपसी सम्बन्ध को जिस तरह ब्रह्मवादी वेदान्ती समझाते है वह अयुक्त है' ऐसा प्रमाणित करना पूर्ण तर्कसंगत एव न्याययुक्त है।

अनेकान्तवाद की इस बात को अब हम कुछ सामान्य स्तर पर ले आते है। इस बात को याद रखें कि यह स्तर अनेकान्तवाद का नहीं बल्कि हमारी बुद्धि का है।

एक मिस्टर जोन्स नाम के मनुष्य की हम कल्पना कर ले और तत्पश्चात् उसके सम्बन्ध मे कुछ जाँच-पड़ताल करे।

मनुष्य तो एक ही है लेकिन वह अच्छा भी है और साथ-साथ बुरा भी। वह दयालु है और साथ-साथ क्रूर भी, उदार भी है और मक्खीचूस भी। क्षमाशील भी है और क्रोधी भी, अहिंसक भी है और हिंसक भी, सत्यवक्ता भी है, सरासर झूठ बोलने वाला भी है, सज्जन भी है और दुर्जन भी, छोटा भी है और बड़ा भी, वाचाल है और घुन्ना भी, ज्ञानी भी है और साथ ही साथ अज्ञानी भी।

यदि किसी एक ही मनुष्य के बारे मे ऐसी परस्पर विरोधी बाते कोई कहे तो उसमे से हम सत्य किसे कहेगे ? लेकिन जहाँ तक मिस्टर जोन्स का सबध है, उसके जीवन मे हमे परस्पर विरोधी सभी लक्षण दिखाई देगे। यह बात साबित करने मे हमे कोई कठिनाई न होगी।

मिस्टर जोन्स को, भिन्न-भिन्न दशा मे, भिन्न-भिन्न स्थानो पर, भिन्न-भिन्न अवसरो पर, भिन्न-भिन्न सयोगो मे और भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के साथ बिलकुल विपरीत बर्ताव करते हुए हम देख पायेगे। पत्नी के प्रति प्रेममय और नौकरानी के प्रति क्रूर बर्ताव करते हुए ऐसे जोन्स बहुत से देखने को मिलेगे। हम उसे उपरोक्त सभी परस्पर विरोधी गुणो के अनुसार बर्ताव करते हुए पायेगे। ठीक इसी तरह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से "उनका बर्ताव परस्पर विरोधी है" ऐसा विधान हम बहुत से मनुष्यो के सम्बन्ध मे अवश्य कर सकेगे।

इसी तरह, उस प्रत्येक गुण के सम्बन्ध मे जब अलग-अलग बात करनी होगी तब मिस्टर जोन्स के सारे व्यवहारो का अलग-अलग वर्णन करते समय मिस्टर जोन्स "अच्छा आदमी है", "मिस्टर जोन्स बुरा आदमी है" ऐसी अलग-अलग और भिन्न-भिन्न बाते भी हम कह सकेगे।

स्याद्वाद और सप्तभगी का जब आगे उल्लेख किया जाएगा, तब मि० जोन्स का उदाहरण, उन विषयो को समझने के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

जैन दार्शनिको ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की चार अपेक्षाओ का वर्णन किया है। यदि इन चारो अपेक्षाओ को ध्यान मे रखकर हम इन बातो पर सोच-विचार करेंगे तो सब कुछ ठीक तरह समझ पाएँगे। इन चारो अपेक्षाओ के बारे मे, एक स्वतत्र प्रकरण मे, आगे हम चर्चा करने वाले हैं। इसलिये, यहाँ पर हमने उनका इतना ही उल्लेख किया है दृष्टि एव विचारशक्ति को शुद्ध करने के लिये ये चारो बाते अत्यत उपयोगी है।

यदि हम प्रत्येक विषय की जाँच अनेकातवाद की कसौटी पर करेंगे तो न केवल हमे उस वस्तु के स्पष्ट दर्शन होगे बल्कि इसके अतिरिक्त एक दूसरा बहुत-बडा लाभ भी हमे होगा।

हमे अनेकातदृष्टि प्राप्त होते ही हमारे जीवन मे 'समभाव' का अपने आप उद्भव होगा। क्या यह कोई मामूली लाभ है ?

अरे, यह तो, धरती पर स्वर्ग उतारने की बात है। यहाँ पर हम एक रमणभाई नाम के सज्जन की बात करेंगे। अनेकात दृष्टि को उन्होने ठीक तरह समझा है। उनकी पत्नी रमा बहन कम पढी लिखी है। उनकी पुत्री रम्यबाला ग्रेजुएट है। रमा बहन मे उम्र का अनुभव है, रम्यबाला मे यौवन की उच्छृखलता है। बात-बात मे ये माँ-बेटी आपस मे झगडती रहती है। कभी-कभी यह झगडा इतना उग्र रूप धारण कर लेता है कि उनके पडौसी श्री पोपटलाल का दिमाग भी बेकाबू बन जाता है और वे अपनी पत्नी पार्वती बहन से कहते है "यदि कही मेरी पत्नी या बेटी का भी ऐसा स्वभाव होता तो

मै हाथ मे झाडू लेकर उन दोनो की ठीक तरह मरम्मत कर देता।" लेकिन रमणभाई की स्वस्थता ज्यो की त्यो रहती है। श्री रमणभाई अनेकात दृष्टि द्वारा पत्नी और पुत्री दोनो की स्वाभाविक तथा सायोगिक मर्यादाओ को ठीक समझ पाते है इसलिये क्रुद्ध होकर शोर-गुल मचाने के स्थान पर वे दोनो को शात चित्त से समझाते है। श्री रमणभाई का समभाव बना रहता है। असमभाव या क्रोध उन्हे स्पर्श नही करते। कर्मबन्धन से वे बच जाते है। अनेकात दृष्टि के कारण उन्हे जो लाभ हुआ वह क्या साधारण लाभ है ?

यदि हम अनेकात दृष्टि का लक्ष्य मे ले तो ऐसी बहुत-सी बाते हमारी समझ मे आसानी से आ जाएँगी। उन मिस्टर जोन्स के बारे मे,उनकी कोई एक ही बात लेकर विचार करना जैसे गलत है ठीक इसी तरह तत्त्व-विचार मे भी, किसी एक ही चीज या एक ही स्वरूप को अपनी नजरो के सामने रखकर उस पर सोच-विचार करना भी गलत है। आपकी समझ मे यह बात ठीक तरह मे आ गई न ?

थोडा-सा और विचार करे।

जिसके अस्तित्व के बारे मे हम विचार करते है, उसका वह अस्तित्व सर्वथा और चिरकाल तक उसी स्थिति मे कदापि न रहेगा, यदि हम इस बात को स्वीकार कर ले तो फिर अवस्था (पर्याय) बदलने पर, वह चीज जिस स्वरूप मे आज दिखाई देती है ठीक उसी स्वरूप मे बाद मे दिखाई न देगी, उसका वही स्वरूप फिर नही रहेगा, इस बात को हमे स्वीकार करना ही होगा। इसलिये, जब, जिस अवस्था मे

जिस चीज़ के अस्तित्व को हम स्वीकार करते है, तव हमारा वह स्वीकार शर्ती Qualified or conditional वन जाता है। बाद मे वह स्वीकार विना शर्त का या अवाध Unqualified or Unconditional नही रह सकता।

उदाहरण के तौर पर करेले को काट कर जव उसकी सब्जी वनाई जाती है तव भोजन करते समय हम 'करेला दीजिये" ऐसा न कहते हुए "सब्जी दीजिये" कहते है। कपडे से पटलून वनाने के वाद हम जव धोवी के यहा उसे धोने के लिये ले जाते है तव "कपडा धोना है "ऐसा कहने के बजाय" "पटलून धोना है" कहते है। ऐसे तो वहुत से उदाहरण हम प्रस्तुत कर सकते है। पुत्र का नाम "प्रवीरण" रखने के वाद "पुत्र कहाँ गया" कहने के वजाय उसके पिता प्रवीरण कहाँ गया" ऐसा पूछते है। चमडे से चप्पल वनते ही वह चमडा मिट जाता है ऐसी कोई वात नही फिर भी हम "चमडा कहाँ गया ?" ऐसा न पूछकर "चप्पल कहाँ गई ?" पूछते है।

अवस्था-स्वरूप-वदलते ही परिस्थिति मे किस तरह परिवर्तन आ जाता है यह वात अव ठीक समझ मे आ जाएगा। ठीक उसी तरह एक स्वरूप का आस्तित्व जव मिट जाता है तव उसका 'नास्तित्व' (न+अस्तित्व) भी निर्मल नही रह सकता। वह भी शर्ती वन जाता है। सब्जी मे करेले नही है, कोट मे या पटलून मे कपडा है ही नही, प्रवीरण मे पुत्र नही है और चप्पल मे चमडा नही है, ऐसी वात कोई नही कह सकता। अवस्था या स्वरूप वदलने से जव एक स्वरूप

मुख्यत हमारे सामने आता है तब, उसका पहले का स्वरूप गौण रूप से उसमे ही छिपा रहता है।

पर्याय (अवस्था) बदलने पर और काल (समय) व्यतीत होने से, पदार्थ मे कौन-कौन से परिवर्तन होते है, यह भी हम देख ले। अन्य दर्शन मे जैसे उत्पत्ति, स्थिति और 'लय' इस तरह तीन अवस्थाएँ बताई गई है उन्ही को जैन दार्शनिको ने "उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य" नाम दिया है।

मूल द्रव्य अनादि हैं इसलिये उत्पत्ति का प्रश्न ही नही रहता। लेकिन अन्य किसी अवस्था से नई अवस्था का जो प्रकटीकरण हुआ उसे 'उत्पत्ति' के बजाय 'उत्पाद' नाम देना बिल्कुल तर्कसगत एव युक्तियुक्त है। द्रव्य की जो स्थिति दिखाई पडती है उसमे भी प्रतिपल परिवर्तन तो होता ही रहता है। इसलिए इसे 'व्यय' नाम दिया गया है।

यदि हम स्वय अपने जीवन की जाँच करे, तो हमे ज्ञात होगा कि स्थितियुक्त होते हुए भी उसका व्यय होता है, उसका उत्पाद होता रहता है।

इसलिये, 'लय' शब्द के बजाय 'व्यय' शब्द का प्रयोग किया जाय तो वह बिलकुल सुसगत (Appiopiiate) है। फिर जब सब कुछ स्थिर है तो भला 'लय' कैसे हुआ ? जो हमे 'लय' दिखाई देता है वह तो, अस्तित्व की एक अवस्था का एक स्वरूप मात्र ही है। वास्तव मे, दूसरा कोई स्वरूप धारण करने के लिए ही वह अदृश्य हो जाता है।

जैन दार्शनिको ने 'स्थिति' के बदले "ध्रौव्य" शब्द का प्रयोग किया है। यह बात भी आसानी से समझ मे आ सकती

है। जब किसी वस्तु की अवस्था मे परिवर्त्तन होता है तब उसका मूल-ध्रुव स्वरूप तो उसमे ही मौजूद रहता है। अग्नि से जो धुँआ निकलता है वह आकाश की ओर उडते-उडते अदृश्य होता प्रतीत होता है लेकिन उसका नाश नही होता। वह धुँआ बहुत दूर आकाश मे जाकर, बादल के रूप मे नई अवस्था धारण करता ही है। इस स्थिति को "ध्रौव्य" नाम से पहचानना और स्वीकार करना, यह बिलकुल तर्कशुद्ध है।

ऊपर हमने देखा कि मूल वस्तु वह की वही होते हुए भी उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप अलग-अलग नाम से पहचाने जाते हैं। ये भिन्न-भिन्न स्वरूप भी परस्पर विरोधी गुणधर्म वाले होते हैं। लोहा एक चीज है, उसमे से बनी हुई ढाल, तलवार, चाकू, कैंची और सुई आदि मे लोहा होते हुए भी वे सभी अलग-अलग नाम से पहचाने जाते है और परस्पर विरोधी कार्य भी करते हैं। तलवार काटने का काम करती है, फिर भी ढाल के आगे उसका कोई बस नही चलता। कैंची चीरने का कार्य करती है तो सुई उस चीरे हुए को फिर से जोडने का काम करती है।

जहर तो एक ही होता है। प्रमाण और अवस्थाभेद के कारण वह मनुष्य को मृत्यु की गोद मे भी सुला सकता है और जीवन भी प्रदान कर सकता है। मारते समय वह जहर कहलाता है जब कि जीवन प्रदान करते समय वह औषधामृत कहलाता है। एक ही चीज का यह परस्पर विरोधी स्वभाव है।

पिस्तौल जव हमारे हाथ मे होती है तव हमारी रक्षा करती है। किन्तु जव दुश्मन के हाथ मे आ जाती है तव वही पिस्तौल हमारी मौत का कारण वन जाती है। यहा पर पिस्तौल का क्षेत्र भेद हुआ जव कि उस जहर मे (प्रमाण) भाव भेद हुआ था।

मनुष्य की भी वाल्यावस्था, किशोरावस्था, यौवन, अधेडअवस्था, वृद्धावस्था और अन्तिम अवस्था हम देख सकते है। देह और नाम एक होते हुए भी कालभेद के कारण, काल की अपेक्षा से—कितने स्वरूप हुए ? और वे भी परस्पर विरोधी। मात्र देखने भर मे ही विरोधी नही, स्वभाव भी उन सभी अवस्थाओ मे वदलता ही रहता है। यह वदलता हुआ स्वभाव भी परस्पर विरोधी होता है।

द्रव्य भेद से, द्रव्य की अपेक्षा से, वही की वही देह सुकोमल, वज्र जेसी मजवूत, पीडित, स्वस्थ, सशक्त, अशक्त, दाढी-मूंछ विना की, दाढी-मूंछ वाली, सीधी, कमर से झुकी हुई मखमल जैसी मुलायम और झुरियो वाली जर्जरित आदि परस्पर विरोधी गुण धर्म वाली वनती है।

वही देह क्षेत्र की अपेक्षा से अग्रेज, अमरीकन, हिन्दुस्तानी, योरपियन, अफ्रीकन, वगाली और गुजराती आदि भिन्न-भिन्न नाम से पहचानी जाती है।

भाव की अपेक्षा से, वही मनुष्य सौम्य, रौद्र, शात, अशात, स्थिर, अस्थिर, धीर, अधीर, छिछोरे स्वभाव वाला, गभीर, रूपवान और कुरूप भी दिखलाई पडता है।

काल की अपेक्षा से उसी को हम बालक, किशोर, युवा, अधेड और वृद्ध कहते है। इस तरह मनुष्य का देह, वह का वही होने के बावजूद वस्तु की दृष्टि से एक होते हुए भी, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न नजर आता है, अलग-अलग बन जाता है। न केवल हम ही, सभी लोग इस बात को स्वीकार करते है।

इन बातो से यह सिद्ध होता है कि किसी भी पदार्थ मे परस्पर विरोधी गुणधर्मो का अस्तित्व तो होता ही है इसमे कोई सन्देह नही। इस बात को स्वीकार करने मे अब किसी प्रकार की अस्पष्टता न रहेगी, कुछ कठिनाई न होगी। अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर जैन दार्शनिको ने ऐसी बहुत-सी बाते बहुत ही स्पष्टता से समझाने की कोशिश की है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिको का यह कहना है कि प्रत्येक मनुष्य मे 'डॉक्टर जेकिल और मिस्टर हाइड की तरह' परस्पर विरोधी वृत्तियाँ, जिनके बीच उत्तर ध्रुव और दक्षिण-ध्रुव के समान अन्तर है, होती ही है। इसलिये किसी भी ससारी मनुष्य को सर्वथा भला अथवा सर्वथा बुरा—हम कह ही नही सकते।'

एक सज्जन ने अपने नाम से एक सार्वजनिक औषधालय बनाने के लिये डेढ लाख रुपया दान दिया। लेकिन अपने ही एक नौकर को, जिसे ऑपरेशन करवाने के लिये पाँच सौ रुपयो की खास जरूरत थी, उन्होने पैसे देने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि आवश्यक इलाज

न करवा सकने के कारण उस वेचारे नौकर की मृत्यु हो गई ।

इस व्यक्ति के वारे मे हम क्या कहेगे ? दयालु ?,उदार ?, निर्दय ?, अधम ? जवाव देने की कोई आवश्यकता नही । यह वात तो आसानी से हमारी समझ मे आ जाएगी ।

भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे ऐसे अनेक उदाहरण हमे देखने को मिलेगे । इन उदाहरणो के आधार पर हमे ज्ञात होगा कि जव जैन दार्शनिक लोग ऐसा कहते है कि ‘एक ही वस्तु है भी और नही भी है” तव वे अनेकात दृष्टि द्वारा ही यह वात कहते है और वह यथार्थ है । उनका यह कहना विलकुल सही है । हमे भी इस वात को अवश्य स्वीकार करना चाहिये ।

अनेकातवादी दृष्टि के विषय मे ऐसी वाते वहुत ही समझने योग्य है, और यदि हम इन्हे अच्छी तरह समझ ले तो जगत और जीवन की सारी समस्याओ को हम वडो आसानी से सुलझा सकते है । अनेकात दृष्टि को अपनाकर यदि इस वात पर वडे गौर से सोच विचार करे तो हमे ज्ञात होगा कि एक ही चीज मे सत्य, असत्य, नित्यत्व और अनित्यत्व तथा एकत्व और अनेकत्व आदि एक ही समय पर मौजूद रहते है । इस वात को समझने मे हमे कोई कठिनाई न होगी । यह सव देखने और समझने के लिए अनेकातवाद का आश्रय लेना होगा । उसका आश्रय लिये विना कभी समझ मे नही आएगा ।

आज के इस विज्ञानवादी अणु-परमाणु-सशोधन-युग मे हम यह वात वडी आसानी से समझ पाते है कि एक और अनेक दोनो ही एक साथ, एक समय रहते है ।

वस्तु का नित्यत्व और अनित्यत्व समझना भी आसान है। 'सब कुछ परिवर्तनशील है' इस बात को तो सभी लोग स्वीकार करते है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से तथा अवस्था (पर्याय) भेद के कारण एक ही चीज अनेक रूपो मे परिवर्तित होती रहती है। चूँकि वह परिवर्तनशील है इसलिये उसे अनित्य कहा जा सकता है—अनित्य है। फिर भी, उसका मूल द्रव्य, भिन्न-भिन्न स्वरूपो मे भी कायम रहता है, इसलिये उसे नित्य भी कहा जा सकता है—नित्य है। जैसे उसे सिर्फ नित्य कहना गलत है ठीक उसी तरह, सिर्फ अनित्य कहना भी उतना ही गलत है।

यह परिवर्तन भी सहसा-यकायक नही होता। वह तो अपने समयानुसार होता है। कपडे का मैला हो जाना, चावल से भात बनना, गेहूँ से रोटी बनना, बालक का वृद्ध होना, ये सब बाते यकायक नही हो जाती। इन सबका अपना-अपना कालक्रम है। इस तरह से सब परिवर्तन होते हुए भी, उनकी मूल वस्तु का सर्वथा नाश भी नही होता।

किसी भी एक पदार्थ के एक स्वरूप का नाश होते ही, वह हमे दूसरे स्वरूप मे नजर आता है। उसके मूल द्रव्य का, इस परिवर्तन के कारण, सर्वथा नाश नही होता। यदि पानी अग्नि के सम्पर्क मे आये तो वह जल जाता है और भाप बनकर उड जाता है। यदि यान्त्रिक साधन द्वारा उसी भाप को किसी बरतन मे इकट्ठा करले तो वही फिर एकबार पानी का रूप धारण कर लेता है। फिर भले ही उसे 'डिस्टिल्ड वॉटर' के नाम से क्यो न पहचाना जाय। उस भाप मे पानी का मूल

स्वरूप तो छिपा ही था। ओक्सिजन और हाइड्रोजन (H_2O) नाम के दो प्रकार के वायु, जिनके रासायनिक सयोग से पानी बना है वे भी सभी प्रकार के परिवर्तन के बीच पानी मे एक या दूसरे रूप मे मौजूद रहते है।

मिट्टी से जब घडा बना तब उस घडे के स्वरूप मे मूल पदार्थ मिट्टी का अस्तित्व तो है ही। जब उसी घडे के टुकडे हो जाते है, तब उस दूसरे स्वरूप मे भी मूल द्रव्य मिट्टी का अस्तित्व तो रहता ही है।

इसी न्याय से, तत्त्वज्ञान की भूमिका के किसी भी वस्तु तत्त्व को, सर्वथा सत्य या सर्वथा असत्य, सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य मानने मे हम बडी भूल करते है। यदि सभी वस्तुतत्व जैसे है वैसे ही रहे, उनमे परस्पर विरोधी गुणधर्मो का यदि अभाव हो और वे परिवर्तनशील न हो तो फिर उनका अस्तित्व बिलकुल निरुपयोगी हो जाएगा। पत्थर का रूप और कद जैसे पहले था ठीक वैसा ही यदि सर्वकाल मे रहे तो फिर उसका मतलब यह हुआ कि उसमे क्रियाशीलता का अभाव है। और यदि उसमे क्रियाशीलता न हो तो फिर उसके द्वारा किसी तरह के कार्य की उम्मीद कैसे की जा सकती है।

ठीक उसी तरह, सिर्फ ब्रह्म को ही 'सत्य' माना जाय और यदि उसके अस्तित्व को बिलकुल स्थिर और अपरिवर्तनशील माना जाय तो फिर उसमे क्रियाशीलता का अभाव होने के कारण उसकी क्या उपयोगिता रहेगी ?

ससार को सर्वथा मिथ्या ही माना जाय तो फिर, जिसे वास्तविक (सत्य) कहा जाता है, उस ब्रह्म के साथ उसका सम्बन्ध हम किस प्रकार से स्थापित कर सकते है, ठीक उसी तरह, जड और चेतन को एक दूसरे से बिलकुल भिन्न माना जाय तो फिर एक का प्रभाव दूसरे पर पडेगा ऐसी उम्मीद भला हम कैसे कर सकते है ?

यदि जगत परिवर्तनशील है तो फिर वह ब्रह्म भी,जिसमें से वैदिक तत्त्वज्ञानियो के मतानुसार जगत उत्पन्न हुआ है, परिवर्तनशील होना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो एक नित्य और अपरिवर्तनशील ब्रह्म से अनित्य और परिवर्तनशील जगत की उत्पत्ति भला कैसे हो सकती है ?

एकात नित्य से अनित्य या एकात अनित्य से नित्य का स्वतन्त्र उद्भव असभव है' जैन तत्त्वज्ञानियो ने इस बात पर बडा जोर देकर असदिग्धता से कहा है । यह बात बहुत समझने योग्य है। द्वैत, अद्वैत और उसकी सभी शाखाओ मे तथा क्षणिकवाद आदि सभी एकात तत्त्वज्ञानो मे हमे यह सब ज्ञान नही मिल सकता। क्योकि जैसे कि पहले कहा गया है, इन सबकी रचना एक लय (एकातज्ञान) के आधार पर तथा ऐकातिक निर्णय द्वारा की गई है। उन सभी के सामने, सरोवरो के समूह के सामने गरजते हुए महासागर की भाँति जैन तत्त्वज्ञान का अनेकातवाद खडा है। उसकी समझ ही सच्ची समझ है। इस बात को स्वीकार करने मे अब भला कौन-सी आपत्ति है ? सच पूछा जाय तो किसी प्रकार की आपत्ति न होनी चाहिये।

अभी और कुछ विशेष स्पष्टीकरण करेंगे ।

'सत्य' और 'असत्य' के स्थान पर हम 'सत्व' और 'असत्व' ऐसे दो शब्दो का प्रयोग करे । इन दोनो मे परस्पर विरोधी गुणधर्म हैं । फिर भी, यहा पर हम उन चारो अपेक्षाओ को, चतुष्टय को, ले आकर रखेगे तो ज्ञात होगा कि 'स्वद्रव्य' क्षेत्र काल भाव की दृष्टि से जो सत्व है, वही सत्व, 'पर' द्रव्य क्षेत्र काल भाव की दृष्टि से असत्व है ।

इस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा मे 'स्व' क्या और 'पर' क्या ? यह तो कोई नई बात हुई, ठीक है न ? आगे चलकर हम इस पर चर्चा करेंगे । इसलिये इस विषय को छोडकर हम आगे बढे । लेकिन, हमारे मन मे किसी प्रकार का सन्देह न रह जाय इसलिये हम यहाँ पर एक छोटी सी-ज्ञान की बात कर ले । जहाँ 'स्वय' है वह 'स्व' और जहाँ 'स्वय' नही वह 'पर' । आगे इस विषय मे हम चर्चा शुरू करे तब तक यदि इस पर कुछ सोच विचार कर रखे तो आगे चलकर इस विषय को समझने मे आसानी होगी ।

इस तरह, असत्व और सत्व, अनित्यत्व और नित्यत्व, अनेकत्व और एकत्व आदि परस्पर विरोधी गुण धर्म वाले विषयो को तथा वस्तुओ को यदि हम विविध पहलुओ से देखे तो हम बडी आसानी से और अत्यधिक सरल ढग से इस बात को समझ पाएँगे कि यह सब कुछ एकातात्मक नही बल्कि अनेकातात्मक है ।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले एक बहुत जरूरी बात कहनी है । एक ही वस्तु मे अनेक प्रकार के गुणधर्म होते है इस बात को जैनेतर तत्त्वज्ञानियो ने भी स्वीकार किया

है। ऐसे लोगो की ओर से, जिन्होने अनेकातवाद को पूर्ण रूप से नही समझा, एक प्रश्न यह पूछा जाता है कि " यह बात तो हमारे धर्म मे भी बताई गई है । जैन तत्त्वज्ञानियो ने भला इसमे नई बात कौन सी कही है ?

यही पर, जैन दर्शन की विशिष्टता का हमे दर्शन होता है । प्रत्येक वस्तु मे अनेक गुण धर्म होते है, यह दिखाने भर से जैन तत्त्वज्ञान को 'अनेकातवाद' नाम नही दिया गया। जैन दर्शन ने यह चीज, यह बात, साबित करके बताई है।

इसके अतिरिक्त,प्रत्येक वस्तु में 'परस्पर विरोधी' तत्त्व एक साथ मिले हुए हैं, और जैन तत्त्वज्ञान का यह कहना है कि कोई भी वस्तु केवल ' अनेक गुणधर्मात्मक ' नहीं बल्कि 'परस्पर विरोधी' अनेक गुणधर्मो से युक्त है । ये जो विरोधी गुणधर्म हैं वे एकात दृष्टि द्वारा नजर नहीं आते । अनेकांत दृष्टि द्वारा ही हम उन्हे देख और समझ सकते हैं। जैन तत्त्वज्ञान की ' अनेकातवाद ' की यही तो विशिष्टता है । और यह विशिष्टता कोई छोटी सी तो है नहीं ! जहा तक तत्त्व-ज्ञान का सम्बन्ध है यह एक महान् सिद्धि है। इसी कारण अनेकातवाद को 'तत्त्वशिरोमणि' की उपाधि दी गई है ।

कोई एक वस्तु सत् है, नित्य है और एक है, इसलिये वह अनेक धर्मो से युक्त तो है लेकिन इस तरह अनेक धर्मा-त्मक होने के कारण ही उसे अनेकानात्मक नही कहा जा सकता । लेकिन सत् और असत्, नित्य और अनित्य एक और अनेक ऐसे परस्पर विरोधी गुणधर्मो को वह एक समय अपने मे समा लेती है और इसी कारण वह 'अनेकातात्मक'

कहलाती है। इस बात को बडे गौर से और पूर्णतया समझ लेना चाहिये।

एक ही मनुष्य दयालु, उदार, मधुर भाषी, परोपकारी, क्षमावान, चारित्र्यशील, धैर्यवान, हिम्मतवाज, शातमूर्ति, धर्म-परायण और दानशील है। इस तरह उसमे वहुत से गुण है। उसके प्रत्येक अलग-अलग गुण का अलग अलग दर्शन होने के कारण हम उसके सम्वन्ध मे अपनी राय वना सकते है। लेकिन इसी कारण हम इस राय को 'अनेकातात्मक' नही कह सकते। प्रत्येक गुण के सम्वन्ध मे सोच विचार करते समय, दृष्टि और वुद्धि दोनो उस गुण तक ही मर्यादित रहने के कारण, इन सभी गुणो को एक साथ लेते समय भी वह निर्णय एकातिक ही रहता है। अनेकात दृष्टि द्वारा ही हम यह सिद्ध कर सकते है कि इस मनुष्य के जीवन मे इन सभी गुणो के विपरीत अवगुण भी मौजूद है तथा गुणो और अवगुणो के परस्पर विरोधी धर्मो का कथन कर सकते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि यदि एक वस्तु मे परस्पर विरोधी वाते मौजूद है यह तथ्य सावित करना हो, खोज निकालना हो या समझना हो उस समय ही अनेकातवाद की आवश्यकता उत्पन्न होती है। अधिक स्पष्टतया यह फलित होता है कि अनेकातवाद का आश्रय लिये विना हम सच्चा निर्णय कर ही नही सकते। इतना सक्षिप्त विवरण देने के वाद अनेकात-वाद की एक सक्षिप्त व्याख्या यदि करनी हो तो हम कहेंगे कि—

एक ही वस्तु के भीतर रहे हुए परस्पर विरोधी गुणधर्मो और तत्त्वो को प्रकट करके जो हमारे सामने प्रस्तुत कर सके उसे 'अनेकांतवाद' नाम से पहचाना जाता है। इसके

विपरीत किसी भी वस्तु का निर्णय करने में अनेकांतवाद का आश्रय न लिया जाय तो उससे सम्बन्धित निर्णय कदापि सच्चा नही हो सकता।

अनेकांतवाद के सम्बन्ध मे इतना स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद अब हम 'स्याद्वाद' पर सोच विचार करेंगे। इससे पहले यह एक बात स्पष्ट करने की आवश्यकता है। चूँकि इस प्रकरण मे कुछ बातो को बार बार दुहराया गया है इसलिये पुनरुक्ति दोष सा महसूस होगा। लेकिन विषय के ज्ञान को अधिक स्पष्ट करने तथा समझाने के एक मात्र उद्देश्य से जान बूझकर ऐसा किया गया है।

अब आगे बढे।

स्याद्वाद

यह मानने मे अब कोई हर्ज नही कि अनेकातवाद के विषय मे पिछले पृष्ठो मे जो कुछ लिखा गया है उसे पढकर विचार कर लेने के वाद इस अप्रतिम तत्त्वज्ञान विषयक प्रारभिक ज्ञान हमे ठीक ठीक प्रमाण मे हो चुका है।

अब हम इतना तो अच्छी तरह समझ गये है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी अनत गुण धर्मो से युक्त है। साथ ही यह भी समझ मे आ गया है कि परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले इन तत्त्वो का ज्ञान अनेकान्त दृष्टि से देखने से ही होता है।

हमे यह ज्ञान अच्छी तरह से हो और इसका स्पष्ट दर्शन हो सके, ऐसी कोई गणित-पद्धति यदि हमारे सामने हो तो वह हमे वहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इस हेतु से जैन दार्शनिको ने 'स्याद्वाद' के नाम से प्रसिद्ध पद्धति वतलाई है।

अनेकात दृष्टि से यह निश्चित हो चुका है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी गुण धर्मो से युक्त होती है। इस तथ्य को युक्तियुक्त एव तार्किक (Logically) ढग से प्रस्तुत करने के लिए जिस रीति की आवश्यकता है, वह रीति—वह पद्धति 'स्याद्वाद' हमे वतलाता है।

स्याद्वाद को अनेकातवाद अथवा अपेक्षावाद (सापेक्षवाद) के नाम से भी पहचाना जाता है। अनेकातवाद और स्याद्वाद, सामान्य दृष्टि से लगभग एक से मालूम होते है, परन्तु यदि हम दोनो को स्पष्टतया समझे तो प्रतीत होगा कि अनेकावाद के तत्त्वज्ञान को अभिव्यक्त करने की एक पद्धति 'स्याद्वाद' है।

अनेकात तथा स्याद्वाद के बीच वाच्य-वाचक या साध्य-साधक का सा सम्बन्ध भी माना जाता है। यहाँ यदि हम उपमा देना चाहे तो अनेकान्त को सुवर्ण की तथा स्याद्वाद को कसौटी की उपमा दे सकते हैं अथवा अनेकात को एक किले से और स्याद्वाद की उस किले तक जाने वाले मार्गो को वताने वाले नकशे से तुलना कर सकते है।

परन्तु यहाँ एक वात स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि ये अनेकातवाद तथा स्याद्वाद एक ही तत्त्वज्ञान के अग होने के कारण वस्तुत दोनो एक ही है।

'स्याद्वाद' शब्द मे 'स्यात्' तथा 'वाद' ये दो शब्द मिले हुए है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ हम अच्छी तरह समझ ले। आगे चलकर जब सप्तभगी का निरूपण किया जायगा तब उसमे भी इस 'स्यात्' शब्द को हम बडी महत्वपूर्ण भूमिका मे देखेगे। अतएव इस शब्द का अर्थ हमे पहले से ही अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। इसका अर्थ हमें स्पष्टतया समझ मे आजाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव आवश्यक है।

शब्दकोष के अनुसार 'स्यात्' शब्द का सक्षिप्त अर्थ 'कथञ्चित्' होता है। इस शब्द का विस्तृत अर्थ होता है 'किसी एक प्रकार से (In Some respect) यहाँ 'प्रकार' शब्द का तात्पर्य है 'कोई एक अवस्था, स्थिति, या सयोग'।

'स्यात्' शब्द का अर्थ समझने मे बहुत से लोग धोखा खा जाते है। कोई इसका अर्थ 'सशय' करते है, तो कोई 'सभावना, करते है। कोई इसका अर्थ 'कदाचित्' करते है।

ये सब अर्थ गलत है। जैन दर्शन के विरोधी लोग ऐसे उल्टे अर्थ निकालकर इस महान् तत्त्वज्ञान की यथार्थता के

विषय मे सन्देह उत्पन्न करने का प्रयत्न करते है। कोई कोई अपनी अल्पबुद्धि के कारण,या उसमे गहरे उतरने की असमर्थता या अनिच्छा के कारण ऐमे गलत अर्थ करके वैठ जाते है। जैन तत्त्ववेत्ताओ ने इस शव्द का प्रयोग जिस अर्थ मे किया है, उसे समझने के लिए उसमे गहरे उतरने की इच्छा न रखने वाले भी इस शव्द से उलझन महसूस करते है। जो लोग समझना ही नही चाहते वे अपने द्वारा किये गये अर्थ से चिपके रहते है। फलत हानि उन्ही की होती है क्योकि आत्मविकास के एक अनुपम—या जिमे 'एकमात्र' साधन कहा जा सके—ऐसे प्रवल एव सुन्दर साधन से वे स्वत ही वचित रह जाते है।

जो समझना चाहते है, उन्हे तो 'स्याद्वाद' ठीक तरह समझ मे आता ही है। वहुत से जैनेतर विद्वानो ने जव तटस्थ भाव से जैन तत्त्वज्ञान का अवलोकन किया है तव उन्होने इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। गुजरात के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० प्रोफेसर आनदशकर ध्रुव महोदय ने अपने एक वार के व्याख्यान मे स्याद्वाद सिद्धान्त के विपय में अपनी राय प्रकट की थी। उन्होने कहा था कि—

"स्याद्वाद" हमारे सम्मुख एकीकरण का दृष्टिविदु प्रस्तुत करता है। शकराचार्य ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप किया है, उसका मूल रहस्य से कोई सम्वन्ध नही है। यह निश्चित है कि विविध दृष्टिविदुओ से निरीक्षण किये विना वस्तु पूर्णतया समझ मे आ नही सकती। इसलिये स्याद्वाद उपयोगी तथा सार्थक है। महावीर के सिद्धात मे प्रतिपादित स्याद्-वाद को कुछ लोग सशयवाद कहते हैं। मै ऐसा नही मानता। स्याद्वाद सशयवाद नही है, वल्कि वह हमे एक दृष्टिविन्दु की

प्राप्ति कराता है—वह हमे सिखाता है कि विश्व का अवलोकन किस प्रकार करना चाहिए ।"

स्वर्गीय श्री ध्रुव महोदय की तरह अन्य भी अनेक विद्वानो ने, जिनमे पाश्चात्य विद्वानो का भी समावेश होता है, स्याद्वाद के विषय मे इसी प्रकार की राय प्रकट की है। जैनतत्त्ववेत्ताओ ने 'स्यात्' शब्द का जिस अर्थ मे प्रयोग किया है, उसे जो लोग यथार्थ रूप मे समझ लेते है, उन्हे फिर कोई भ्रम नही रहता। इस शब्द का अर्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की किसी एक निश्चित स्थिति के साथ जोड कर किया गया है इसलिए 'स्यात्' का अर्थ 'कदाचित्' 'सभवत.' या 'शकायुक्त' (सन्देह प्रधान) नही बल्कि 'निश्चित' होता है।

'स्यात्' शब्द द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से एक निश्चित स्थिति अथवा अवस्था सूचित करता है। सप्तभगी मे 'स्यात्' के साथ एव' शब्द का प्रयोग जो किया जाता है सो इसके निश्चित प्रकार को स्पष्ट सूचित करने के लिए ही। इससे स्पष्ट होता है कि 'स्याद्वाद' कोई 'संभववाद'या सदेहवाद'नही' है, यह एक 'निश्चितवाद' है।

यहाँ स्वभावत कोई पूछ सकता है कि यदि यह एक निश्चितवाद ही हो, किसी प्रकार से (कथचित्) निश्चित स्थिति का ही दर्शन कराता हो तो 'स्यात्' शब्द लगाने की आवश्यकता ही क्या है? इसे 'स्याद्वाद' के बदले 'निश्चितवाद' ही क्यो नही कहा गया।

यह प्रश्न सहेतुक है। 'स्यात्' शब्द के बदले 'निश्चित' शब्द क्यो प्रयुक्त नही किया?

परन्तु जैन दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान की खूबी

इस 'स्यात्' शब्द के प्रयोग मे ही है। यह एक विशिष्टता है। निश्चित प्रयोजन से इस शब्द का प्रयोग किया गया है। केवल प्रयोग के लिये प्रयोग नही, बल्कि अत्यत आवश्यक होने के कारण इस शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि इस शब्द का प्रयोग न किया हो तो ताश के पत्तो के महल की तरह अनेकातवाद के तत्त्वज्ञान की इमारत गिर कर धराशायी हो जाय।

एक छोटा सा दृष्टान्त ले।

भारत के सुप्रसिद्ध क्रिकेटर श्री जसु पटेल को कानपुर टैस्ट मैच मे आस्ट्रेलियन टैस्ट टीम के सामने सुन्दर बोलिग करके भारतीय टीम को विजय दिलाने के उनके कार्य से प्रसन्न होकर उनकी इज्जत करने के लिये भारत सरकार ने 'पद्मश्री' की उपाधि प्रदान की है। भारत सरकार की ओर से अन्य किसी बोलर को ऐसा सम्मान प्राप्त नही हुआ। सरकार के इस कार्य से यदि कोई यह निष्कर्ष निकाले कि 'श्री जसु पटेल भारत के सर्वश्रेष्ठ बोलर है।' तो यह निष्कर्ष कैसा कहलाएगा? उन्होने कानपुर मे जैसी सुन्दर बोलिग की थी वैसी ही श्रेष्ठ बोलिग प्रत्येक मैदान मे करना उनके लिए या उनके स्थान पर अन्य किसी बोलर के लिए सभव नही है। अन्य स्थानो पर सुन्दर बोलिग करने वाले अन्य बोलर भी थे। तिस पर भी भारत सरकार ने श्री जसु पटेल को सम्मान दिया। इस पर विचार करने पर ज्ञात होगा कि केवल सुन्दर बोलिग के कारण उन्हे चन्द्रक नही दिया गया, उस स्थान पर उनकी बोलिग के कारण भारतीय टीम की जीत हुई, उस जीत को लक्ष्य मे लेकर ही उन्हे 'पद्मश्री' का खिताब दिया गया है। इससे स्पष्ट

होता है उनको जो सम्मान प्राप्त हुआ सो उस विजय की अपेक्षा से—'स्यात्'—था, और उनकी अद्भुत बोलिंग कानपुर के मैदान की,एव उस स्थान पर उस समय खेले गये टैस्ट मैच की अपेक्षा से 'स्यात्—सुन्दर' थी।

इस उदाहरण से स्पष्ट होगा कि यदि हमे श्री जसु पटेल द्वारा कानपुर मे की गई बोलिंग तथा उन्हे प्राप्त सम्मान के विषय मे कोई निश्चित कथन करना हो तो 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना ही होगा। इस शब्द का प्रयोग किये बिना यदि ऐसा सीधा सादा वाक्य कहा जाय कि "श्री जसु पटेल को उनकी सुन्दर बोलिंग के उपलक्ष्य मे भारत सरकार ने 'पद्मश्री' का खिताब दिया",तो यह बात अधूरी मानी जाएगी और विवादास्पद बनेगी।

'स्यात्' शब्द की महत्ता तथा आवश्यकता उपर्युक्त उदाहरण से अच्छी तरह समझ मे आ जाएगी। चलिए तो अब इस शब्द को एव उसके अर्थ को पूर्णतया समझ ले।

सर्वप्रथम हम उस तथ्य को पुन याद करें 'प्रत्येक वस्तु अनेक परस्पर विरोधी गुण धर्मो से युक्त होती है।' यदि ऐसा न होता तो 'स्यात्' शब्द आवश्यक न होता। परन्तु ऐसा ही है, इसीलिए 'स्यात्' शब्द आवश्यक एव अनिवार्य बन जाता है। उपर्युक्त तथ्य को समझाने या समझने मे 'स्यात्' शब्द का प्रयोग न किया जाय तो,उससे रहित,कोई भी कथन असत्य बन जाता है।

इस बात को विशेपत समझने के लिये इस सप्तभगी का एक पद ले। 'स्यादस्त्येव।' स्यात्+अस्ति+एव=" कथ-

चित् है ही ।" इस पद मे हम 'पेन्सिल' शब्द लगा दें । तब इस पद का अर्थ इस प्रकार होगा, कथचित् पेन्सिल है ही ।"

यह बात करते समय हम एक स्पष्ट खयाल रख कर चले । "यह सब लिखते समय मेरे घर के एक कोने मे रखे हुए टेबल पर पडे हुए कागज पर चलती हुई, मेरे हाथ के पजे की अँगुलियो के बीच पकडी हुई यह पेन्मिल है । फिर, यह पेन्सिल अच्छी किस्म की लकडी की बनी है, और मै लिख रहा हू तब दोपहर के तीन बजे है ।"

इस पेन्सिल मे लकडी द्रव्य है, मेरे हाथ की अँगुलियाँ क्षेत्र, दोपहर के तीन बजे का वक्त काल, और अच्छी किस्म भाव है । यह ध्यान मे रखियेगा ।

अब, यदि मै इतना ही कहूँ कि 'पेन्मिल है' तो मेरे पास बैठे हुए मेरे विद्वान मित्र विनुभाई तुरन्त बोल उठेगे कि, " पेन्सिल नही है ।" यदि मैं उनकी ओर ताकूँ तो वे फिर तड़ाक से बोलेगे कि, "आपके हाथ मे पेन्सिल भले हो, मेरे हाथ मे नही है ।" उनके कथन को क्या गलत कहा जा सकता है ? नही तो क्या मैने जो कहा सो गलत था ? नही,वह भी सच था ।

पेन्सिल की बात करते हुए एकदम से दो परस्पर विरोधी कथन उपस्थित हो गये—१) पेन्सिल है, २) पेन्सिल नही है । यहाँ पर 'पेन्सिल है' ऐसा कहने मे मै सही हूँ और 'पेन्सिल नही है' ऐसा कहने मे मेरे मित्र विनुभाई भी सही है । परन्तु अपेक्षा से ये दोनो बाते गलत भी सिद्ध होती है । अत- 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता यहाँ उपस्थित होती है । एक तरफ 'पेन्सिल है' यह तथ्य है, दूसरी ओर 'पेन्सिल

नही है' यह भी तथ्य है । जब मै कहता हू कि 'पेन्सिल है' तब जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, यह बात सत्य है, फिर भी जहा तक मेरे मित्र का सम्बन्ध है, यह कथन असत्य बन जाता है ।

यहाँ पर ' स्यात् ' शब्द का प्रयोग करने पर यह एक निश्चित बात हो जाएगी । फिर इसमे किसी के लिए उज्र या विवाद को स्थान नही रहेगा । इस शब्द का प्रयोग करने पर निश्चित तौर से यह सूचित होगा कि, 'मेरे हाथ की अपेक्षा से पेन्सिल है ही ।' मेरे मित्र श्री विनुभाई भी यदि 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करे तो उससे यह बात स्पष्टतया फलित होगी कि 'उनके हाथ की अपेक्षा से पेन्सिल नही ही है । इस 'स्यात्' शब्द ने यहा आकर एक विशिष्ट प्रकार की निश्चित स्थिति का निरूपण किया ।

"जो मेरे पास है सो दूसरे के पास नही है, और जो मेरे पास नही है वह दूसरे के पास है" इस बात का स्पष्ट खयाल मुझे, मेरे मित्र को, तथा सब सुननेवालो को दिलाने के लिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग हुआ है । इसका विशेष स्पष्ट अर्थ यह है कि जब हम 'स्यादस्ति' कहते है, तब यह पद 'पेन्सिल 'मेरे पास है' यह निश्चित कहने के अतिरिक्त 'यह पेन्सिल मेरे हाथ मे ही है उक्त मित्र के हाथ मे नही है' परोक्षत ऐसा भी स्पष्ट सूचित करता है । यहाँ जब 'है' कहा जाता है तब 'कथचित्—अमुक अपेक्षा से' होने की बात कही जाती है ।

इस पर से स्पष्टतया समझ मे आगया होगा कि यह 'स्यात्' शब्द किसी एक वस्तु की किसी एक स्थिति को स्पष्टतः प्रकट करता है । उस वस्तु की उस स्थिति विशेष तक

इस का अर्थ स्पष्ट एव निश्चित है। परन्तु उस वस्तु की उस स्थिति विशेष का विचार करते समय 'उसकी अन्य स्थितियाँ, अन्य अवस्थाएँ तथा अन्य स्वरूप भी होते हैं" यह बात स्पष्टतया सूचित करना भी आवश्यक होने के कारण ही यह 'स्यात्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यदि यहाँ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग न किया हो, तो उसके कारण अर्थात् इस शब्द के बिना निष्पन्न होने वाला निर्णय अनेकान्तात्मक होने के बदले एकान्तात्मक हो जाय। फिर हम भी उस वस्तु की अन्य किसी अवस्था का विचार करना ही छोड दे। इसके परिणाम स्वरूप, एक ओर हमारा निर्णय एकान्तात्मक (ऐकान्तिक) तथा गलत बन जाय, और दूसरी ओर वस्तु की अन्य अवस्थाओ या स्वरूपो के विषय मे विशेष ज्ञान प्राप्ति से हम वचित रह जायें।

इससे स्पष्ट होता है कि यह 'स्यात्' शब्द निरर्थक या सन्देह वाचक नही, बल्कि स्पष्ट, सगीन एव दृढ है।

किसी भी वस्तु का निर्णय करते समय द्रव्य (Substance) क्षेत्र(Place),काल (Time)और भाव (Quality)। इन चार बातो को लक्ष्य मे रखना आवश्यक है। यदि हमारा विचारक्रम इन चारो शर्तो (Conditions) के आधीन न हो तो हमारे निर्णयो (Conclusins) की भी वही स्थिति होगी जैसी कि " अन्धेर नगरी अनबुझ राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा" वाली शिक्षाप्रद हास्य-कथा मे है।

इसलिए यह 'स्यात्' शब्द भिन्न भिन्न अत-अनेकात-का सूचक है और समस्त तत्त्वज्ञान का रहस्य है, यह हमे अच्छी तरह समझ लेना होगा। यदि हम इस शब्द को छोड दे तो

हमारी विचारधारा एक ही अन्त तक या वस्तु की एक ही अवस्था तक सीमित हो जाएगी। अनेकांत-वाद को स्याद्‌वाद भी कहने का यह एक खास कारण है। यदि हम इस शब्द को छोड कर चले, तो हमारी स्थिति घोर अरण्य मे भटकने वाले अंधे प्रवासी के समान हो जाएगी। फिर हमें उसमे से बाहर निकलने का रास्ता कभी नही मिल सकता।

अब तो 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की सपूर्ण उपयोगिता ध्यान मे आ गई न ?

- इस विषय को कुछ विस्तार से समझने का प्रयत्न करे।

- ससार के भिन्न भिन्न महाद्वीपो तथा देशो मे रहने वाले मनुष्यो की चमडी के रग का विचार करे। इस विश्व मे मुख्यतया पाच रगो की चमडी वाले मनुष्य बसते है जो निम्नानुसार है—भारत मे गेहुँआ रग, चीन मे पीला, अफ्रीका मे काला, यूरोप-अमरीका मे गौर वर्ण, और अमरीका के आदिम निवासियो की चमडी का लाल रग।

यदि कोई पूछे कि 'मनुष्य की चमडी का रग कैसा है ?' तो हम क्या जवाब देगे ? उपरोक्त पाचो रग मनुष्य के है, फिर भी क्षेत्र-भेद से पाच रग अलग अलग है। जब हम 'गेहुँआ रग' कहेगे तब भारतवासियो के सम्बन्ध मे यह कथन सही एव निश्चित है, परन्तु अफ्रीका के निवासियो के सम्बन्ध मे गलत भी है।

'अफ्रीका के मूल निवासियो की चमडी का रग काला है," इस कथन मे कोई भ्रान्ति या सन्देह नही है। जब हम वहाँ के निवासी के विषय मे 'स्यात्+श्याम' यो दो शब्द मिलाकर उत्तर देगे तो उक्त 'स्यात्' शब्द श्याम रग के विषय मे कोई

सदेह या अनिश्चितता उपस्थित नही होने देगा । उसमे 'काला रग' यह तो एक निश्चित बात है ही । परन्तु उसके साथ ही 'स्यात्' शब्द क्षेत्र की अपेक्षा भी सूचित कर देता है, और यह निश्चित तौर पर बता देता है कि अन्यत्र-अन्य क्षेत्रो मे काले रग के सिवाय अन्य रगो की चमडी वाले लोगो का अस्तित्व भी है । इस उदाहरण से विशेष स्पष्ट होगा कि शब्द के प्रयोग मे कोई 'सभावना' या 'सदिग्धता' की बात नही, बल्कि निश्चियात्मकता है ।

एक और उदाहरण ले । एक ही सज्जन के विषय मे बात करे ।

'श्री अवन्तिकाप्रसाद को कीर्ति का बडा भारी मोह है। ये महाशय कीर्ति प्राप्त करने के लिए उदारतापूर्वक धन का व्यय करते है । परन्तु जहाँ कीर्ति न मिलती हो वहाँ—जैसे कि किसी भिक्षुक को—वे एक फूटी कौडी भी नही देते, इतना ही नही, ऊपर से उसे धमकाते है । अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओ के क्षेत्र मे भी ये महाशय बहुत ही कजूस है । घर मे दियासलाई की तूलियो का भी हिसाब रखते है ।

श्री अवन्तिकाप्रसाद के उपर्युक्त शब्द चित्र से फलित होता है कि उनमे उदारता एव कृपणता-दोनो परस्पर विरोधी गुण विद्यमान है । दोनो एक साथ उनमे रहते है । यदि उनके स्वभाव का वर्णन करने का प्रसग हमारे सामने उपस्थित, हो तो किस प्रकार कहेगे ?

'श्री अवन्तिकाप्रसाद उदार हैं ।'

" " " उदार नही है ।'

' " " कजूस है ।'

' " " कजूस नही है ।'

ये इस प्रकार के चार कथन हुए । क्या हम चारो वाक्य एक साथ बोलेंगे ? यो यदि देखा जाय तो चारो बाते सच्ची है । दूसरी तरह से ये चारो बाते गलत भी है । इनमे से किसी एक ही वाक्य को स्वतन्त्र रूप मे बोलेंगे तो वह बात सच भी मानी जाएगी और झूठ भी ।

तब यदि इनमे से किसी भी एक बात को निश्चित तथा असदिग्ध ढग से व्यक्त करना हो तो हम क्या करेंगे ? यहा वही 'स्यात्' शब्द हमारी सहायता करेगा । 'कथचित् उदार है।' ऐसा जवाब हम दे देंगे तो इससे 'ये महाशय कीर्ति प्राप्त कराने वाले क्षेत्र मे अवश्य उदार है' ऐसी एक निश्चित बात मुख्य रूप से व्यक्त करने के साथ साथ गौणरूप से दूसरी निश्चित बात भी समझा सकेगे कि 'अन्य क्षेत्रो मे ये महाशय उदार नही है।'

'स्यात्' शब्द की यह खूबी है । यह बात अत्यन्त शाति, लगन तथा बारीकी से समझ लेनी चाहिए । शायद कोई ऐसा भी कहे कि आपने अवतिकाप्रसाद की उदारता तथा कृपणता का समन्वय करके एक समाधानकारक मार्ग ढूँढ निकाला ।

नही, नही, ऐसा उलटा अर्थ न लगाइये ।

ऐसे बहुत से लोग, जिन्होने स्याद्वाद को भली भाति नही समझा है, इसे 'समन्वय' अथवा 'समाधानकारक मार्ग' (Combination or Compromising Formula) कहते है, और मानते है । यह मान्यता गलत है । पहले तो यह ध्यान मे रखे कि समन्वय समान वस्तुओ का–गुणो का–होता है,परस्पर

विरोधी बातो का समन्वय नही होता । फिर इसमे कुछ समाधान भी नही है। यह किसी प्रकार तोड-जोड करके, इधर उधर से कुछ छूट रखकर तैयार किया हुआ समाधान-मार्ग नही है। यह तो एक स्पष्ट, किसी भी प्रकार की उलझन से रहित बात है । इससे बढकर यह सभी उलझनो को दूर करने की रीति है।

यह एक शुद्ध सत्य का मार्ग है। इसमे अयुक्त या असत्य के साथ समाधान या समूहीकरण नही किया गया है। समाधान मे तो कुछ तोड-जोड करनी पडती है, कुछ छोड देना होता है। समाधान कभी पूर्ण न्याययुक्त, बिल्कुल उचित या तर्कबद्ध हो, यह सभव नही है। यदि ऐसा होता तो, उसके लिए 'समाधान' शब्द के स्थान पर 'अदल इन्साफ' शब्द का प्रयोग किया जाता।

यह भलीभांति समझ लीजिए कि 'स्याद्‌वाद' एक 'तटस्थतावाद का अथवा निष्पक्षतावाद का सिद्धान्त है।' यह सत्य और असत्य को समान दृष्टि से नही देखता। यह किसी एक पर प्रीति और दूसरे पर द्वेष भी नही रखता। इसका पक्षपात केवल शुद्ध न्याय की ओर होता है। असत्य और अन्याय का यह प्रखर विरोधी है।

असत्य स्याद्‌वाद की दृष्टि से एकात है, सत्य को वह अनेकात मानता है ।

समन्वय या समाधान में न्याययुक्त या युक्तियुक्त (Logical) तत्त्व का अभाव होता है, जब कि स्याद्‌वाद तो सुतर्क (Substancial logic) से ओतप्रोत है। किसी एक की हानि से दूसरे के लाभ की बात यहाँ नही है, दूसरे के लिये

कुछ बलिदान करने या छोड देने की बात इसमें नही है । स्याद्वादी जब उक्त महाशय की उदारता बताने के लिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करता है, तब वह उनकी कजूसी को क्षति पहुँचाकर उसकी उदारता की प्रशसा नही करता, उसी तरह जब स्याद्वादी 'स्यात्' शब्द के प्रयोग के साथ उनकी अनुदारता की बात करेगा तब भी उनकी उदारता की अव-गणना करके ऐसा नही करेगा । उसकी बात मे राग, द्वेष, या पक्षपात नही आ सकता । परन्तु वह एक वस्तु का जिस स्वरूप मे दर्शन करता है, उसका वर्णन उस वस्तु के दूसरे स्वरूपो को सदर्भ मे रख कर ही करेगा ।

इस प्रकार दूसरी एक बात यहाँ स्पष्ट होती है कि स्याद्वाद किसी एक ही दृष्टिविन्दु (View point) का निदर्शन नही करता, वह तो अनन्त दृष्टिबिदुओ का एक निष्पक्ष एव तटस्थ 'सग्राहक' है ।

आगे चलकर हम जो सात प्रकार के नय की चर्चा करने वाले है, वह नय तो स्याद्वाद के विराट् स्वरूप का एक अश मात्र है । इसलिए स्याद्वाद को 'सिंधु' और नय को 'बिंदु' को उपमा दी जाती है । ऐसे अनेक 'नयबिंदु' (Reservoirs) मिलकर एक 'स्याद्वादसिंधु' (Ocean) बनाते है ।

फिर यह प्रश्न उठेगा कि "इसे अनेक बिंदुओ का समन्वय क्यो न कहा जाय ? 'समन्वय' शब्द का प्रयोग किस प्रकार होता है सो ऊपर सक्षेप मे कहा जा चुका है । इस बात को जरा विस्तार से समझ लीजिये । पुण्यशाली, भाग्यशाली, उदारचरित, क्षमावान्, सयमी आदि समान कक्षा के गुण जब एकत्रित होते है तब उस क्रिया के लिये 'समन्वय' शब्द प्रयुक्त

होता है। पापी, दुराचारी, व्यभिचारी, क्रोधी, शराबी, चोर आदि समान कक्षा के अवगुण एकत्रित होते हैं तो उसे भी 'समन्वय' कहा जा सकता है। भिन्न भिन्न भाव प्रकट करने वाले एक ही श्रेणी के गुणो या अवगुणो का अलग अलग समन्वय किया जा सकता है, परन्तु परस्पर विरोधी गुणो और अवगुणो का (इकट्ठा) समन्वय नही किया जा सकता।

एक ही वस्तु मे जो अनेक परस्पर विरोधी गुणधर्म दिखाई देते हैं—जो कि अनेकातवाद ने बताये हैं—वे बाहर से आये हुए या लाकर इकट्ठे किये हुए नहीं बल्कि प्रत्येक वस्तु के अपने मूल और अन्तर्गत स्वभाव-स्वरूप ही उसमे विद्यमान होते है।

यदि यह बात भलीभाँति याद रहे तो हम समन्वय या समाधान के भ्रम मे नही पडेगे।

यह बात पुन सिद्ध करती है कि स्याद्वाद कोई अधूरा, सदिग्ध या सन्देह वाचक नही, बल्कि पूर्ण, स्पष्ट असदिग्ध एव निश्चित तत्त्वज्ञान है। वस्तु के परस्पर विरोधी गुणधर्मो को पृथक् कर दिखानेवाले अनेकातवाद के तत्त्वज्ञान का एक विशिष्ट कोष्ठक स्याद्वाद है। यह इन्द्रियग्राह्य नही, मनोग्राह्य है। यदि ये सब बाते पूर्णतया समझ मे आ जाँय तो हम तुरन्त ही कह देगे कि 'स्यात्' शब्द को समझदारी के साथ उपयोग करके बोले हुए वाक्य-पद और उसकी इस दृष्टि से प्राप्त बुद्धि ही असली ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है, इसके सिवा दूसरे जो 'ज्ञान' कहलाते हो वे 'मिथ्याज्ञान' है।

'स्यात्' शब्द का अर्थ अब हम भलीभाँति समझ गये है। यह अर्थ समझने के बाद 'स्याद्वाद' शब्द के विषय मे भी हमे पर्याप्त समझ आ गई है।

इसलिये हमे यह भी समझ मे आ जाएगा कि तत्त्वज्ञान की (विचार की) भूमिका पर इस 'स्याद्' के विना जो कुछ दूसरा है सो सब अज्ञान है।

इसी प्रकार धर्म की (आचार की) भूमिका पर भी स्याद्-वाद एक अद्भुत 'आधार है। यह हमे ससार की सारी विषमताओ को दूर करने के लिए एक अद्भुत कु जी(Mastei key) देता है। यह देखना भी वडा रसप्रद और उपयोगी होगा कि, यह स्याद्वाद हमे जीवनव्यवहार मे किस प्रकार सहायता देता है।

यह बात तो निश्चित है कि स्याद्वाद हमे दैनिक जीवन मे भी अत्यत उपयोगी और मार्गदर्शक है। इसलिए इसमे सदेह नही कि जीवन की उपयोगिता की भौतिक दृष्टि से इस पर विचार करना हम सब को बहुत प्रिय होगा।

इस का विचार करने के पूर्व चार अपेक्षाएँ, पाँच कारण, सात नय और सप्तभगी—इन सब को जरा समझ ले। इसके बाद जीवन मे स्याद्वाद की रोजबरोज की उपयोगिता की चर्चा करेगे तो वह अधिक सरलता से और शीघ्र ही समझ मे आएगी।

अब हम द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की चार अपेक्षाएँ समझने का प्रयत्न करते है। 'अपेक्षा' के स्थान पर हम 'आधार' शब्द का प्रयोग करेगे, जो आसानी से हमारी और सबकी समझ मे आ जाता है।

इस प्रकरण मे कुछ बाते बार बार कही गई है। हमारे मस्तिष्क मे उन बातो को अच्छी तरह जमाने के आशय से ही ऐसा किया गया है, इसलिए पुनरुक्ति दोष के लिए क्षमा माँग कर अब हम आगे बढेगे।

चार आधार

पिछले पृष्ठो मे हमने जिन चार अपेक्षाओ—आधारो का बार बार उल्लेख किया है वे चार शब्द "द्रव्य,क्षेत्र, काल और भाव" अब हमारे लिये अपरिचित नही रहे। आगे हम जो अन्य बातें कहना चाहते है उनमे भी ये चार शब्द बार-बार आयेगे। ये चारो शब्द किसी भी वस्तु के विषय मे निर्णय करने के लिये अत्यत आवश्यक आधारस्तम्भ के समान है। इसलिये हमे अब ये शब्द और उनकी उपयोगिता अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।

इनमें पहला आधार है 'द्रव्य'

द्रव्य का अर्थ है पदार्थ। अग्रेजी मे इसे (Substance) अथवा Matter कहते है। हमे जान लेना चाहिए कि इसमे किस किस वस्तु का समावेश होता है। 'पदार्थ' शब्द के सामान्य अर्थ मे बहुत से पदार्थ, बहुत सी वस्तुएँ, हम अपने सामने देखते है। हमारे चारो ओर इतनी वस्तुएँ पडी है जिनका कोई पार नही। इन सब वस्तुओ के बाह्य स्वरूप को छोडकर जो मूल द्रव्य (Basic material) रहता है उसका 'द्रव्य' नाम से उल्लेख किया गया है। जो द्रव्य या पदार्थ नित्य (Permanent) है, अर्थात् विविध अवस्थाओ का वहन करते है, भिन्न भिन्न स्वरूपो मे भी जो मूल द्रव्य के रूप मे कायम रहते है उन्हे हम द्रव्य मानेगे। स्वरूप या अवस्था बदलने पर भी जो मूल द्रव्य कायम रहता है सो द्रव्य।

उदाहरण के तौर पर अलकार मे सोना, फरनीचर मे लकडी और घडे मे मिट्टी।

पिछले 'परिचय' प्रकरण मे जो छ द्रव्य बताये गये है

उनमे आये हुए 'काल' द्रव्य का इसमे समावेश नही होता, क्योकि काल एक विशिष्ट द्रव्य है। वह एक अविभाज्य वस्तु है, उसके विभाग नही हो सकते। हमने दिन, रात, घटे, मिनट, सैकण्ड आदि भाग काल के किये है, परन्तु वस्तुत वे काल के विभाग नही है। हमने व्यवहार चलाने के हेतु बुद्धि और कल्पना का सहारा लेकर काल के ऐसे विभाग बनाये है, और उन्हे ये सब नाम भी दिये है। प्रात काल, सध्या काल आदि जो काल कहलाते है वे वस्तुत 'काल' नही है, प्रकाश आदि प्रदार्थो का परिणमन मात्र है। काल तो एक नियामक द्रव्य है, अत द्रव्य की अपेक्षा से सबधित विषय मे से हमे काल को अलग ही रखना हे। एक स्वतत्र अपेक्षा अर्थात्-आधार के तौर पर इसका विशेप उपयोग है।

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, शब्द (आवाज), विचार आदि सब द्रव्य हैं, और इन सब पदार्थो का समावेश 'पुद्गल' द्रव्य मे हो जाता है।

किसी भी वस्तु का निर्णय करने के लिए जैन तत्त्ववेत्ताओ ने जो चार आधार बताये है, उनमे से प्रथम अपेक्षा अथवा आधार का विचार करते समय हमे इन सब द्रव्यो (पदार्थो) को अपनी दृष्टि के सम्मुख रखना है। अर्थात् जब भी हम 'द्रव्य की अपेक्षा से' ऐसा प्रयोग करे तब जिसके विषय मे बात करते हो उसके आधारभूत द्रव्य की ओर हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

उदाहरण स्वरूप कुछ वस्तुएँ लेकर उनमे कौनसा द्रव्य है सो समझ ले।

वस्तु	उसका द्रव्य
१ तलवार का मूल द्रव्य—	लोहा
२ टेबल का मूल द्रव्य—	लकडी
३ अगूठी का मूल द्रव्य—	सोना
४ रोटी का मूल द्रव्य—	गेहू
५ चप्पल का मूल द्रव्य—	चमडा

इस प्रकार जब द्रव्य की अपेक्षा से विचार करना हो तब ऊपर कहे मुताबिक खयाल हमे जरूर आएगा।

दूसरा आधार है क्षेत्र'।

'क्षेत्र' शब्द का अर्थ है द्रव्यो के रहने का स्थान। अग्रेजी मे इसे (Place) या (Space) कहते है। क्षेत्र विषयक सामान्य ज्ञान तथा तात्त्विक ज्ञान मे थोडा सा अन्तर है। जो वस्तु जहा अथवा जिसके आधार से पडी हो उस स्थल को हम सामान्य बुद्धि से क्षेत्र मान लेते है। परन्तु इस बात को यदि पूर्णतया समझना हो तो वस्तु के आधार को हम 'क्षेत्र' नही मान सकते।

उदाहरणार्थ—पतीली मे दूध भरा हुआ है, सामान्यतया ऐसा समझा जाएगा कि दूध के रहने का क्षेत्र (स्थल) पतीली है। व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा मानने मे कोई हर्ज नही है। परन्तु 'क्षेत्र की अपेक्षा' विषयक बात को हम बराबर समझना चाहे तो इस प्रकार की मान्यता से हमे धोखा होगा।

पतीली मे दूध के रहने का जो स्थान है वह पतीली से अलग है। इस पतीली को यदि पगाडी पर या अलमारी मे रखे तो पतीली के रहने का स्थान–उसका क्षेत्र–अलमारी नही, परन्तु अलमारी मे वह पतीली जितना अवकाश घेरती है उतना ही पतीली का क्षेत्र है।

इसी तरह पतीली मे दूध का जो क्षेत्र-रहने का स्थल-है वह पतीली के क्षेत्र से भिन्न है। व्यवहार मे ऐसा कहते है कि 'दूध पतीली मे है' परन्तु वास्तव मे दूध उस पतीली मे नही बल्कि उसके भीतर के रिक्त स्थान (अवकाश) मे है। तात्पर्य यह कि जब हम 'क्षेत्र' शब्द का प्रयोग करते है तब किसी भी दूसरी वस्तु के आधार से रहित स्थल का-क्षेत्र का- उल्लेख करते है। इसमे आवश्यकतानुसार अपनी विवेकबुद्धि का उपयोग करके निर्णय करना चाहिये।

पतीली स्टेनलेस स्टील की हो चाहे पीतल की, उसमे जब हम दूध भरते है तब स्टेनलेस स्टील या पीतल जिस स्थान पर है वही रहता है और दूध भी जहाँ होता है वही—पतीली के भीतर के रिक्त स्थान मे—रहता है। अत दूध को एक स्थान मे रहने का आधार भले पतीली ने दिया हो, परन्तु दोनो अपने अपने स्थान मे—क्षेत्र मे—अलग है।

जब हम आकाश मे उडते हुए किसी पक्षी को देखते है तब आकाश और पक्षी एक ही स्थान पर होते है। आकाश वहा है और पक्षी भी वहा है, परन्तु दोनो का क्षेत्र एक नही है। जैन दार्शनिको के मतानुसार आकाश स्वय ही एक मात्र क्षेत्र है, जब कि बाकी के द्रव्य 'क्षेत्री' है। फिर भी व्यावहारिक ज्ञान के लिए यहाँ हम यह मान कर चलते है कि जिस प्रदेश पर आकाश आया हुआ हो उस प्रदेश मे उसका क्षेत्र है। उदाहरणार्थ किसी गाँव, शहर या प्रदेश के ऊपर जो आकाश दिखाई देता है, उस 'दृश्यमान आकाश के लिए हम केवल उदाहरण के तौर पर मान लेते है कि अमुक स्थल या प्रदेश के ऊपर का भाग उस आकाश का क्षेत्र है। आकाश एक द्रव्य

(शुद्ध द्रव्य) है, जब कि पक्षी भी एक द्रव्य (सगठित द्रव्य) है। यहा पर पक्षी जिस प्रदेश मे है वह पक्षी का क्षेत्र है और आकाश जिस प्रदेश मे है, वह आकाश का क्षेत्र है। यह समझ लेने पर स्पष्ट हो जाएगा कि आकाश और पक्षी–दोनो द्रव्य अपने अपने क्षेत्र मे अलग अलग है। इसी तरह आकाश मे जो सूर्य, चन्द्र, तारे आदि दिखाई देते है उन सबका क्षेत्र पृथक् पृथक् है, और आकाश का क्षेत्र भी इन सब के क्षेत्र से भिन्न है। हम क्षेत्र की अपेक्षा की—क्षेत्र के आधार की—बात करे तब इस बात को बराबर ध्यान मे रखना चाहिए। उदाहरण के तौर पर जब कोई कहता है कि 'मै कुर्सी पर बैठा हूँ' तब उसके बैठने का क्षेत्र और स्वय कुर्सी जहाँ है वहाँ उसका क्षेत्र, ऐसे दोनो क्षेत्र अलग अलग है, एक नही।

इस विषय को समझने के लिये कुछ सीधे सादे उदाहरण लेते है —

१) लिखते समय मेरे हाथ मे रही हुई पेन्सिल का क्षेत्र मेरा हाथ है।

२) जिस पर लिखा जाता है उस कागज का उस वक्त का क्षेत्र टेबल है (टेबल पर अमुक भाग)।

३) भारत के प्रधान मत्री का कार्यक्षेत्र भारत देश है।

४) व्याख्यान देने वाले वक्ता का उस समय का क्षेत्र व्याख्यानमच अथवा व्याख्यानहॉल है।

५) बादलो का क्षेत्र आकाश है (आकाश के जितने विस्तार मे वे हो)

तात्पर्य यह है कि 'क्षेत्र की अपेक्षा से' जब विचार किया जाय तब 'प्रत्येक वस्तु के द्रव्य का क्षेत्र—उसके रहने का स्थान'

यह अर्थ समझना चाहिए। विवेक बुद्धि का उपयोग यहाँ भी करना चाहिए।

तीसरा आधार 'काल' है।

यहाँ काल का अर्थ है 'जिस वस्तु का, वस्तु के द्रव्य का—हम विचार करते हो उसके उस अस्तित्व का समय। जब वस्तु मे परिवर्तन होता है, तब जिस समय यह परिणमन होता है वह उसका 'काल—समय' है। द्रव्य के तौर पर काल स्वय एक अलग पदार्थ है। जिस वस्तु का जिस समय परिणमन होता है वह समय उस वस्तु के परिणमन का समय है।

एक समय पर अनेक वस्तुओ का परिवर्तन हो रहा होता है, परन्तु ऐसा नही कहा जा सकता कि इन सब वस्तुओ का परिणमन—परिवर्तन—एक ही काल मे हुआ। प्रत्येक वस्तु का परिवर्तन जिस समय हुआ वह समय, उस वस्तु के परिणमन का अपना समय है, अपना काल है—यो समझना चाहिए।

यह बात कुछ अटपटी मालूम होगी। परन्तु यहाँ जब हम काल या समय के विषय मे कहते है तब काल या समय की खुद की बात नही करते, बल्कि हमे जिस जिस वस्तु से सबधित 'काल का—समय का' विचार करना है उस वस्तु के सदर्भ मे कालका उल्लेख करते है। घडी की सुई की दृष्टिसे काल-समय एक ही है, फिर भी वह समय घडी की सुइयो का है, अन्य वस्तुओ के परिवर्तन का नही। इस दृष्टि से जब हम काल की अपेक्षा के विषय मे कहते है तब जिस वस्तु का हम विचार करते है, उस वस्तु के परिणमन के समय की अर्थात् उस वस्तु के अपने समय की बात की जाती है।

इस बात को जरा और स्पष्ट करेंगे। आम और केला दोनो फल है। हमने दो भिन्न भिन्न टोकरो मे आम और केले रखे हैं। संवत् दो हजार सत्रह (२०१७) के वैसाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन सुबह सात बजे दोनो टोकरे खोलने पर पता चलता है कि आम और केले दोनो फल पक कर खाने योग्य बन गये है। जब दोनो प्रकार के फल पक कर खाने योग्य—तैयार—हो गये तब उस दिन सुबह के सात बजे थे।

अब, यह आम का टोकरा दस दिन पहले ला रखा था, जब कि केले अगले दिन शाम को ही लाकर रखे हैं। जब लाकर रखे तब दोनो प्रकार के फल कच्चे थे। दोनो खाने योग्य—पक कर तैयार तो उपर्युक्त दिन को सुबह सात बजे हुए। यहाँ ध्यान समझने की बात यह है कि इन दोनो फलो के पकने का समय सुबह सात बजे का नही है। आम और केले के अलग अलग पकने के काल का—समय का प्रश्न जब उपस्थित हो तब उचित समझ तथा गिनती के द्वारा हम कहेगे कि आम का (पकने का) समय दस दिन का है और केलो का (पकने का) समय बारह या सोलह घंटो का है। (आम को पकने मे दस दिन का समय लगा और केलो को बारह या सोलह घंटो का) इस दृष्टि से इन दोनो का—कच्चे से परिवर्त्तित होकर पके फल बनने का काल—समय—अलग अलग है।

साधारण समझ के लिये कुछ और उदाहरण लेते हैं।

१) ऋषभदेव भगवान के निर्वाण के बाद का समय अगणित लाखो वर्ष।

२) वर्षा होने का समय = चौमासा (इसी तरह अन्य ऋतुओं का समय भी समझिये)।

३) भगवान् महावीर के आयुष्य का काल = उस समय के ७२ वर्ष।

४) तीर्थंकर प्रभु के निर्वाण का काल = जिस समय निर्वाण प्राप्ति हुई सो।

५) पानी मे मिट्टी के घुलने का काल = दोनो का मिश्रण होने मे जितना समय लगे सो।

इस प्रकार जब किसी वस्तु के सबध मे काल की अपेक्षा की बात करते है तब उससे उस वस्त के उद्भव सम्बन्धी, परिणमन का, अस्तित्व का तथा कार्य करने का काल समझना चाहिए। इसमे भी विवेक-बुद्धि का भलीभाँति उपयोग करना चाहिए।

चौथा आधार है 'भाव'।

यहाँ 'भाव' शब्द का अर्थ है 'वस्तु के गुण धर्म'। उदाहरणार्थ रूप, रस, गध, स्पर्श, आकृति, कार्य (Function) आदि सब 'भाव' के अन्तर्गत है। सक्षेप मे, वस्तु के गुण, शक्ति तथा परिणाम को भाव' कहा जाता है। अग्रेजी मे इसे Quality and functions of the substance कहते है। ये गुण धर्म, लक्षण, प्रकार, जाति, वर्ग आदि समय समय पर बदलते (Everchanging) रहते है।

यह भाव प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना स्वभाव है। प्रत्येक वस्तु के स्वभाव भिन्न भिन्न होते है। एक वस्तु के स्वभाव की 'समानता' दूसरी वस्तु के स्वभाव से हो सकती है, परन्तु एकता नही होती। अर्थात् प्रत्येक वस्तु का अपना अपना अलग भाव-स्वभाव होता है और परिवर्तनशील (Changing) होता है।

इसलिए जब 'भाव की अपेक्षा' लेकर निर्णय करना हो तब जिस वस्तु के विषय मे विचार करते हो, उस वस्तु के खुद के गुण धर्मो को ध्यान मे लेना चाहिए।

इस बात को भलीभाँति समझने के लिए कुछ उदाहरण लेते है.—

१) 'काला या लाल रग' घडे का भाव है।
२) 'मिठास' शक्कर का भाव है।
३) 'रूप या कुरूप' मनुष्य का बाह्य भाव है।
४) 'स्वार्थ अथवा परमार्थ' मनुष्य का आतरिक भाव है।
५) 'उष्णता' अग्नि का तथा 'शीतलता' पानी का भाव है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के अपने अपने गुण धर्म और स्वभाव आदि का विचार करके 'भाव की अपेक्षा' का निर्णय करना चाहिये। इसमे भी विवेक-बुद्धि का उपयोग आवश्यक है।

इन चारो आधारो को (अपेक्षाओ को) अच्छी तरह समझने के लिये एक सयुक्त उदाहरण लेते है। एक वस्तु को लेकर अलग अलग अपेक्षा से किस प्रकार निर्णय होता है सो देखे।

एक ऐरोप्लेन—विमान—का उदाहरण लीजिये।

द्रव्य —अल्युमिनियम, लोहा, लकडी, आदि जिन पदार्थो का विमान बनाने मे उपयोग हुआ वे विमान के द्रव्य है।

क्षेत्र —यहाँ उत्पादन तथा कार्य-ऐसे दो क्षेत्र है। यह लदन मे बना है, इसलिए उसका उत्पादनक्षेत्र 'लदन' है, अथवा लदन मे जिस स्थान पर उसे बनाने का कारखाना हो वह 'स्थान' उसका क्षेत्र है। कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत वह क्षेत्र आता है जहाँ वह जिस समय पडा हुआ हो अथवा उडता हो। पड़ा हुआ हो तो 'हवाई अड्डा' (एरोड्रोम) और उड़ता हो तो

'आकाश' ये उसके क्षेत्र हुए। इन दोनो मे से मुख्यतया जिस का जिक्र चल रहा हो वह क्षेत्र समझना चाहिए।

काल –इसमे भी उत्पादन और कार्य का-यो दो प्रकार के काल आते हैं। उसे बनाते वक्त जो समय हो वह उसका उत्पादनकाल है, और जब वह गति कर रहा हो तब का समय उसके कार्य का 'काल' है। दोनो मे से मुख्यतया जिसकी बात चल रही हो वह काल लेना चाहिए।

भाव-—उसका रग, रूप, आकृति, और कार्य—ये उस विमान के भाव है। सामान्यतया उसका कार्य आकाश मे उड्डयन करना है इसलिए 'उड्डयन' (आकाश मे उडना) विमान का 'भाव' है।

जैन तत्त्ववेत्ताओ ने घट (घडा) दृष्टान्त के रूप मे लिया है। उसमे'मिट्टी'उसका 'द्रव्य' है। जहाँ बनाया या रखा हो वह उसका 'क्षेत्र' है। जब बना या जिस समय रखा हो वह उसका 'काल' है और 'काला या लाल रग' उसका भाव है।

अब उपर्युक्त चारो अपेक्षाओ मे एक और महत्त्व की बात समझ लेनी चाहिए। यह बात है इन अपेक्षाओ के 'स्व' और 'पर' इन दो विभागो की। ये 'स्व' तथा 'पर' दो अलग अलग भाव है। इन दोनो शब्दो को हम बराबर समझ ले।

सप्तभगी के प्रथम दो पदो मे (प्रथम और द्वितीय भग मे) 'है' और 'नही है' इस प्रकार के दो कथन किये गये है। ये कथन 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से किये गये है।

'स्व' अर्थात् अपना और 'पर' अर्थात् 'अपना नही सो' यानी पराया।

इस प्रकार जब अपेक्षा की बात करते है, तब दो प्रकार

मे करते है—एक तो 'स्व-द्रव्य,स्व-क्षेत्र, स्व-काल, और स्व-भाव' और दूसरा 'पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल, और पर-भाव। इस तरह प्रत्येक वस्तु का निर्णय करने मे कुल आठ अपेक्षाएँ हुई ।

वस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मे जब 'स्व' शब्द जोडा जाता है तब उससे 'अस्ति' अर्थात् 'है' ऐसा निर्देश होता है। उसी तरह इन चारो अपेक्षाओ मे जब 'पर' शब्द जोडा जाता है, तब उससे 'नास्ति' अर्थात् 'नही' ऐसा निर्देश होता है।

तात्पर्य यह कि इन चारो मे जब स्व-स्वरूप की अपेक्षा होती है तब हम 'है' ऐसा कहते है, और जब परस्वरूप की अपेक्षा होती है तब हम 'नही है' ऐसा कहते है।

इन चारो अपेक्षाओ के लिए 'चतुष्टय' शब्द प्रयुक्त होता है। चारो का एक साथ उल्लेख करना हो तब इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्व और पर' शब्दो को चतुष्टय शब्द के साथ लगाकर 'स्वचतुष्टय' और 'परचतुष्टय' ये शब्द प्रयुक्त होते है।

इन चारो आधारो की, उनके चार 'स्व-स्वरूपो' की और चार 'पर-स्वरूपो' की विशेष चर्चा सप्तभगी विषयक प्रकरण मे की जाएगी। इसके अतिरिक्त, उससे पहले 'अपेक्षा' शब्द की विस्तृत जानकारी के लिए 'अपेक्षा' नामक एक प्रकरण भी आगे के पृष्ठो मे आने वाला है। अत इसका यहाँ सक्षेप मे विवरण किया गया है। जो कुछ ऊपर लिखा गया है, उसे भली भाँति सोच विचार कर समझ लेने से बाद मे की जाने वाली चर्चा विवेचना को समझने मे हमे बडी आसानी होगी।

अब हम 'पाँच कारण' इस विषय पर कुछ विचार करे।

पाँच कारण

इस दुनिया मे जो कुछ कार्य होता है उसके पीछे कोई न कोई कारण तो होना ही चाहिए, होता ही है। कुछ कारण दृश्य होते है, कुछ अदृश्य, कोई ज्ञात होते है कोई अज्ञात होते है।

सूर्य उगता है और अस्त होता है। रात जाती है, दिन आता है, मनुष्य जन्म लेता है, और मरता है। सुख, दु ख, गरीबी, अमीरी, तन्दुरुस्ती, बीमारी आदि बातो से लगाकर परमाणु बम तथा हाइड्रोजन बम की उत्पत्ति, अवकाश-उड्डयन, रॉकेट मे से छूटे हुए उपग्रहो का पृथ्वी तथा चन्द्र के चारो ओर उड्डयन-परिभ्रमण—तक की सारी घटनाएँ हम अपनी आँखो के सामने होती हुई देखते है।

इस विश्व मे अनादि काल से ऐसे अनेक कार्य होते रहे है, हो रहे है, तथा अनन्त काल तक होते रहेगे। इनमे से कई कार्यों के कारण हमे समझ मे आते है, बहुतो के हमे समझ मे नही आते। प्रज्ञा की परिमितता (सीमित बुद्धि) के कारण बहुत सी घटनाओ के कारण हम समझ नही पाते।

फिर भी इस विषय मे हम सब एकमत है कि इन सब कार्यों के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है।

भिन्न भिन्न तत्त्वविशारदो ने भिन्न भिन्न कारण ढूँढ निकाले है। जैन तत्त्ववेत्ताओ ने इन सब के लिए पाँच कारण बताये है। इन पाँच कारणो को अलग अलग तौर पर स्वीकार करने वाले मत भी है, परन्तु जैन दार्शनिको का कथन है कि, सामान्यतया ये पाँचो कारण इकट्ठे होने पर ही कार्य होता है। उनका यह दावा है कि सामान्यतया ये पाँचो कारण जब तक साथ नही मिलते तब तक कोई भी कार्य बनता ही नही, होता ही नही।

चलिए, अब हम इन पाँचो कारणो की जाँच करें। इन पाँचो कारणो का क्रम निम्नानुसार है—

१ काल (समय-Time)

२ स्वभाव (वस्तु का अपना गुणधर्म—Quality or function)

३ भवितव्यता या नियति (अगम्य शक्ति—Abstruse Potentiality)

४ कर्म या प्रारब्ध (नसीब—Luck)

५ उद्यम या पुरुषार्थ (प्रयत्न—Efforts)

पाँचो कारणो के ये नाम हुए।

इस विषय मे भिन्न भिन्न अभिप्राय प्रचलित है। कई लोग केवल काल को ही कार्य का कारण मानते है। अपने आप को 'स्वभाववादी' कहने वाले मताग्रही लोग प्रत्येक कार्य के लिए केवल स्वभाव को ही जिम्मेदार मानते है। जो लोग भवितव्यता-नियति को मानते है, वे प्रत्येक कार्य के लिये नियति के सिवा और कोई कारण मानने से इन्कार करते हैं। चौथा मत 'कर्म-कारणवादी' वर्ग का है। ये लोग कर्म के सिवा अन्य किसी वस्तु को कारण रूप मे स्वीकार ही नही करते। जब कि पुरुपार्थ को मानने वाले उद्यमवादी जगत मे बनने वाले सारे कार्य के लिये उद्यम के सिवा और कोई कारण ही नही मानते। जैन तत्त्ववेत्ताओ का कथन है कि, "ये पाचो कारण प्रत्येक कार्य के पीछे गति देने वाले है, (Guiding force)—जब तक ये पाँचो कारण एकत्र नही होते तब तक सामान्यतया कोई भी कार्य नही होता।

अब हम 'एक कारणवादी' मत की बात सुने।

काल'–केवल काल को ही कारण मानने वाले कहते है कि 'प्रत्येक वस्तु अपने ममय पर ही उत्पन्न होती है, और अपने समय पर ही नष्ट होती है। गर्भ मे से वालक, दूध मे से दही, अनाज मे से रसोई, बीज मे से वृक्ष, वृक्ष मे मे फल आदि सव अपने समय पर ही होता है। चक्रवर्ती, तीर्थंकर, अवतार वचपन, यौवन, वृद्धावस्था, जन्म, मृत्यु आदि मव काल के ही विपाक है। काल को छोड कर कोई कार्य हो ही नही सकता। प्रत्येक कार्य के लिये केवल काल ही जिम्मेदार है।' ये लोग स्वय काल को भी काल का ही कार्य मानते है।

स्वभाव –यहाँ फिर याद दिलाने की आवश्यकता है कि स्वभाव से तात्पर्य मिस्टर टॉम, डिक या हैरी नाम धारी व्यक्तियो का भला बुरा स्वभाव नही, वल्कि प्रत्येक वस्तु का जो स्व+भाव है, गुणधर्म है, सहज स्वभाव है, उसके अर्थ में 'स्वभाव' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'स्वभाव मे माननेवाले स्वभाव-वादी लोग' ऐमा मानते हैं कि जगत का कारण स्वभाव ही है। उनका कहना है कि वन्ध्या कभी पुत्र नही जनती, हाथ की हथेली मे, पैर के तले मे या स्त्रियो के मुख पर कभी वाल नही उगते, नीम के वीज मे से आम कभी नही उगता, आम की गुटली मे से केले का या नारियल का पेड नही उगता, मोर के पख केवल मोर के शरीर पर ही उगते है, सन्ध्या के रग, बवूल के काँटे, भिन्न भिन्न फल, पर्वत की स्थिरता, वायु की अस्थिरता या चचलता, अग्नि की ऊर्ध्वता आदि सव काल का नही वल्कि स्वभाव का ही परिणाम है। अर्थात् स्वभाव के कारण ही होना है।

मछलियाँ, तू वे, पानी मे तैरते हैं, कौआ और पत्थर पानी मे डूबते है, सूंठ खाने से वायु का शमन होता है, हर्र से विरेचन (जुलाव) होता है, कोकडुदाना नही गलता, अस्थि मे से शख, उष्णता के स्वभाव वाला सूर्य, शीतलता के स्वभाव वाला चन्द्र, मुंह मीठा करने वाली ईख, आदि सभी द्रव्य अपने अपने 'स्व-गुण' के स्वभाव के अनुसार वरतते है, अत कार्य का कारण काल नही परन्तु स्वभाव ही है।

भवितव्यता:—जो लोग भवितव्यता को कारण मानते हैं वे सब काल और स्वभाव का तिरस्कार करते है। उनका कहना है कि 'जो न होने वाला हो वह नही होता।' भवितव्यतानुसार जो होने वाला होता है सो हुए विना नही रहता। नियति जिस ओर मनुष्य के मन को खीच लेती है, उस ओर मनुष्य विवश होकर खिचता है। यदि नियति (भवितव्यता) अनुकूल हो तो विना सोचे ही कार्य हो जाता है।

'वसन्त ऋतु मे आम्रवृक्ष की प्रत्येक डाली पर लाखो वौर उगते है। उनमे से कितने ही झड जाते है, कुछ अचार की केरी, कुछ आम और कुछ साख वनते है। गर्भ में से जन्म लेने वाले सभी जीते नही। यह सव प्रत्येक की अपनी अपनी भवितव्यता का सूचक है।' वे एक मजेदार दृष्टान्त भी देते है—

"एक पक्षी वृक्ष पर वैठा वैठा कल्लोल कर रहा है। जमीन पर कुछ दूर एक शिकारी तीर कमान लिये उस पक्षी का शिकार करने आता है। धनुष्य पर वाण रख कर उस पक्षी को मारने के लिये निशाना ताकता है। दूसरी ओर आकाश मे ऊँचे उडते हुए एक वाज की नजर भी उस पक्षी पर पडती है। उस पक्षी को अपनी चोच मे लेने के लिये,

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये रोकेट की सी तेजी से वह बाज नीचे आ रहा है।

इस पक्षी पर तो घोर विपत्ति आ ही पडी है। एक ओर से शिकारी का बाण और दूसरी ओर से बाज की झपट। इन दो मे से किसी भी एक के कारण इस पक्षी की मृत्यु लगभग निश्चित मालूम होती है।

परन्तु होता यह है कि एकाएक सर्प तीर छोडने को तत्पर शिकारी के पैर मे दश देता है, खिचा हुआ तीर छुट तो जाता है, निशाना चूक जाने से उस पक्षी को लगने के बदले, उस पक्षी का शिकार करने के लिये ऊपर से आते हुए बाज को विध देता है। वह पक्षी वहाँ से सही सलामत उड जाता है। शीघ्र ही अपना लक्ष्य पाने के ध्यान मे लीन बाज, उस पक्षी को मारने के बदले स्वय मरता है, पक्षी को विध कर पेड के नीचे गिराने और अपने घर ले जाने के मनोरथ वाला शिकारी स्वय शिकार बन जाता है। जिसकी मृत्यु निश्चित दिखाई देती थी, वह पक्षी अद्भुत प्रकार से बच जाता है।

ऐसी त्रिविध घटना का उदाहरण देकर भवितव्यतावादी पूछता है, "इसमे नियति को छोडकर और कौन सा कारण हो सकता है? अवश्य यह भवितव्यता का कारण ही था।" इससे आगे बढकर वे कहते है कि "गाढ जगल मे से और खूखार युद्ध के मैदान मे से मनुष्य जीवित लौटते है और घर के बिछौने मे सोये सोये मर जाते है। ऐसी सब घटनाओ के लिए केवल भवितव्यता के अतिरिक्त और कौनसा कारण हो सकता है?" उनकी मान्यता है कि 'केवल भवितव्यता ही

इन सव के लिये कारणभूत या जिम्मेवार है और यह एक ही कारण सभी कार्यो के लिए कारणभूत है ।'

यहाँ हमे भवितव्यता का अर्थ भली भाति समझ लेना चाहिए । सामान्य लोग इस शब्द के दो अर्थ करते हैं —

(१) कर्म के द्वारा मनुष्य का जो नसीव या प्रारब्ध वना है सो,

(२) ईश्वर की कृपा अथवा ईश्वर की इच्छा । " मै करता हू, मैने किया यह मानव मिथ्या वकता है, पर ईश्वर की आज्ञा विना पत्ता नही हिल सकता है, ऐसा कहने और मानने वाले भवितव्यता या नियति का अर्थ ' केवल ईश्वर की इच्छा ही' कहते हैं ।

ये दोनो अर्थ ठीक नही हैं । यहाँ 'भवितव्यता' शब्द का प्रयोग इन दोनो मे एक भी अर्थ मे नही किया गया है । जैन तत्त्ववेत्ताओ ने कर्त्ता के स्वरूप मे किसी ईश्वर का अस्तित्व नही स्वीकार किया है । कोई कार्य करने की 'इच्छा' एक मानव सुलभ वृत्ति है और जिसमे ऐसी वृति हो वह ईश्वर नही कहला सकता, जैन तत्त्ववेत्ताओ का यह कहना है ।

हिन्दू धर्म मे ईश्वर के दो स्वरूपो की कल्पना की गई है- साकार और निराकार । उन्होने इन दोनो स्वरूपो को क्रियाशील, कर्त्ता-स्वरूप माना है । जैन तत्त्वज्ञान इस वात को स्वीकार नही करता । यह एक अलग ही विषय है, जिसकी यहाँ चर्चा करने से विषयान्तर हो जाने की सभावना है । इसलिए यहाँ तो हमे जैन दार्शनिको के अनुसार भवितव्यता अर्थात् नियति के अर्थ का निरूपण करके रुक जाना होगा ।

जैन तत्त्ववेत्ताओ के अनुसार भवितव्यता अर्थात् नियति का अर्थ है, 'जो निश्चित हो चुका है।' वे मानते है कि 'उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-काल के इन दो विभागो मे से प्रत्येक मे बारह चक्रवर्ती और चौवीस तीर्थंकर ही होते है— ऐसा जो निश्चित क्रम है उसके लिए भवितव्यता एक कारण है। यह कारण अन्य चार कारणो से मिलकर कार्य करवाता है, ऐसा उनका मत है। सभी कार्यो के पीछे यही एक ही कारण होता है, ऐसा वे नही मानते।

जैन दार्शनिको का यह मत समझ लेना आवश्यक है। उनके मतानुसार प्रत्येक कार्य के पीछे पाँचवे अनिवार्य कारण के रूप मे नियति है ही।

इस विश्वरचना मे तथा ससार की घटनाओ मे ऐसे कितने ही कार्य होते है, जिनके पीछे काल, स्वभाव, कर्म और उद्यम रूप चार कारणो के अतिरिक्त कोई अगम्य कारण भी रहा हुआ होता है। जब ये चारो कारण कम पडते हैं, तब इन चारो को साथ रखकर पाँचवाँ कोई कारण भी काम करता है। उदाहरणार्थ जैन शास्त्र मे काल के जो दो विभाग बताये गये है (जिनका पहले और यहाँ भी अभी अभी उल्लेख हो चुका है) उनमे कुछ कार्य क्रमश और निश्चित ढग से होता है। उत्सर्पिणी काल रूप, रस, गध, शरीर, आयुष्य, बल आदि वैभवो की क्रमश उन्नति का काल है जब कि अवसर्पिणी काल उन वैभवो को क्रमश अवनति का काल है। अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ मे मनुष्य के शरीर का जो प्रमाण या कद होता है वह क्रमश कम होता जाता है, इसी प्रकार मनुष्य का आयुष्य भी क्रमश. कम होता जाता है। अवसर्पिणी काल पूरा होता

है और उत्सर्पिणी का प्रारम्भ होता है तब से कद और आयु प्रमाण बढता जाता है। यह क्रम कालचक्र के प्रत्येक विभाग मे निश्चित रूप से होता है। इन सबके पीछे एक कारण के रूप मे 'भवितव्यता' मुख्य या महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि किसी भी कार्य के लिए जैन दार्श-निको ने भवितव्यता या नियति को एक मात्र तथा स्वतन्त्र कारण नही माना।

दूसरी एक ध्यान मे रखने की बात यह है कि 'जहाँ चार कारण एकत्रित होकर कार्य को पूर्ण नही कर सकते वही नियति आती हो, ऐसा नही है। प्रत्येक कार्य मे सब मिलाकर पाँचो कारण सामान्यतया काम करते है। प्रत्येक कार्य मे भिन्न भिन्न अपेक्षा से अमुक एक कारण मुख्य-प्रधान-भाग लेता हो तब अन्य चार कारण गौण रूप मे होते है। अत जहाँ नियति के सिवा अन्य कारण मुख्य या गौण रूप मे होते है, वहाँ भी नियति एक पाँचवे कारण के रूप मे अनिवार्यत होती ही है। जब ईश्वर कर्तृत्वादी लोग ईश्वर की इच्छा रूप भवितव्यता की बात करते है तब वे इस एक मात्र कारण को सर्व कार्य नियता मानते है, जब कि जैन तत्त्वज्ञानी भवितव्यता को पाँचो कारणो मे से एक का स्थान देते है। यह बात बराबर समझ लेनी चाहिए। एक मात्र नियति को ही सर्व कार्यो के कारण के रूप मे मान ले तो कर्म (प्रारब्ध) और पुरुषार्थ की सारी बात ही खत्म हो जाती है।

पुन मूल बात पर आते हुए हम इतना स्पष्टतया समझ लें कि यहाँ भवितव्यता या नियति का जो उल्लेख हुआ है उसका अर्थ 'ईश्वर कृपा', या 'नसीब', या 'प्रारब्ध' नही है।

यह नसीब या प्रारब्ध तो चौथे कारण के अन्तर्गत आजाता है, जिसे हमने 'कर्म' नाम दिया है।

कर्म—कर्म को कारण मानने वाले कर्मवादियो के लिए दूसरा सरल, अर्थ स्पष्ट करने वाला शब्द प्रारब्धवादी है। सामान्य लोग साधारणत प्रारब्ध के लिये 'नसीब' या 'भाग्य' शब्द का प्रयोग करते है। 'जैसा जिसका नसीब' ये शब्द जब कहे जाते है तब उनका अर्थ 'पूर्व के कर्मो द्वारा बना हुआ प्रारब्ध' होता है। इस एक ही वस्तु को सब कार्यो का कारण मानने वाले स्वयं को 'कर्मकारणवादी' कहते हैं। वे लोग काल, स्वभाव, तथा भवितव्यता को नही मानते। उनका कथन है कि

"जगत मे कर्म जो कुछ करता है वही होता है। कर्म से जीव कीडा, तिर्यच, मनुष्य या देव बनता है। कर्म से ही राम को वनवास भोगना पडा, कर्म से ही सीता को कलक लगने की तथा अग्नि परिक्षा देने की स्थिति मे पडना पडा। केवल कर्म रूप एक ही कारण के प्रताप से रामायण, महाभारत और पानीपत के युद्ध हुए, वर्तमान युग के दो विश्वयुद्ध, तथा हिट-लर का पतन, रावण का नाश, कृष्ण का वध, ईसा को क्रॉस, और गाधीजी का पिस्तोल की गोली से मरण आदि सब कर्म के ही कारण हुए। कर्म से ही राजा या रक बनते हैं, उद्यम करने वाला एक व्यक्ति भटकता है और कर्म के फल से दूसरा सोता सोता सभी फलो को प्राप्त करता है।"

"कर्म से ऋषभदेव प्रभु को एक वर्ष तक अन्न नही मिला, और कर्म से ही महावीर प्रभु के कानो मे कीले ठोकी गई। कर्म से ही नेपोलियन शाहशाह बना तथा कर्म से ही वह कैद हो कर कारावास मे मरा।"

जैसे भवितव्यता वादियो ने पक्षी का दृष्टान्त दिया है वैसे ही ये कर्म-कारणवादी भी दूसरा एक मनोरजक दृष्टान्त देते है—

"एक स्थान पर अच्छी तरह वन्द किया हुआ एक टोकरा पडा था। इसमे खाने की कुछ वस्तु होगी, यह मानकर एक भूखे चूहे ने उस टोकरे मे घुमने के लिये छेद करने का उद्यम प्रारभ किया। स्वय उस टोकरे मे प्रविष्ट हो सके, इस हेतु से उस चूहे ने टोकरे को कुतरना शुरू किया और कुतर कुतर कर उसमे एक छेद वना डाला।

इस टोकरे मे किसी ने एक साँप वन्द कर रखा था। कई दिन का भूखा यह साँप, यह जानकर कि टोकरा कुतरा जा रहा है, अन्दर तन कर बैठ गया। ज्यो ही वह चूहा टोकरे मे घुमा त्योही साँप के मुँह मे जा गिरा। साँप को भोजन और मुक्ति दोनो एक साथ ही मिल गये। चूहे को खाकर, चूहे के द्वारा कुतर कुतर कर वनाये हुए छेद मे होकर वह साँप वाहर निकला और वन मे चला गया।"

'यहाँ उद्यम तो चूहे ने किया। परन्तु उद्यम करने वाला मारा गया, और अन्दर वन्द किया हुआ साँप वहाँ से मुक्ति पाकर निकल गया। तव कहिये, इसमे कर्म ही वलवान है या और कुछ?' ऐसी वात कहकर, इस दृष्टान्त के द्वारा कर्म-कारणवादी कहते हैं, कि 'इस जगत मे होते हुए सभी कार्यो का कारण केवल कर्म ही है।'

यहाँ 'कर्म' शब्द के अर्थ के विषय मे कुछ गडवडी न हो, इसलिए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हम जो उद्यम, पुरुषार्थ या कार्य करते है उसके अर्थ मे 'कर्म' शब्द का यहाँ प्रयोग नही हुआ है। साधारणतया वर्तमान मे किये जाते हुए

कार्य भी कर्म कहलाते है, परन्तु यहाँ पूर्वकृत कर्म और उनके द्वारा बने हुए प्रारब्ध के अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

उद्यम —हमे यहां 'उद्यम' शब्द को पुरुषार्थ के अर्थ मे लेना है। उद्यमवादी केवल उद्यम को ही सब कार्यो का कारण मानते है। वे क्या कहते है सो भी सुन ले—

"काल, स्वभाव, नियतिया कर्म असमर्थ है, एक मात्र उद्यम ही समर्थ है। उद्यम से श्री रामचन्द्रजी ने सागर पार किया, उद्यम से ही उन्होने लका का राज्य जीत कर विभीषण को दिया, पुरुषार्थ से ही पाडवो ने कौरवो को हराया।"

"उद्यम के विना न खेत मे अनाज उत्पन्न होता है, न तिल मे से तेल निकलता है। उद्यम किये विना एकेन्द्रिय लता भी वृक्ष पर नही चढ सकती, उद्यम करके बीज वोये विना फसल नही होती, तैयार भोजन का कौर भी उद्यम के विना मुँह मे नही आ गिरता, एक वार यदि उद्यम से कार्य सिद्ध न हो तो दूसरी वार, तीसरी वार पुन. पुन उद्यम करते रहने से कार्य अवश्य सिद्ध होता है।"

ये लोग इसके आगे और भी कहते है कि, 'कर्म तो पुत्र है, उद्यम का फल है, उद्यम उसका पिता है। उद्यम ने ही कर्म किये है और उद्यम से ही वे दूर होते है। दृढप्रहारी ने हत्याएँ करके घोर कर्म उपार्जन किये थे, फिर भी छ महीने के उद्यम से उसने सभी कर्म समाप्त कर दिये।'

उनकी मान्यतानुसार 'उद्यम की शक्ति अपूर्व है, बूँद बूँद से सरोवर भरता है, एक एक ककड से मेड वँधती है, ईट ईट से गिरि जैसे गढ वनते है, यह सव उद्यम की शक्ति का ही प्रभाव है। उद्यम से ही अर्थ, उद्यम से ही काम, उद्यम से ही

धर्म और उद्यम से ही मोक्ष भी मिलता है। विद्या और कला भी उद्यम से ही सिद्ध होती है।'

इन उद्यमवादियो के कथानुसार 'इस जगत मे केवल उद्यम ही एक मात्र कारण है, और ससार के सभी कार्य केवल उद्यम के वशवर्ती है।' उनके मतानुसार, 'उद्यम को छोडकर बाकी सभी कारण निकम्मे, निरर्थक, अर्थहीन एव नपु सक है।'

इस तरह अब हमने इन पाँच कारणो को अलग अलग रूप मे और प्रत्येक कार्य के लिए केवल एक ही कारण को मानने वाले महाशयो की युक्तियो को जान लिया।

तदुपरात, एक ही कारण को मानने वालो के अतिरिक्त ऐसे भी वर्ग है जो पाँच कारणो मे से दो दो के युग्मो को मानते हैं। कोई प्रारब्ध और पुरुषार्थ के मेल को कार्य का कारण मानते हैं, तो कोई उद्यम के साथ नियति को जोडते हैं, दूसरे ऐसे भी है जो प्रारब्ध, कर्म और भवितव्यता के त्रिवेणी-सगम मे विश्वास रखते हैं।

परन्तु इस विषय में पर्याप्त जाँच करके, पर्याप्त प्रमाण प्राप्त करके, सभी आधारो तथा लक्षणो की परीक्षा करके, तथा सर्वज्ञ भगवतो के कथन को साथ लेकर जैन दार्शनिको ने इन पाँचो कारणो को एक समूह मे प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि, "सामान्यतया, जब तक ये पाँचो कारण एकत्रित नही होते तब तक कोई कार्य नही होता।" उनकी बात सर्वथा सत्य तथा भलीभाँति समझने योग्य है। अब हम जैन तत्त्व-वेत्ताओ का अभिप्राय अत्यंत ध्यान पूर्वक देखेगे।

पाँच कारणवाद—हम पहले देख चुके हैं कि प्रत्येक वस्तु के गुणधर्म की और कार्य-कारणभाव की परीक्षा करने की

जैन तत्त्ववेत्ताओ की पद्धति अनोखी और निराली है। वे वस्तु के किसी एक अश मे एक स्वरूप मे—एकान्त मे नही मानते। उनकी दृष्टि 'अनेकान्त' है। इसलिए इस विषय मे उनका कथन है कि, 'किसी भी एक ही कारण मे सब कुछ होता है, ऐसा कहना 'एकात सूचक' है। एकात मिथ्यात्व है, और अनेकात सम्यक्त्व है।'

कार्य कारण के विषय मे वे कहते है कि —

"पाँच अँगुलियाँ, या दो हाथ इकट्ठे होते है तभी कार्य होता है। हाथ के बिना कुछ पकडा नही जाता, तो पैरो के बिना चला नही जाता। दो हाथो के बिना ताली नही बजती। जिद मे आकर किसी भी एक ही वस्तु या कारण को महत्त्व देने से कोई अर्थ नही निकलता।"

"हम सेनापति को युद्ध मे विजय प्राप्त करने का श्रेय तो देते है, परन्तु अकेले सेनापति से युद्ध नही जीता जाता। सेनापति का युद्ध कौशल, सेना की शक्ति, अनुशासन, हथियारो की विशिष्टता, साधन सामग्री की विपुलता, पूर्ति की सुरक्षित व्यवस्था और आखिर मे जनता का पीठबल, इन सब की आवश्यकता होती है। यह सब होते हुए भी युद्ध के उद्देश्य की धर्मपरायणता का भी इसमे महत्त्व होता है।"

'सूत के धागे से कपडा बनता है। परन्तु उससे पहले कपास का बोना, उगना, डोडी मे से रूई का निकलना, उसमे से सूत तैयार करना, और उसके बाद सूत की जात, (ततु का स्वभाव) जुलाहे का उद्यम, काल का क्रम, मिलमालिक का भाग्य, आदि सभी अगो का सहयोग होता है। अरे, इन सब बातो के बाद भी पहनने वाले का प्रारब्ध न हो तो बना

वनाया कपडा भी आग या अन्य किसी कारण से-जिसे 'Act of the Government or Providence'–सुल्तानी-आसमानी—कहते है—व्यर्थ जाता है। इसमे भी यदि भवितव्यता हो तो ही कपडा तैयार होता है। यदि भवितव्यता (नियति) का सहयोग न हो तो उसमे भी अनेक विघ्न आते है, काय नही वन पाता।'

जैन तत्त्ववेत्ताओ ने एक बहुत सुन्दर दृष्टान्त देकर समझाया है कि ये पाँचो कारण किस प्रकार एक साथ काम करते है।

"नियतिवशात् जीव लघुकर्मी वन कर निगोद से वाहर निकलता है, पुण्यकर्म से मनुष्यभव और सद्गुरु का योग आदि सामग्री प्राप्त करता है, भवस्थिति का परिपाक होने पर जीव-वीर्य उल्लसित होता है, भव्य स्वभाव होने पर वह भव्य जीव पुरुषार्थ से तथा कालबल से शिवगति प्राप्त करता है।"

यही दृष्टान्त एक अन्य प्रकार से भी प्रस्तुत किया जाता है:—"भवितव्यता के कारण जीव निगोद से वाहर निकलता है, स्वभाव तथा काल के सहयोग से चरमावर्त मे आता है, चरमावर्त मे कर्म के द्वारा उसे धर्म-पुरुपार्थ के लिये आवश्यक पचेन्द्रियत्व आदि सामग्री प्राप्त होती है, और इस सामग्री से युक्त आत्मा अव पाँचवे कारण—पुरुषार्थ के द्वारा ही मोक्ष मार्ग की साधना करता है, उस मार्ग पर प्रयाण करता है।"

यहाँ नियति अथवा भवितव्यता-रूप एक कारण द्वारा जीव का निगोद मे से वाहर आने का कार्य होता है। वहा से वाहर आने के वाद, मनुष्यभव आदि प्राप्त कराने वाला पुण्य-कर्म, सो कर्म नामक दूसरा कारण है। भव स्थिति का

परिपाक काल नामक तीसरा कारण है। जीव का ऊर्ध्वगामी स्वगुण-स्वभाव चोथा कारण हे, आत्मा का चिपके हुए कर्म रूपी मल को धोकर सपूर्णतया कर्ममुक्त होने के लिये उसका पुरुषार्थ पाँचवाँ कारण है।

इस प्रकार भवितव्यता के द्वारा जीव निगोद मे से बाहर निकला, स्वभाव से वह ऊर्ध्वगामी बना, कर्म से उसे सामग्री तथा सुविधाएँ मिली, उद्यम से वह मुक्ति के मार्ग पर आगे बढा, और काल का परिपाक होने से वह आत्मा मुक्त हुआ। इससे स्पष्टतया समझ मे आएगा कि आत्मा की मुक्ति के एक कार्य के बनने मे उपर्युक्त पाँचो कारण एकत्रित हुए तभी कार्य बना।

ऊपर 'निगोद' तथा 'चरमावर्त' दो शब्दो का प्रयोग हुआ है। उनका कुछ परिचय प्राप्त कर ले।

जैन तत्त्वज्ञानियो की मान्यतानुसार अनन्त कालचक्र व्यतीत होने पर एक 'पुद्गल परावर्त काल' आता है। जीव के ससारवास का यह अतिम 'समयवर्ती भ्रमण' है। इसे 'चरमावर्त' नाम दिया गया है। निगोद मे से निकले हुए जीव को चरमावर्त मे आते सामान्यतया अनन्तकाल लगता है। इस विषय मे अधिक जानने की रुचि हो तो उसका ज्ञान तज्ज्ञ (विशेषज्ञ) महानुभावो से प्राप्त करना चाहिए।

दूसरा शब्द 'निगोद' है। यह बहुत उपयोगी तथा समझने योग्य शब्द है। इसे समझने-समझाने के लिये 'जीव-विषयक विचारो का—जीव तत्त्व विचार का—सारा शास्त्र यहा खोल कर धरना पडे। इसके लिये ग्रन्थ को अत्यन्त विस्तृत बनाना पडे, साथ ही ऐसे करने मे विषयान्तर हो

जाता है । फिर भी, चूँकि इस शब्द से हमारा सपर्क हुआ है, इसलिये इसकी सक्षिप्त जानकारी हमे प्राप्त कर लेनी चाहिए।

'जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के जितने जीव इस ससार मे है, वे सब निगोद मे से आये हुए हैं। 'निगोद' अर्थात् अनन्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवो का एक शरीर ।' इस लोक मे ऐसी असख्य निगोदे है । एक एक मे अनन्त जीव भरे हुए है, और ऐसी असख्य निगोदो मे अनन्तानन्त जीव विद्यमान है ।

'निगोद मे रहे हुए जीव अत्यल्प चैतन्ययुक्त, तथा किसी भी प्रकार की विशेष सामग्री या विशेष पुरुषार्थ की अनुकूलता से रहित 'समान कर्मी' होते है ।

'जितने जीव सव कर्मो को क्षय करके इस ससार मे से मोक्ष मे जाते है, उतने जीव निगोद मे से बाहर निकलते है—ससारचक्र का यह नियम है । तीनो कालो मे मोक्ष जाने वाले जीवो की सख्या से अनन्तगुने जीव एक एक निगोद मे रहे हुए है । इस कारण, मोक्ष का मार्ग सतत चालू रहते हुए भी यह ससार-कभी, किसी भी समय-पूर्णतया रिक्त नही होता ।'

'यद्यपि निगोद के सभी जीव अत्यल्प चैतन्य वाले तथा किसी प्रकार की विशेष सामग्री या विशेष पुरुषार्थ की सुविधा से वचित है, तो भी उनका वहाँ से बाहर निकलने का कार्य नियति या भवितव्यता का वशवर्ती है—अर्थात् भवितव्यता के कारण वे निगोद से बाहर निकलते हैं ।'

जैन तत्त्ववेत्ताओ ने जीव विषयक जो निरूपण किया है, उसके समान सूक्ष्म विवरण अन्य किसी तत्त्वज्ञान मे नही मिलता । विशेषत निगोद के जीवो के विषय मे जैन दार्शनिको

ने जो वाते वताई है, वे सामान्यतया अगम्य है, ऐसा वहुतो को लगता है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिको ने इसका समर्थन किया है। वे भी मानते है कि समस्त अवकाश सूक्ष्म जीवो से भरा हुआ है। आधुनिक वैज्ञानिको ने ऐसी खोज की है कि 'इस ससार मे ऐसे सूक्ष्म जीव भी है जो एक लाख से अधिक सख्या मे एक सुई की नोक पर वडे मजे से, विलकुल भीड किये विना, आराम से वैठ सकते है।' वैज्ञानिको ने इन जीवो को 'थेक्सस' नाम दिया हे।

इससे स्पष्ट होता है कि जैन तत्त्ववेत्ताओ ने निगोद की तथा निगोद मे रहते हुए जीवो की जो वात कही है वह सत्य एव प्रमाणभूत है। 'जीव-विचार' का यह विपय अत्यन्त रसप्रद है, उसका अध्ययन करने पर विशेप विश्वास होगा।

जिन्हे स्थावर, त्रस, सूक्ष्म, वादर आदि जीवो के विपय मे अधिक जानने की इच्छा हो उन्हे इस विपय का साहित्य प्राप्त कर पढना चाहिए, अथवा किसी विशेपज्ञ (तज्ज्ञ) पुरुप का सपर्क साधना चाहिए।

अव हम पुन. मूल विषय पर आते है। ऊपर दिये गये निगोद के जीव के दृष्टात पर से हमे मालूम हुआ कि पाँचो कारण एक साथ मिलकर किस प्रकार एक कार्य को पूर्ण करते है। परन्तु यह तो बहुत उच्च भूमिका की वात हुई। अव हम एक सीधा सादा, और वुद्धिगम्य दृष्टान्त लेते है।

'हम कपड़े की एक नयी मिल वनाना चाहते है। इसके लिए प्रारब्ध से प्राप्त लक्ष्मी (पूजी) उद्यम से तैयार की हुई योजना तथा इस उद्योग के सचालन मे कुशल हो, ऐसे गुण-स्वभाव वाले टेकनीशियन तथा मजदूर और उन सवका

सम्मिलित पुरुषार्थ या उद्यम—इस प्रकार 'कर्म, उद्यम तथा स्वभाव' ये तीन कारण एकत्रित होने पर कार्य का प्रारभ होता है। फिर भी काल परिपक्व हुए विना मिल मे से कपडा वन कर वाहर नही आता। मिल के लिये मकान वनाने मे, यन्त्र-सामग्री आदि प्राप्त कर उसे स्थापित करने मे तथा अनेक प्रकार की विधियो (Process) को पार करके कपडा तैयार करने मे समय तो अवश्य लगता है। Capital, Planning, Construction, Erection, Administration, Execution, Processing, Finishing, पूँजी, नियोजन, इमारत, यत्रो की स्थापना, व्यवस्था, कार्यसचालन, विधि, अन्तिम पूर्णता-आदि कितनी सारी वातो की आवश्यकता होती है? तदुपरान्त इन सव मे निपुणता होनी चाहिये।

यह सव होते हुए भी, सव प्रकार की सुविधाओ के वावजूद, यदि भवितव्यता का साथ न मिले तो वना-वनाया खेल विगड जाता है।'

इस प्रकार पाँचो कारणो का सहयोग जव तक नही मिलता तव तक कपास मे से कपडा, घास मे से दूध, गेहूँ मे से रोटी, धान मे से भात, गन्ने मे से शक्कर, या खान के सुवर्ण-युक्त पत्थर मे से अलकार नही वनते।

इसी प्रकार जडकार्य हो चाहे चेतनकार्य, किसी भी कार्य के पीछे पाँचो कारण अवश्य होते है। कोई भी एक कारण अकेले ही, कोई कार्य पूर्ण नही कर सकता। इतना जरूर है कि कोई भी एक कारण प्रधानत मुख्य भाग लेता हुआ दिखाई दे सकता है, परन्तु जव तक ये पाँचो इकट्ठे नही होते तव तक कोई कार्य सिद्ध नही हो सकता। यहाँ एक वात भलीभाँति

ध्यान मे रखनी चाहिए कि अवस्था या प्रसग के अनुसार किसी भी एक कारण को प्रधानता मिलती है ।

दूध मे जामन डालने से दही बन गया, इसमे जामन डालने का उद्यम मुख्य कारण हुआ । परन्तु अकेले उद्यममात्र से दूध का दही बन गया, ऐसा कोई नही मानता । यदि ऐसा ही होता तो दही कभी न बिगडता । इसी तरह हर एक कार्य के विषय मे समझिये ।

जैन तत्त्वज्ञानी अनेकातवाद की दृष्टि अपना कर कहते है कि, व्यवहारदृष्ट्या, जब जिस कारण को आगे करने से उद्यम को पोषण और चित्त को समाधान मिले, तब उस कारण को आगे करना—यह अनेकातवाद का यथार्थ उपयोग है । परन्तु किसी भी एक ही कारण को पकड कर बैठ जाना, दूसरे किसी भी कारण की उपयोगिता स्वीकार करने से इन्कार करना, अज्ञान का सूचक है, मिथ्यात्व है, दुराग्रह है, राग द्वेष की वृत्ति को पोषनेवाला है और एकान्तवाद है । इसी तरह एकातवाद अज्ञान है, मिथ्यात्व है, दुराग्रह है और रागद्वेष की वृत्ति को पोषने वाला है । जिस कारण को आगे करने से आलस्य या चित्त के असमाधान का पोषण हो उस कारण को आगे करना भी मिथ्यात्व—एकान्तवाद है ।

अनेकातवाद 'सम्यक्त्व' है, 'ज्ञान' है, वह निराग्रहिता, तथा समता को पुष्ट करता है । यही जीवन का एक सच्चा मार्ग है । यह बात अनुभवसिद्ध है । ऊपर बताये हुए पाँचो कारणो का यह 'पच कारणवाद' अनेकातवाद का ही एक अग है ।

पाँच कारणो के विषय मे अलग अलग कारणवादियो की

जो भिन्न भिन्न युक्तियाँ हैं, उनके विरोध मे, तथा पचकारणवाद के पक्ष मे बहुत विस्तार से कहा या लिखा जा सकता है। परन्तु पाठको की विवेकबुद्धि तथा ग्रहणशक्ति के प्रति पूर्णतया आदर एव विश्वास रखते हुए हमने यहाँ इतनी सक्षिप्त विवेचना ही की है।

अब हम 'सात नय, प्रमाण तथा निक्षेप के विषय मे विचार करने के लिये आगे बढेगे।

नयविचार—प्रमाण और निक्षेप

नय के विषय मे विचार करने के पहले 'नय' शब्द का अर्थ हम अच्छी तरह समझ ले। यह जैन तत्त्वज्ञान का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका सामान्य अर्थ 'ज्ञान' होता है। परन्तु यहाँ यह 'ज्ञान' अपने विशाल अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है, सीमित अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

किसी भी वस्तु को समझने के लिये किसी न किसी प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है। स्कूलो मे भिन्न भिन्न विषय पढाये जाते है, उनमे से प्रत्येक किसी एक ज्ञान का विषय होता है।

जैन तत्त्ववेत्ताओ ने 'नय' शब्द की एक व्याख्या दी है। वे कहते है—

"जो किसी भी वस्तु का एक गुण, धर्म या स्वरूप समझाता है वह 'नय' है।"

पहले हम देख चुके है कि वस्तु के अनेक गुणधर्म होते है। जैन शास्त्रकारो ने वस्तु के सब भिन्न भिन्न गुणो को अलग अलग रीति से समझने के लिए सात अलग २ 'नय' बताये है। इसलिये जब हम यहाँ नय की बात करते है तब 'सात नय' का उल्लेख करते है, ऐसा समझना चाहिए। इसका विशेष अर्थ यह हुआ कि एक ही वस्तु के सात भिन्न-भिन्न स्वरूपो

को, गुणो को या धर्मों को जानने पहचानने के लिये सात अलग अलग नयो का उपयोग किया गया है।

'नय' के दो उपयोग है—एक 'ज्ञानात्मक' कहलाता है, जो खुद के समझने के लिये होता है, दूसरा 'वचनात्मक' अर्थात् दूसरो को समझाने के लिये।

'नय' को हम 'स्याद्वाद' को समझने का व्याकरण कह सकते है। प्रत्येक भाषा का अपना अपना व्याकरण होता है। यदि सस्कृत भापा अच्छी तरह सीखनी हो तो सबसे पहले उसके व्याकरण का अध्ययन करना पडता है। जव एक वार व्याकरण का ज्ञान अच्छी तरह हो जाता है तब इस महान् वाङ्मय को समझने-समझाने मे हमे कोई कठिनाई नही होती।

इसी प्रकार अनेकातवाद—तत्त्वज्ञान को भली भाँति समझने की जिस स्याद्वादपद्धति का हमने उल्लेख किया है, उस पद्धति को समझने का यह एक व्याकरण है, ऐसा कहना अत्युक्ति न होगा। यदि हम इसे समस्त अनेकान्तवाद को समझने का व्याकरण माने तो भी अनुचित नही है।

स्याद्वाद के साथ 'नय' रूपी व्याकरण का सम्वन्ध हम पहले समझ ले। आलकारिक भाषा मे, उपमा देकर यदि यह वात समझानी हो तो हम कहेगे कि 'नय' 'नदी' की तरह है, और 'स्याद्वाद' 'समुद्र' की तरह। जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्र मे जा मिलती हैं, उसी तरह सभी नय स्याद्वाद रूपी महासागर मे मिल जाते है। स्याद्वाद का पूर्ण दर्शन हम नय के द्वारा कर सकते है। इसीलिये जैन आगमो को 'स्याद्वाद-श्रुतमय' माना गया है।

ये सात नय जो हैं वे सब प्रत्येक वस्तु के लिये अपना अपना अभिप्राय रखते है। इन सातो के अभिप्राय एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी ये सभी नय एकत्र मिल कर स्याद्वाद-श्रुत रूपी आगम की सेवा करते है। इस बात को अच्छी तरह समझने के लिये हम किसी राज्य के आय और व्यय के दो विभागो का उदाहरण लेते है।

आय विभाग केवल आमदनी करता है। व्यय विभाग केवल खर्च करता है। ये दोनो विभाग परस्पर विरोधी गुण-धर्म वाले होते हुए भी, साथ मिलकर राज्य की सेवा ही करते है।

किसी बैंक मे जाइये। वहाँ रुपये लेने वाला कोपाध्यक्ष (Receiving Cashier) और रुपये देने वाला कोपाध्यक्ष (Paying Cashier)एक दूसरे से बिलकुल विपरीत कार्य करते है, फिर भी दोनो व्यक्ति बैंक की सेवा ही करते है।

इसी अर्थ मे—ये सातो नय परस्पर विरोधी अभिप्राय रखते हुए भी, साथ मिलकर स्याद्वाद तत्त्वज्ञान की सेवा ही करते है। एक ही राज्य के भिन्न स्वभाव वाले तथा एक दूसरे का विरोध करने वाले सेवक उस राज्य की सेवा करते है, उसी तरह ये सातो नय समग्र रूप से स्याद्वाद के सेवक ही है।

स्याद्वाद और नय के बीच का सबध हमने सिंधु और बिंदु जैसा कहा है। बिंदु समुद्र नही है, तो समुद्र से भिन्न भी नही है। वह समुद्र का एक अश है। इसी तरह नय स्याद्वाद से भिन्न नही है, स्याद्वाद–रूप भी नही है, स्याद्वाद का एक अग है।

हम ऊपर कह चुके है कि नय वस्तु के अमुक स्वरूप या गुण, धर्म का ज्ञान देते है। तो अब ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति

का भी विचार कर लेना चाहिए। इसके लिए जैन तत्वज्ञानियों का एक वाक्य हम यहाँ उद्धृत करते हैं —

'प्रमाणनयैरधिगम।' इस वाक्य का अर्थ है, किसी भी वस्तु का ज्ञान दो प्रकार से होता है एक तो प्रमाण से, दूसरा नय से। इस वाक्य मे प्रमाण और नय अलग-अलग बताये गये हैं, परन्तु 'नय' का विषय 'प्रमाण' का भी विषय है।

शास्त्रकारो ने नय को प्रमाण का एक अंश माना है। प्रमाण मे भी यह आगाम अथवा श्रुत (शास्त्र) प्रमाण का अंश है। यहाँ चूँकि हम प्रमाण की बात बीच मे करने लगे है, तो प्रमाण को भी ठीक तरह समझ ले।

प्रमाण का अर्थ हैं 'सबूत' (Proof)। जिसके द्वारा वस्तु नि सन्देह, ठीक-ठीक जानी जा सके और समझ मे आवे, उसे प्रमाण कहते हैं।

'मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव और केवल—इस प्रकार जैन तत्त्ववेत्ताओ ने जो पाँच ज्ञान कहे है उन्हे— ज्ञान स्वय एक प्रमाण होने के कारण—प्रमाण के तौर पर भी माना है। पाँच ज्ञान विषयक एक स्वतन्त्र प्रकरण आने वाला है, इसलिए यहा उनका केवल उल्लेख करके हम आगे बढते हैं।

न्यायदर्शन मे चार प्रमाण बताये गये हैं। इनमे दो प्रमाण मुख्य हैं, 'प्रत्यक्ष और परोक्ष'। परोक्ष प्रमाण के तीन विभाग बताये गये है। 'प्रत्यक्ष' तथा 'परोक्ष' शब्दो का अर्थ तो शीघ्र समझ मे आने जैसा सर्व सामान्य है। परोक्ष प्रमाण मे–(१) अनुमान (२) उपमान (३)आगम (श्रुत) ये तीन

विभाग है। इन सब को क्रमश निम्नानुसार प्रस्तुत किया जाता है —

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण।

(२) अनुमान प्रमाण।

(३) उपमान प्रमाण।

(४) आगम (शास्त्र) प्रमाण।

अब हम इन चारो प्रमाणो को क्रमश समझने का प्रयत्न करेगे।

प्रत्यक्ष प्रमाण—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—ये हमारी पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पाँच इन्द्रियो तथा मन के द्वारा हमे वस्तु का बोध होता है, वस्तु को हम समझ सकते है। इसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमारे हाथ मे एक फूल आवे तो उसके रूप, गध, रग, आकार आदि का हमे जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह फूल हमारे हाथ मे न भी हो, हम उसे देख न सके, ऐसे कही नजदीक रखा हो, तो भी हम उसकी गध का अनुभव कर सकते है। इस प्रकार नाक से गध का जो ज्ञान होता है वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यहाँ, हमारी इन्द्रियो के साथ वस्तुओ का जो सयोग होता है उसे हम प्रत्यक्ष अनुभव कहते है। जीभ के साथ स्वाद का, नाक के साथ गध का, कान के साथ आवाज का जब सबध होता है, तब प्रत्येक बार हमे उसका ज्ञान होता है।

इन्द्रियो और मन के द्वारा हमे जो ज्ञान होता है उसे जैन दार्शनिको ने 'साव्यवहारिक प्रत्यक्ष' नाम दिया है। इसके भी चार भेद है। इन चार भेदो के लिये जैन दर्शन मे चार पारि-

भाषिक शब्द है—अवग्रह, ईहा, अपाय, और धारणा। इन्हे हम अस्पष्ट भास, ईषत् दर्शन, निर्णय और स्मरणाकन भी कह सकते है।

दूर से कोई वस्तु दिखाई दे और हमे ऐसा लगे कि कुछ है, यह (अवग्रह) अस्पष्ट भास है। नजदीक आने पर हमे समझ मे आने लगता है कि वह क्या है ? यह (ईहा) ईषत् दर्शन है। समझ में आने पर वह 'अमुक ही' है ऐसा निश्चित होना (अपाय) निर्णय है। वाद मे हमारे मन-प्रदेश मे उसका इस प्रकार अकित हो जाना कि कभी भी वह हमे याद आ सके, (धारणा) स्मरणाकन है।

उदाहरणार्थ—मान लीजिए कि दूर से कोई मनुष्य जैसी आकृति दिखाई देती है—यह अस्पष्ट भास या 'अवग्रह' है। नजदीक आने पर मालूम होने लगता है कि वह पुरुप है—यह ईषत् दर्शन अथवा 'ईहा' है। इसके वाद 'वह पुरुष ही है, स्त्री नही है' ऐसा निश्चय होना निर्णय अथवा 'अपाय' है। और बाद मे हमे वह पुरुष फिर कभी मिले तव हम उसे पहचान सके, इस प्रकार से हमारे मन प्रदेश मे अकित हो जाना स्मरण अथवा 'धारणा' है। यहाँ एक वात ध्यान मे रखनी चाहिए कि साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत धारणा नामक भेद के अनुसार वर्तमान मे देखे हुए पुरुष का चित्र हमारे मन मे अकित हो जाता है तव तक वह प्रत्यक्ष प्रमाण का भेद है। परन्तु भविष्य मे जव हम उसे देखने पर स्मरण से पहचान लेते है, उस समय उस प्रकार पहचानना परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत है।

अनुमान प्रमाण—लिंग से लिंगी का जो ज्ञान होता है, अर्थात् किसी एक वस्तु के द्वारा दूसरी वस्तु का जो ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाण है। उदाहरणार्थ–विशेष प्रकार की बास आने पर हम जो निर्णय करते है कि कुछ जल रहा है वह 'अनुमान प्रमाण' है। यदि हमारी आँखो से दूर आस-पास मे कही कपड़ा जलता हो तो हमे विशेष प्रकार की वास आती है, सबका ऐसा अनुभव है। इस वास पर से 'कुछ जल रहा है' ऐसा निर्णय जो किया गया, उसमे 'अनुमान' काम कर रहा है। जब हमे अपने पडौस के घर मे से या दूर से धुआँ निकलता दिखाई देता है, तो उससे हम ऐसा निर्णय जो कर लेते है कि वहाँ आग होनी चाहिए, सो अनुमान प्रमाण के द्वारा ही होता है। दूर-दूर कही आग की लपटे देख कर हम समझ जाते है कि वहाँ आग लगी होगी। जब हम आग बुझाने वाले बम्बे को घंटा बजाते बजाते तेजी से जाते हुए देखते है तब भी हम मान लेते है कि किसी स्थान पर आग लगी है।

दूर से शहनाई या बैंड की आवाज़ सुनकर भी हम सोचते है कि कोई उत्सव है। यह सब अनुमान प्रमाण माना जाता है। यह अनुमान प्रमाण दूर की किसी भी वस्तु या विषय के सबन्ध मे निर्णय करने मे हमारी सहायता करता है। 'दूर' के दो प्रकार है, एक 'काल की दृष्टि से दूर' अर्थात् भूतकाल या भविष्य काल से सम्बन्धित' और दूसरा 'क्षेत्र की दृष्टि से दूर' अर्थात् हमारे स्थान से दूर।

इसी प्रकार सूक्ष्म वस्तु का ज्ञान भी अनुमान प्रमाण से हो सकता है।

उपमान प्रमाण—सादृश्य ज्ञान के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे 'उपमान प्रमाण' कहते है। उदाहरणार्थ-हमारे यहाँ एक मेहमान आते है। वे हमारे आँगन मे एक गाय वधी हुई देखते है। गाय को देखकर वे सज्जन कहते है कि 'हमारे प्रदेश मे भी ठीक गाय जैसा ही एक जानवर होता है, जिसे नील गाय (रोझ) कहते है। इसके वाद कभी उक्त सज्जन के प्रदेश मे जाने का प्रसग आने पर हम वहाँ ऐमा एक प्राणी देखते है जो गाय नही परन्तु गाय का जैसा है। उक्त महाशय की कही हुई वात उस समय हमे याद आती है कि 'गाय के समान रोझ होता है' (गौरिव गवय)। इस पर से हम निर्णय कर लेते है कि 'यह प्राणी रोझ (नील गाय) है।' यह उपमान प्रमाण का उदाहरण हुआ।

आगम प्रमाण—आप्त (श्रद्धा रखने योग्य श्रद्धेय तथा प्रामाणिक) पुरुषो के वचन, कथन या लेखन से हमे जो बोध (ज्ञान) होता है वह आगम प्रमाण कहलाता है। सामान्यतः शब्दो के आधार पर जो ज्ञान होता है उसे श्रुत प्रमाण कहते हैं। आगम को श्रुत का एक अग माना गया है।

आगम प्रमाण मे हमे श्रद्धा का उपयोग भी करना पडता है। शास्त्रो मे जो जो वाते दर्शायी गई है, उनको स्वीकार हम करते है, सो शास्त्रप्रमाण के द्वारा ही करते है। आगमो (शास्त्रो) के विषय मे एक महत्त्व की वात यह है कि, प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणो के विरुद्ध उनमे कुछ नही होना, और उनमे लिखित वचन आत्मविकास

पर एव उसके मार्ग पर प्रकाश डालने वाले तथा शुद्ध तत्त्व के प्रतिपादक होते है ।

जैन तत्त्वज्ञानियो ने आगम प्रमाण को सिद्ध प्रमाण माना है, क्योकि जिन्होने यह ज्ञान दिया है वे वीतराग सर्वज्ञ भगवान् थे । उन्होने पूर्णज्ञान-केवलज्ञान-प्राप्त करने के वाद ही यह ज्ञान दिया है, और उन्होने दिया है, यही एक वडा प्रमाण है। राग, द्वेप और अज्ञान—ये असत्य के सभाव्य कारण हैं। इनके दूर हो जाने के वाद असत्य वोलने की गुंजा-इश—सभावना ही नही रहती । अत जो वीतराग एव सर्वज्ञ थे उन्होने जो कुछ भी कहा है वह जगत् के हित के एक मात्र उद्देश्य मे ही कहा है ।

शायद कोई ऐसा प्रश्न पूछेगा कि 'वे सर्वज्ञ ही थे इसका क्या निश्चय है ? और इसका भी क्या निश्चय है कि उन्होने जो कुछ कहा सो सब सच ही है ?

जिनकी वुद्धि का पर्याप्त विकास हुआ हो उन लोगो के लिये अपनी वुद्धि के उपयोग से वीतराग भगवान के कथन की यथार्थता समझना कठिन नही है । फिर भी, यह मुख्यत तो श्रद्धा का विपय है । हम जीवन के छोटे वडे सभी कार्यो में अधिकाशत श्रद्धा पर चलते है । हमें अपने माता पिता के द्वारा उनके माता पिता या दादा दादी के विपय मे जो जान-कारी मिलती है उस पर हम अविश्वास नही करते । उन वातो को हम श्रद्धापूर्वक सच मान लेते है । इस तरह श्रद्धा रखने से हम ठगे नही जाते । तो जिन सर्वज्ञ भगवतो ने अनेकान्तवाद जैसे अद्भुत तथा अप्रतिम तत्त्वज्ञान का वोध दिया है, और जिनके कहे हुए वहुत से वचनो को आधुनिक

वैज्ञानिको ने प्रयोगशालाओ मे जाँच कर सिद्ध कर दिखाया है, उनके दर्शाये हुए आगमो (शास्त्रो)पर अश्रद्धा रखने का कोई उचित कारण हमारे पास नही है।

चारो प्रमाणो के विषय मे साधारण जानकारी देने का कार्य पूर्ण करके आगे बढने से पहले इतना याद रखना जरूरी है कि इन चार मे से प्रथम प्रमाण—प्रत्यक्ष प्रमाण—हमे इन्द्रियो तथा मन के द्वारा बोध कराता है, जब कि बाकी तीन—दूसरा, तीसरा और चौथा—परोक्ष प्रमाण केवल मन तथा अन्य माध्यम के द्वारा ही हमे यथार्थ बोध देते है।

ऊपर तीन प्रकार के परोक्ष प्रमाण बताये गये है। इन तीन के बदले उसके पाँच भेद भी किये जाते है। उन्हे स्मरण प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम कहते है। यहाँ हम उनके विवरण मे नही उतरेंगे, परन्तु जिन्हे इस विषय में दिलचस्पी हो उन्हे तज्ज्ञ (विशेषज्ञ) पुरुषो का सम्पर्क साधना चाहिए।

पुन नयविषयक विचारधारा पर आते समय अब हमे यह बात याद रहेगी कि नय ऊपर बताये गये प्रमाणो के विषय के अश को ग्रहण करते है। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है, नय व्याकरण के समान है। यदि सपूर्ण स्याद्वाद को कोई अनेकातवाद के व्याकरण की उपमा दे तो सात नय 'विभक्ति' की उपमा पा सकते है। हम नय को किसी भी नाम से पुकारे, यह बात अच्छी तरह समझ रखनी चाहिए कि 'नय' बडा महत्त्व का विषय है।

यहाँ पर 'नय' का जो थोडा सा विवेचन हुआ है, उसे देखकर शायद किसी के मन मे यह शका उत्पन्न हो कि प्रत्येक

नय वस्तु के एक ही स्वरूप की बात करता है, तो फिर उसे एकान्त या मिथ्याज्ञान क्यो नही कहा जा सकता ?

इस प्रश्न का साधारण समाधान तो पहले दिया ही गया है। फिर भी, इस प्रश्न का ठीक उत्तर प्राप्त करके और विषय को समझ कर आगे बढे तो बाद मे चलकर किसी शका या कुतर्क को स्थान नही रहेगा।

एकान्त कब कहा जा सकता है ? किसी एक अंत मे निर्णय करके, वस्तु के दूसरे स्वरूपो को स्वीकार करने से ही इन्कार कर दिया जाय तभी वह एकात अथवा मिथ्याज्ञान बनता है। नय के सम्बन्ध मे ऐसा नही है। जब कि एक नय वस्तु के एक ही स्वरूप को ग्रहण करता है तब दूसरे नय के अनुसार बताये गये दूसरे स्वरूपो का इनकार नही करता। दूसरे नयो के द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली बात, वस्तु का दूसरा स्वरूप—उसके प्रथम स्वरूप का विरोधी हो तो भी दूसरे नय के अनुसार उस दूसरे स्वरूप को तथ्यरूप मे मानने का वह विरोध नही करता। जैसे कि 'सग्रह' नय के बोध के अनुसार वस्तु का स्वरूप 'अमुक' है ऐसा कहा जाता है तो उससे, 'नैगम' नय के अनुसार वस्तु का जो गुण धर्म कहा जाता है उसका विरोध या अस्वीकार नही किया जाता। इसके विपरीत सातो नय वस्तु के जो भिन्न भिन्न स्वरूप बताते है, वे प्रत्येक नय मे, गौणतया अपने अपने रूप मे स्वीकृत ही है। अतएव नयज्ञान मिथ्या साबित नही होता।

दूसरी खास याद रखने की बात यह है कि, ये सब नय 'स्याद्वाद के एक अग या अवयव के समान होने के कारण स्याद्वाद मे रहे हुए 'स्यात्' शब्द की छत्रछाया मे ही कार्य

करते है।' 'स्यात्' शब्द का प्रयोजन, नयो की सापेक्षता सूचित करने के लिये भी है। परस्पर विरोधी गुणधर्मों का एक ही वस्तु मे स्वीकार करने, और ऐसा करके उस स्वीकार को उचित एव सत्य सिद्ध करने के लिये ही 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह पहले ही समझा जा चुका है कि 'स्याद्वाद' सिद्धान्त की आवश्यकता तथा विशिष्टता इसी कारण है।

नय की चर्चा करते हुए प्रमाण विषयक सामान्य जानकारी हमे मिल गई है। इसी प्रकार इस विवेचना को आगे बढाने से पहले दूसरी एक बात को समझ लेना उचित होगा। यह बात नय को समझने मे 'प्रमाण' की अपेक्षा अधिक उपयोगी है।

हम आगे देख चुके हैं कि प्रत्येक वस्तु सामान्य एव विशेष—यो उभय रूप मे होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि, जब हम किसी भी एक वस्तु की बात करते है, तब सामान्य अर्थ मे उस वस्तु की बात करते है, या विशेष अर्थ मे, इस पर ध्यान देना और दिलाना आवश्यक है।

यदि वस्तु के सामान्य अथवा विशेष अर्थ का खयाल किये बिना कुछ कहा जाय तो अर्थ का अनर्थ हो जाना बहुत सभव है। उदाहरण के तौर पर, किसी मार्ग पर चलते हुए हमे एक अपरिचित सज्जन मिल जाते है और बताते है कि, "आगे दाहिनी ओर का रास्ता बन्द है।" वह एक सामान्य अर्थ है। 'मरम्मत चालू होने के कारण वाहनो का आना जाना बन्द है।' ऐसा विशेष अर्थसूचक वाक्य प्रयुक्त न किया जाय तो सभवत हम लौट जाएंगे, और इस कारण हमारा कार्य बिगडेगा या उसमे विलम्ब होगा।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये। एलोपैथिक दवाइयो की बहुत सी शीशियो के लेवल पर ' Poison' 'जहर' छपा हुआ होता है। सामान्य अर्थ मे 'जहर' शब्द का अर्थ 'प्राणघातक पदार्थ' होता है। हमे डाक्टर ने 'सिवाजोल' नामक दवाई लाकर अमुक ढग मे उसका उपयोग करने की सूचना दी। उसके वाद हम दवाई वाले के यहाँ यह दवाई लेने जायँ, और उसके ऊपर 'पोइजन' शब्द पढ कर ही यदि लौट आयँ तो अर्थ का अनर्थ होगा या नही ? इससे सवधित एक मनोरजक प्रसग इस लेखक को याद है —

एक सन्तानहीन धनवान् सज्जन का भतीजा डाक्टर वना। डाक्टर के चाचा को (उक्त धनवान् सज्जन को) हृदय का कोई रोग था। डाक्टर ने अपने पास नमूने (Sample) के तौर पर मुफ्त आई हुई Neocor 'निओकोर' नामक दवा की गोलियो की एक शीशी अपने चाचा को दी, जिससे चाचा को पैसे खर्च न करने पडे। उन्हे यह सूचना दी कि, "जब सीने मे दर्द हो तव इसमे से एक गोली पानी के साथ लेना।" चाचा अग्रेजी दूसरी कक्षा तक पढे थे, और आयुर्वेदिक दवाइयो मे श्रद्धा रखते थे। विलायती दवाई लेने का उनका यह पहला प्रसग था। शीशी पर छपा हुआ 'पोइजन' शब्द पढकर वे रोने लगे। किसी तरह चुप ही न होते थे। फिर अपने एक विश्वस्त मित्र से एकान्त मे मिल कर उन्होने कारण स्पप्ट किया -"जगजीवन भाई, देखा आपने ? मैने इस बाबू को अपने खर्च से पढा कर डाक्टर वनाया। अव इसके मन मे यह पाप पैदा हुआ है कि जल्दी से मेरी सारी दौलत इसके हाथ मे आ जाय। इसलिये मुझे जहर देकर मारना चाहता है।"

यह सुनकर पहले तो जगजीवन भाई चौंके, परन्तु जब उन्हे सारी बात का पता चला तो हँस पडे। चाचा ने समझे बिना, कैसे अर्थ का अनर्थ कर दिया था। जब उन्होने चाचा को यह बात समझाई तब उनके (चाचा के) चित्त को शान्ति मिली। इस प्रकार, वस्तु और शब्द के सामान्य तथा विशेष अर्थ का अच्छी तरह ज्ञान न हो तो बहुत से विषयो मे और खास तौर पर तत्त्वज्ञान सम्बन्धी उच्च भूमिका के विषय मे अर्थ का अनर्थ होने की सभावना होती ही है।

पुन मूल विषय पर आते हुए अब इस बात पर अपना ध्यान आकर्षित करे कि जैसा कि पहले परिचय के प्रकरण मे बताया गया है, शास्त्रकारो ने सात नयो को दो भागो मे विभक्त किया है।

(१) द्रव्यार्थिक यहाँ 'द्रव्य' शब्द का अर्थ 'सामान्य' (General) समझना चाहिए। जब हम 'मनुष्य' या 'जानवर' शब्द का प्रयोग करते है, तब उनमे से 'सब मनुष्यो जैसा यह भी एक मनुष्य,' या 'सब जानवरो जैसा कोई जानवर' ऐसा सामान्य अर्थ निकलेगा। इसी तरह प्रत्येक वस्तु मे 'सामान्य अर्थ' भी होता है। 'नैगम' 'सग्रह' और 'व्यवहार'—ये तीन नय वस्तु के सामान्य अर्थ का अनुसरण करते है, तथा सामान्य अर्थ का बोध कराते है। यहाँ फिर यह खास याद रखना रहा कि यह सामान्य अर्थ भी भिन्न भिन्न और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाला हो सकता है।

(२) पर्यायार्थिक —यहाँ 'पर्याय' शब्द का अर्थ 'विशेष' किया गया है। द्रव्य को हम किसी वस्तु(Substance) के तौर पर पहचानते है और 'पर्याय' को उस वस्तु की भिन्न

भिन्न अवस्थाओ (Different forms or appearances of the substance) के तौर पर जानते हैं। जब मूल द्रव्य मे हम किसी अवस्थाभेद की कल्पना करते है तब उसमे विशेष (खास) अर्थ निकलता है। उदाहरणार्थ—मनुष्य के तौर पर मनुष्य 'सामान्य'है, परन्तु यही मनुष्य जब किसी सभा मे व्याख्यान देता हो तब वह 'वक्ता' इस विशेष अर्थ मे प्रस्तुत होता है। ऋजुसूत्र,शब्द, समभिरूढ तथा एवभूत—ये चार नय, इस तरह पर्यायार्थिक अर्थात् वस्तु का विशेष रूप मे परिचय कराने वाले है। फिर ये विशेष स्वरूप भी, भिन्न भिन्न और परस्पर विरोधी हो सकते है, यह ध्यान मे रखना चाहिये।

इस दृष्टि से, प्रथम तीन नय, नैगम, सग्रह और व्यवहार, सामान्यार्थिक नय कहलाते है, अन्तिम चार नय-ऋजुसूत्र शब्द, समभिरूढ और एवभूत विशेषार्थिक नय कहलाते है। उनके लिये पारिभाषिक शब्द ऊपर बताये है सो क्रमश द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक है।

इसमे एक और समझने योग्य महत्त्व की बात है। पहले हम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इस अपेक्षाचतुष्टय की, (चार आधारो की) बात कर चुके हैं। इसी तरह यहाँ नय का विचार करते समय चार शब्दो वाली एक और बात हमे समझ लेने की आवश्यकता है।

इसे 'निक्षेप'नाम से पुकारा जाता है। निक्षेप भी चार है, जिनके नाम निम्नानुसार है —

(१) नाम निक्षेप

(२) स्थापना निक्षेप

(३) द्रव्य निक्षेप

(४) भाव निक्षेप

'निक्षेप' एक पारिभाषिक शब्द होने के कारण हमे इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। निक्षेप अर्थात् विभाग। किसी भी वस्तु के चार विभाग होते है, एक तो 'सज्ञा' अथवा नाम दूसरा 'आकृति' तीसरा 'दल' और चौथा 'भाव' अर्थात् गुण धर्म तथा आचार। इन चारो मे से किसी एक का सम्बन्ध किसी वस्तु के साथ जोडना 'निक्षेप करना' कहलाता है।

किसी भी शब्द मे जब अमुक अर्थ का सम्बन्ध जोडा जाता है तब, अथवा किसी अर्थ मे जब अमुक शब्द का सबन्ध जोडा जाता है तब जैन तत्त्ववेता उसे 'निक्षेप' कहते है। हम किसी भी पदार्थ को कोई नाम देते है, उसे पहचानने की कोई सज्ञा निश्चित करते है, फिर मूल शब्द के साथ उसका जो सम्बन्ध जोडते है उसे 'नाम निक्षेप करना' कहते है। अग्रेजी मे इसे 'Named Substance' कहते है। हम इसे अपनी भाषा मे 'नामाभिधान' अथवा 'नामकरण' भी कह सकते है।

'निक्षेप' को 'शब्द का अर्थकरण' भी कह सकते है। इसमे खूबी यह है कि किसी शब्द के चाहे कितने ही अर्थ किये जायँ, कम-से-कम उपर्युक्त चार निक्षेपो-नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव के द्वारा उसका अर्थ अवश्य निकाला या समझा जा सकता है।

यो तो निक्षेप केवल तीन अक्षरो का पारिभाषिक शब्द है। यदि इसका ऊपर बताया हुआ अर्थ हम अच्छी तरह समझ ले तो हम इसके लिये विस्तृत शब्दावलि का प्रयोग करने

के वदले केवल 'निक्षेप' शब्द का ही प्रयोग करेंगे तो भी समझने मे कठिनाई नही होगी ।

अब हम इन चार निक्षपो का क्रमश. परिचय प्राप्त करेंगे ।

नामनिक्षेपः—व्यवहार चलाने के लिए, अपनी समझ को स्पष्ट और नियन्त्रित करने के लिये, किसी भी वस्तु की पहचान के हेतु हम उसकी कोई सज्ञा या नाम निश्चित करते है। इसे 'नामनिक्षेप' कहा जाता है। उदाहरणार्थ किसी पूनमचन्द के पाँच पुत्रो की पहचान के लिए प्रत्येक का अलग अलग नाम रखा जाता है, वह 'नामनिक्षेप' कहलाता है। इस 'निक्षेप'का सम्बन्ध वस्तु के नाम के साथ ही है, इस नाम के किसी अर्थ या भाव के साथ नही। जिस वस्तु, पदार्थ या व्यक्ति का उसमे रहे हुए किसी खास अर्थ, भाव या गुण के कारण कोई विशिष्ट नाम रखा गया हो तो वह अर्थ 'नामनिक्षेप' के अन्तर्गत नही आता। परन्तु यो समझना चाहिए कि व्यक्ति को पहचानने के लिये उसका जो नाम रखा जाय वह नाम और व्यक्ति स्वय 'नामनिक्षेप' है। उदाहरणत हनुमानजी का दूसरा नाम 'वजरग वली' है। यह दूसरा नाम हनुमानजी के विशिष्ट गुणो के कारण, विशेषण की तरह, प्रयुक्त होता है। यह नाम एक भाव सूचित करता है, इसलिये यद्यपि नाम 'नामनिक्षेप' के अन्तर्गत है, किन्तु हनुमानजी स्वय वहाँ 'नामनिक्षेप' मे नही आते।

स्थापनानिक्षेप—किसी एक वस्तु मे जब हम दूसरी वस्तु की स्थापना करके, उस स्थाप्य वस्तु के नाम से पुकारे तब वहाँ

'स्थापना निक्षेप' होता है। इसके दो भेद है–तदाकार स्थापना और अतदाकार स्थापना।

किसी देव या व्यक्ति की मूर्ति वनाकर हम उसे उस देव या व्यक्ति का नाम देते हैं। यहाँ वस्तु पत्थर होते हुए भी, उसका उस देव या व्यक्ति के समान आकार वना कर, हम उसमे देव या व्यक्ति का आरोपण करते है। यह हुई 'तदाकार स्थापना'—आकार वताने वाली स्थापना।

दूसरी ओर हम शतरज के खेल मे लकडी या प्लास्टिक के मोहरे वना कर उन्हे राजा, वजीर, हाथी, घोडा, आदि नाम देते है। यहाँ उन नामो का हमने लकडी मे आरोपण किया इसलिए 'स्थापना निक्षेप' किया, परन्तु उन मोहरो मे राजा, वज़ीर, हाथी, घोडा—आदि का आकार नही होता। इसलिए इसे 'अतदाकार स्थापना'—आकार न होते हुए भी अमुक आकार वाले नामो का आरोपण—कहते है।

नाटक या सिनेमा के पात्र, चित्र, फोटोग्राफ, मूर्ति आदि मे मूल व्यक्ति की जो स्थापना होती है उसे 'तदाकार स्थापना निक्षेप' कहते है। स्मारक शिला, समाधि, ताश के पत्ते, शतरज के मोहरे, इत्यादि मे आकृति न होते हुए भी हम व्यक्ति की स्थापना करते है, वह 'अतदाकार स्थापना' कहलाती है।

इस प्रकार हमे यह समझना चाहिए कि जव हम विशेष नाम द्वारा निश्चित की हुई किसी वस्तु या व्यक्ति की स्थापना-आरोपण अन्य किसी वस्तु या व्यक्ति मे करते है तब 'स्थापना निक्षेप' माना जाता है।

प्रथम 'नाम निक्षेप' मे—'नाम और व्यक्ति' दोनो नाम

निक्षेप के अन्तर्गत है, उसी तरह यहाँ स्थापनानिक्षेप मे—'आकृति और व्यक्ति' दोनो स्थापना निक्षेप के अन्तर्गत है।

द्रव्य निक्षेप . भूतकाल तथा भविष्यकाल से सम्बन्धित विवक्षित वस्तु या व्यक्ति के मूल स्वरूप का उस नाम से वर्तमान काल मे उल्लेख करना 'द्रव्य निक्षेप' कहलाता है। उदाहरणत भारतवर्ष को स्वतन्त्रता मिलने के बाद, ब्रिटिश शासन-काल की सभी देशी रियासतो का भारतीय सघ मे ऐकीकरण कर दिया गया। इन सब राज्यो के जो राजा थे, वे अब राजा नही रहे। वास्तव मे राजा मिट चुके हुए फिर भी, इन महानुभावो को आज वर्तमान काल मे भी 'अमुक अमुक राज्य के राजा' रूप मे पहचाना या पुकारा जाता है। 'राजा' शब्द उनके भूतकाल का सूचक होते हुए भी, व्यवहार मे हम उन्हे 'राजा' कहते हैं। इसे 'द्रव्य निक्षेप' समझिये।

इसी तरह, भविष्य मे किसी व्यक्ति को लाख रुपये की विरासत मिलने वाली हो तो वर्तमान मे भी हम उसके लिए 'लखपति—'लक्षाधिपति' शब्द का प्रयोग करते है। इस वक्त ऐसा ट्रस्ट मौजूद है, जिसके अनुसार अमुक उम्र मे उसे लाख रुपये मिलेगे। परन्तु आज उसके पास लाख रुपये नही है। फिर भी व्यवहार मे उसे 'लखपति' कहा जाता है। यह 'द्रव्य निक्षेप' का प्रयोग है।

इस तरह अब स्पष्टतया समझ मे आ जाना चाहिए कि जब हम किसी वस्तु या व्यक्ति के विषय मे, उसके भूतकाल या भविष्यकाल को ध्यान मे रखकर वर्तमान मे किसी शब्द का आरोपण करते हैं तब वह 'द्रव्य निक्षेप' होता है।

भाव निक्षेप : किसी भी वस्तु या व्यक्ति को उसकी

वर्तमान अवस्था या उसके वर्तमान गुण-धर्म के अनुसार सबोधित करना 'भाव निक्षेप' कहलाता है। 'पडित जवाहरलाल' यह शब्द 'नाम निक्षेप' सूचित करता है। उनके किसी चित्र या पुतले को यह नाम देना 'स्थापना निक्षेप' है। जब वे प्रधानमत्री पद से अलग हो जायँ तब भी उनका 'प्रधानमत्री' के तौर पर परिचय कराना 'द्रव्य निक्षेप' है, जब कि, वर्तमान मे वे जब तक प्रधानमत्री पद पर विद्यमान है तब तक उनको 'भारत के प्रधानमत्री' कहना 'भाव निक्षेप' गिना जाता है।

इसी प्रकार दान देने वाले को दाता, राज्य करने वाले को राजा, कुश्ती लडने वाले को पहलवान, काव्य लिखने वाले को कवि, सघ निकालकर ले जाने वाले को सघवी (सघपति) आदि शब्दो द्वारा उनकी अपनी अपनी क्रिया की विद्यमानता मे उन्हे उस प्रकार पहचानना 'भावनिक्षेप' कहलाता है।

इस प्रकार इन चार निक्षेपो मे हम एक ही वस्तु या व्यक्ति को चार भिन्न भिन्न प्रकार से पहचानते है। पहले मे पहचानने के लिये सज्ञा या नाम, दूसरे मे मूल व्यक्ति के आकार की या नाम की स्थापना अन्य वस्तु मे, तीसरे मे भूतकाल अथवा भविष्यकाल का वर्तमान मे सबध, और चौथे मे वस्तु या व्यक्ति के वर्तमान काल मे विद्यमान गुणधर्म का उल्लेख—इतना इन चार निक्षेपो के अन्तर्गत आता है।

निक्षेपो का इतना विवरण देने के बाद अब हम नय और निक्षेप का सबध समझ ले।

'नय' ज्ञानमूलक, वचनात्मक, तथा ज्ञानात्मक, है। 'नय' के द्वारा हम वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते है। अत वस्तु (पदार्थ)

के साथ इसका सवध होने के कारण वस्तु या पदार्थ के साथ के इसके सम्बन्ध को 'विपय'-विषयो भाव' कहते हैं ।

निक्षेप 'अर्थात्मक' है । एक ही शब्द का वाच्य अमुक अर्थ मे 'नाम' है, अमुक अर्थ मे 'आकृति' है, अमुक अर्थ मे 'दल' है, और अमुक अर्थ मे 'भाव' है, यह वात हमे 'निक्षेप' से समझ मे आती है । यहाँ हमने शब्द और अर्थ का जैसा परस्पर सम्बन्ध जोडा, वैसा सम्बन्ध नय और निक्षेप के वीच भी है । नय और निक्षेप के वीच के सम्बन्ध को 'ज्ञेय ज्ञापक' सम्बन्ध कहते है । यह सवध तथा उसकी क्रिया नय के द्वारा जानी जा सकती है अत निक्षेप भी नय का ही विपय है ।

नयविपयक इस विवेचना मे हमने 'नय' शब्द का अर्थ समझा, उसके उपयोग के विपय मे सामान्य जानकारी भी प्राप्त की, और साथ ही उसका जिनसे सम्बन्ध है उन—प्रमाण और निक्षेप—के विपय मे भी सक्षिप्त जानकारी प्राप्त करली है ।

अब हम 'सात नय' का क्रमश परिचय प्राप्त करेगे ।

सात नय

पिछले पृष्ठों में नय, प्रमाण तथा निक्षेप के विषय में साधारण ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। हमने देखा कि ये सब अपने अपने ढंग से वस्तु अथवा पदार्थ के विषय में जानकारी देते हैं। हमें इस प्रकार जो ज्ञान मिलता है वह 'प्रमाणभूत ज्ञान' होता है।

यदि हम जैन तत्त्वज्ञान के भिन्न भिन्न विद्वानों से मिलें तो उनमें से प्रत्येक ने जिस शाखा पर प्रभुत्व प्राप्त किया होगा, उसी शाखा के विषय में वह हमसे कहेगा। एक विद्वान् हमें इस तत्त्वज्ञान का सैद्धान्तिक पहलू समझाएगा, दूसरे के पास इसका ऐतिहासिक परिचय मिलेगा, तीसरा विद्वान् हमें इसके साहित्यिक वैभव का दर्शन कराएगा। इस प्रकार हमें भिन्न भिन्न सूत्र से भिन्न भिन्न प्रकार की जानकारी मिलेगी। इन सब की बातें यदि एकत्रित की जायें तो आखिर कुल मिलाकर वे सब एक ही विषय-जैनतत्त्वज्ञान—से सम्बन्धित बातें होंगी।

इन सब विद्वानों से हमें उनके 'अभिप्राय' भी जानने को मिलेंगे। जो जिस शाखा का अधिकारी विद्वान् होगा वह उस शाखा के विषय में अपना अभिप्राय कहेगा। यदि इन सबके अभिप्राय एकत्रित किये जायें तो मालूम होगा कि उन सब में पितृविषय—तत्त्वज्ञान के ही अंश होंगे।

यदि हम इस दृष्टि से 'नय' के विषय में विचार करें तो प्रतीत होगा कि जिस प्रकार हमें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाण से वस्तु का समग्र रूप में यथार्थ ज्ञान मिलता है, उसी तरह वस्तु

के आंशिक स्वरूप का परिचय नय के द्वारा मिलता है। पदार्थ के भिन्न भिन्न अंगो का भिन्न भिन्न दृष्टियो मे अभिप्राय प्रस्तुत करके उसका यथार्थ परिचय हमे 'नय' देता है।

अत 'नय' शब्द का अर्थ 'अभिप्राय' भी किया जा सकता है। जैसे प्रमाण शुद्ध ज्ञान है, वैसे नय भी एक शुद्ध ज्ञान है। इन मे अन्तर इतना ही है कि प्रमाण से हमे वस्तु के अखड स्वरूप का ज्ञान होता है, जब कि नय से हमे वस्तु के अंगभूत भिन्न भिन्न स्वरूपो का ज्ञान होता है।

हम पदार्थविज्ञान की किसी प्रयोगशाला (Laboratory) मे कोई वस्तु विश्लेपण के लिये दे तो उसका पृथक्करण (Analysis) करके उस प्रयोगशाला का वैज्ञानिक हमारे हाथ मे एक सूची रख देगा। इस सूची पर दृष्टि फिराने पर हमे मालूम होगा कि उसने जिस वस्तु का पृथक्करण किया है उसमे कौन कौन सी चीजे कितनी कितनी मात्रा मे है।

मनुष्य के शरीर मे सचरण करने वाले रक्त मे कौन कौन सी वस्तुएँ होती हैं, इसकी जानकारी हमे कोई भी पैथोलोजिस्ट दे सकेगा। रक्त की जॉच कराने के बाद कई रोगों का पूर्ण निदान हो सकता है, और पूर्ण निदान के बाद उसका सफल इलाज हो सकता है, यह तो हम सब जानते है।

इसी तरह 'नय' के द्वारा वस्तु के भिन्न भिन्न अंगो को जानने की पद्धति भी ऐसी एक पृथक्करण विधि (Analytical Process) है। जैन तत्त्वज्ञानियो ने वस्तु के भिन्न भिन्न स्वरूपो का वर्गीकरण (Analysis) करने के लिये हमारे सामने सात प्रकार की प्रयोगशालाएँ पेश की है उन्होने उनको 'नय, सात नय' नाम दिया है। अब हम इन सात नयो की क्रमश:

जाँच करें। सातो के नाम से तो हम परिचित है, यहाँ फिर उनका उल्लेख करते हैं—

(१) नैगम नय
(२) सग्रह नय
(३) व्यवहार नय
(४) ऋजुसूत्र नय
(५) शव्द नय
(६) समभिरूढ नय
(७) एवभूत नय

अव हम क्रमश एक एक नय को लेकर सातो का परिचय प्राप्त करेगे। यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए कि 'नय' एक दृष्टि है—वस्तु को देखने की दृष्टि है। इनमे उत्तरोत्तर नय अपने पहले के नय से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर दृष्टि वाला है।

(१) **नैगम नय**—इसकी सक्षिप्त व्याख्या देनी हो तो हम कह सकेगे कि,"वस्तु के सामान्य तथा विशेष इन उभय स्वरूपो को जो मानता है परन्तु अलग अलग मानता है वह नैगम।"अग्रेजी मे हम इसे (Figurative Knowledge) कह सकेंगे।

'नैगम' मे मूल शव्द 'निगम'है। न+एक+गम= नैगम। इसमे 'निगम'शव्द का अर्थ होता है, सकल्प (निर्णय)। 'निगम' शव्द का अर्थ 'कल्पना'भी है। कल्पना से होने वाले व्यवहार को 'नैगम' कहते है। यहाँ कल्पना का अर्थ कोई असत्, काल्पनिक धर्म का स्फुरण नही, परन्तु सत्, वास्तविक धर्म का स्फुरण समझना चाहिए।

इस नय मे दो वाते मुख्य है। पहली वात यह कि नय

भूत भविष्य और वर्तमान-इन तीनो को वर्तमानवत् वताता है। यह किस प्रकार सो देखे।

(अ) हमारे एक मित्र श्री परमानन्द अमेरिका जाने का निश्चय करने के वाद हमसे मिलते है और कहते है,"मै अमेरिका जाता हूँ।" अव जिस वक्त परमानन्द भाई हमसे यह वात कहते हैं, उस समय तो वे सचमुच हमारे सामने भारत मे ही खडे है। फिर भी चूकि उन्होने जाना निश्चित कर लिया है, इसलिए व्यवहार दृष्टि से वे हमसे कहते है कि "मै जाता हूँ।" हम इस वात का विरोध नही करते। जाने की क्रिया तो भविष्य काल मे होने वाली है, परन्तु उन्होने सकल्प कर लिया है, इसलिये हम उनके प्रवास पर जाने की वात को वर्तमानवत् मान लेते हैं।

मेडिकल कॉलेज मे पढने वाले विद्यार्थियो के लिये'डाक्टर' शब्द का सम्वोधन सामान्यत प्रचलित है। अभी तो विद्यार्थी पढ रहे है, उत्तीर्ण होने के वाद डाक्टर का काम तो वे भविष्य मे करने वाले है। फिर भी उन्होने डाक्टर वनने का सकल्प करके उसके लिये अध्ययन शुरु कर दिया है, इसलिये उन्हे 'डाक्टर' कह कर पुकारने मे भी हम भविष्यकाल का उपयोग वर्तमानवत् कहते हैं।

व्यवहार मे किये जाने वाले शब्द प्रयोग 'नैगम' नय के अनुसार है। यहाँ सकल्प की वात आती है इसलिए इसे 'सकल्प नैगम' करते है।

(आ) एक आदमी पेड पर से गिर जाता है,अथवा साइकिल का धक्का लगने से उसे तकलीफ होती है, तो वह चिल्लाता है, "मर गया, वाप रे, मर गया।" हम देख सकते है कि

वह स्वय वोल रहा है, इसलिए मर नही गया है। फिर भी वह कहता है "मर गया।" किसी को व्यापार मे भारी नुकसान होने पर उसके लिये ऐसे शव्द प्रयोग होते है, "साफ हो गया, खत्म हो गया, मर गया।' दरअसल तो नुकसान के रुपये चुकाने पर ही वह 'साफ या खत्म हो गया' कहा जा सकेगा। और रुपये चुकाएगा तव भी शव्दो के यथार्थ अर्थ (सही माने) मे तो वह साफ—विलकुल साफ—शायद ही होगा। उसी तरह किसी मकान की दीवार या छत गिर जाने पर भी उसके लिये 'मकान गिर गया' ऐसा कहा जाता है।

यहाँ भविष्य मे होने वाली, या होने की सभावना वाली वाते वर्तमान मे आशिक रूप मे कही गई है। ऐसी वातो के व्यावहारिक स्वीकार को 'अश नैगम' कहते है।

इसी तरह जव हम कहते है कि, "अरिहत, विदेहमुक्त अथवा सिद्ध है।" तव यह कथन वर्तमान मे कहा जाता है फिर भी इसमे भूतकाल एवं भविष्य काल का समावेश हो जाता है।

(इ) कोई कार्य प्रारंभ किया गया हो, परन्तु पूरा न हुआ हो तव भी हम 'यह काम पूरा हो गया' इस अर्थ की वात कभी कभी कहते है। ऐसा कई वार होता है। जैसे—रसोई वनाने का प्रारम्भ करते समय जव हम कहते है कि आज घीये का शाक वनाया है' तव शाक तैयार नही होता, अभी तो अगीठी पर होता है फिर भी 'शाक वनाया है' ऐसी वर्तमान सूचक वात हम कहते है। इसमे जो वस्तु अभी नही वनी, उसे वन गई कहने मे भूतकाल पर भविष्यकाल का आरोपण करके

वर्तमानवत् प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकारके प्रस्तुतीकरण को 'आरोप नैगम' कहते है।

'आरोप नैगम' के अन्तर्भूत कई शब्द प्रयोगो को 'उपचार' नैगम' कहते है। 'यह मेरा दाहिना हाथ है, ये मेरे शिरश्छत्र हैं, ये मेरे हृदय के हार है, यह मेरा सर्वस्व है' आदि अनेक बाते किसी अन्य के विषय मे भिन्न भिन्न कारणो से कही जाती है। ये सब 'उपचार नैगम' के उदाहरण है।

(ई) किसी महापुरुष की पुण्यतिथि (सवत्सरी)के दिन हम कहते है "आज उनका निर्वाण हुआ।" इसमे 'आज' शब्द वर्तमान-सूचक है, जब कि निर्वाण तो कई वर्षो पहले हुआ था, इसलिए भूतकालिक घटना है। फिर भी हम उस घटना का उल्लेख वर्तमानवत् करते है। भूतकाल की इस घटना को जब इस प्रकार वर्तमान मे प्रस्तुत करते है तब हम वर्तमान पर भूतकाल का आरोप करते है। यह भी 'आरोप नैगम' के अन्त-र्गत है।

यहाँ हमने देखा कि भूतकाल को भविष्य-काल की तथा भूत और भविष्य के बीच वर्त्तमान की अपूर्ण घटनाओ को हम वर्तमानकाल मे वर्तमानवत् कहते है। यह 'नैगम नय' की एक ध्यान मे रखने योग्य बात है।

दूसरी बात वस्तु के सामान्य तथा विशेष स्वरूप की है। हम ऊपर बता चुके है कि 'नैगम नय' वस्तु के सामान्य तथा विशेप–दोनो स्वरूपो को अलग अलग मानता है। इसे समझने के लिये उदाहरण देते है—

"विवाह या इसी प्रकार के किसी अन्य अवसर पर हम फोटो खिंचवाते है। इस फोटो मे अपने परिवार के अतिरिक्त मित्र

मडल को भी शामिल करके हमने एक 'ग्रुप फोटो' बनवाया है। इस फोटोग्राफ के विषय मे जब हम कहते है, कि 'यह हमारे मित्रमडल-परिवार का फोटो है।' तब हम 'सामान्य' अर्थ मे उसका वर्णन करते है। उसके बाद जब हम उस फोटो मे पुत्र, पुत्री, पत्नी, भाई,बहन आदि का नाम लेकर उनकी अलग २ पहचान करवाएँ, तब हम 'विशेप' अर्थ मे उसका वर्णन करते है।"

इस प्रकार जब हम प्रत्येक वस्तु का सामान्य और विशेप-स्वरूपात्मक और लक्षणात्मक-वर्णन करते है, तब 'नैगम नय' उन दोनो स्वरूपो को स्वीकार करता है, परन्तु वह हमे उनका अलग अलग परिचय देता है। यह हुई 'नैगम नय' की वात।

(२) संग्रह नय यह नय वस्तु के सामान्य स्वरूप का परिचय देता है। 'नैगम नय' मे वस्तु के सामान्य तथा विशेष, दोनो स्वरूप बताये गये है। उनमे से वस्तु के सामान्य स्वरूप के विषय मे यह नय हमे ज्ञान देता है।

अग्रेजी मे इस सग्रह नय को Collective अथवा Synthetic oppioach कह सकते है। synthetic शब्द यहाँ Synthesis का सूचक है, Synthesis माने 'एकीकरण'।

यह नय प्रत्येक वस्तु को केवल सामान्य धर्म वाली ही मान कर उस रूप मे हमे उसका परिचय देता है। इसका अभिप्राय ऐसा है कि, सामान्य से भिन्न विशेष आकाश-कुसुम वत्, अर्थात् 'असत्' है। नीम या आम के पेड वनस्पति से अलग करके नही देखे जाते। अगुलियाँ हाथ से अलग नही है, और हाथ शरीर से अलग नही है।

नय, दुर्नय न बने, सुनय बना रहे, इस हेतु से यहाँ हमें 'स्यात्' शब्द को ध्यान मे रखकर चलना चाहिए। इस नय का नाम ही 'सग्रह' है, अत यह वस्तुओ के सग्राहक (समग्र) स्वरूप का ही दर्शन करवाता है। जब हम जीव, मनुष्य, जानवर, खनिज आदि शब्दो का प्रयोग करते है तो प्रत्येक शब्द मे बहुत से प्रकारो का समावेश होता है। यह सग्रह नय वस्तु के सामान्य अर्थ मे वस्तु का इस प्रकार प्रस्तुतीकरण करके उसका परिचय देता है।

सग्रह नय के 'पर सग्रह' और 'अपर सग्रह' ये दो भेद बताये गये है। ये दोनो शब्द 'सामान्य' अर्थ के सूचक होते हुए भी एक मे 'महासामान्य' और दूसरे मे 'अवातर सामान्य' का निर्देश किया गया है। यह नय वस्तु के किसी भी विशेप भाव को स्वीकार नही करता। उदाहरणत एक आलमारी मे कोट, पतलून, कमीज, धोती, साडी, आदि अनेक प्रकार के कपडे रखे हो तो यह नय इस का परिचय इस प्रकार देने के बदले केवल इतना ही कहेगा कि "आलमारी मे कपडे हैं।" अनाज के गोदाम मे रखे हुए गेहूँ, चावल, दाल, मूँग, मोठ आदि का अलग अलग उल्लेख करने के बदले यह सग्रह नय कहेगा कि "गोदाम मे अनाज भरा है।" हम देख सकते है कि व्यवहार मे भी हम प्राय इस प्रकार सामान्य अर्थ की बहुत सी बाते करते है। यह सग्रह नय पर आधारित अभिप्राय है।

यहाँ फिर हम 'स्यात्' शब्द को याद करे। नैगम नय मे हमने वस्तु के दो स्वरूप देखे, सामान्य और विशेप। उनमे से केवल एक 'सामान्य' को ही स्वीकार कर यह 'सग्रह नय' बैठ गया है। परन्तु 'स्यात्' शब्द को बीच मे लाने से तुरन्त

समझ मे आ जायगा कि यह सग्रह नय वस्तु के सामान्य स्वरूप का ही मात्र परिचय करवाता है, फिर भी दूसरे नयो का विरोध नही करता।

(३) **व्यवहार नय** अब यह व्यवहार नय क्या कहता है सो देखे ?

यह नय वस्तु के केवल विशेष स्वरूप को ही मानता है। संग्रह नय ने वस्तु का सामान्यरूप से जो सग्रहीकरण किया है, उसका विभाजन कर वस्तु मे रहे हुए विशेष अर्थ को अलग कर के उस 'विशेष' का परिचय कराने का काम यह व्यवहार नय करता है। यह नय विशेष से भिन्न सामान्य की ओर दृष्टि ही नही फिराता।

अग्रेजी मे इस नय को Practical, Individual, Distributive or Analytical approach कहते है। इसे Gradations भी कह सकते है।

यह व्यवहार नय वस्तु को विशेष धर्म वाली ही मानता है। उसके अभिप्राय के अनुसार विशेष से रहित सामान्य खरगोश के सीग जैसा है। यदि हम केवल 'जानवर' शब्द बोले तो उसमे पूँछ वाले और विना पूँछ के, सीग वाले और विना सीग के आदि अनेक जानवरो का समावेश हो जाता है। इसलिये उसका स्पष्ट अर्थ नही समझा जा सकता। यदि कोई कहे कि 'वनस्पति लीजिये' तो उसमे आम, नीम, अमरूद आदि विशेष भाव के सिवा दूसरा क्या है ? विशेष अर्थ मे न बोला जाय तो कोई क्या खरीदे ? 'सामान्य' से कोई अर्थ-क्रिया नही होती, विशेष पर्यायो (अर्थ या स्वरूप) से ही कार्य होता है।

व्यवहार नय सग्रह नय से बिलकुल विपरीत बात करता है। परन्तु रोजाना जीवन मे हमे ऐसा बहुत देखने को मिलता है। जिम ममय जिस अर्थ मे वस्तु का उल्लेख करने मे काम बनता हो उस अर्थ मे वैसे शब्दो का प्रयोग होता ही है। मिठाई बेचने वाले की दुकान पर 'मिठाई मिलती है।' ऐसा हम सामान्य अर्थ मे कहते ही है। हमे जब पेडे, बरफी या हलवा खरीदना हो तब हम उमी दुकान को 'पेडे या हलवे की दुकान' भी कहते है। अत इन दोनो नयो के अभिप्राय एक दूसरे के विरुद्ध होते हुए भी जीवनकार्य मे एक दूसरे के पूरक तथा उपयोगी हैं।

यहाँ फिर हमे 'स्यात्' शब्द ध्यान में रखना चाहिये। जब स्याद्‌वादी इस व्यवहार नय के द्वारा बात करेगा तब वह वस्तु के विशेष स्वरूप की ही बात करेगा। फिर भी स्याद्‌वाद अन्य नयो के अभिप्रायो को भी समभाव से स्वीकार करता है, यह याद रखना चाहिए। अनेकान्त की यह विशेषता है।

इन तीन नयो की एक दूसरे से उत्तरोत्तर भिन्नता का हमे परिचय हो गया। प्रथम नय वस्तु के सामान्य और विशेष इन दो स्वरूपो को अलग अलग बताता है। दूसरा इन मे से सामान्य स्वरूप का वर्णन करता है और तीसरा विशेष स्वरूप का परिचय देता है।

हम पहले कह चुके है कि ये तीनो नय 'द्रव्यार्थिक' अर्थात् वस्तु के सामान्य अर्थ का अनुसरण करने वाले है। फिर भी यहाँ हमने देखा कि व्यवहार नय वस्तु का विशेष स्वरूप बतलाता है। स्वभावत कोई यह पूछेगा कि "ऐसा क्यो" ?

यहाँ हमे यह याद रखना चाहिए कि यहाँ जो 'विशेष' बताया जाता है वह 'सामान्यगामी विशेष' है, इसलिए व्यवहार नय का समावेश 'द्रव्यार्थिक' मे किया गया है। अन्तिम चार नय पर्यायार्थिक नय है। इन नयो की दृष्टि पहले तीन की अपेक्षा सूक्ष्म है और इन नयो मे हमे 'विशेषगामी विशेष' देखने को मिलता है। अब हम चौथे नय का परिचय देगे।

(४) **ऋजुसूत्र नय**—यह नय स्थूल और सूक्ष्म प्रकार से वस्तु की वर्तमान अवस्था बतलाता है, ग्रहण करता है। यह वर्तमानकालवर्ती तथा अपनी ही वस्तु को मानता है। अंग्रेजी मे इसे 'The thing in its present condition' (वस्तु अपनी वर्तमान अवस्था मे) कहा जा सकता है। यह नय वस्त की भूत तथा भावी अवस्था को नही मानता। यह वस्तु के अपने वर्तमान पर्यायो (स्वरूपो) को ही मानता है। परायी वस्तु के पर्याय को यह स्वीकार नही करता है। यह ऐसा सूचित करता है कि परायी वस्तु के पर्यायो से कभी अपना काम नही होता। भूत, भावी तथा पराया, ये तीनो ही कार्य करने मे असमर्थ है, इसलिये यह नय उन्हे असत् तथा आकाशकुसुमवत् मानता है।

वर्तमानकाल के जिन सूक्ष्म तथा स्थूल भेदो को ऋजुसूत्र नय स्वीकार करता है वे सामान्य वर्तमानकाल तथा चालू वर्तमान काल हैं। 'आज' और 'अब' ये दोनो शब्द वर्तमान के द्योतक होते हुए भी उनमे स्थूल तथा सूक्ष्म ये दो भाव रहे हुए है। ऋजुसूत्र नय वर्तमानकाल को इन दो भेदो के साथ स्वीकार करता है।

इस नय की दृष्टि से जो वर्तमानकाल मे नही है और जो

अपना नही है, वह निकम्मा माना जाता है। उदाहरणार्थ— वर्तमान मे हमारे पास जो साधन हो वही उपयोगी हो सकता है। भूतकाल की या परायी वस्तु काम मे नही आती। हमारे पास साइकल हो और उसका वर्तमान मे उपयोग किया जाता हो तो यह नय उसे साइकल कहेगा, अन्यथा यह नय उसको साइकल के तौर पर स्वीकार नही करेगा।

(५) शब्द नय—वस्तु के लिये प्रयुक्त शब्द के लिंग, वचन, काल, संख्या आदि व्याकरण भेदो से होने वाले अर्थों को अलग अलग रूप मे जानने और बताने वाला नय 'शब्द-नय' है। यह नय अनेक शब्दो द्वारा पहचाने जाने वाले एक पदार्थ को एक ही मानता है। फिर भी यदि शब्द के लिंग और वचन भिन्न २ हो तो यह पदार्थ को भी भिन्न २ मानता है। जैसे घडा (मटका) और घडी (मटकी) इन दो शब्दो मे से एक पुलिंग और दूसरा स्त्रीलिंग होने के कारण यह नय इन दोनो को भिन्न मानेगा।

'व्यक्ति' शब्द लीजिये। इसमे स्त्री, पुरुष, और नपुंसक इन तीनो का समावेश होता है। लिंगभेद के कारण इन तीनो का अलग अलग अर्थ होता है। इन शब्दो को एक वचन के बदले बहुवचन मे प्रयुक्त करे तो भी अर्थभेद होता है। इसी तरह मधुरता, सुन्दरता, कोमलता, बलवान, गुणवान आदि शब्दो का जब प्रयोग किया जाता है तब लिंग (जाति) के अनुसार भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं।

यह नय, जो शब्द जिस अर्थ का सूचक हो उस अर्थ को प्रकट करने के लिये वही शब्द प्रयुक्त करेगा। नर और नारी का सामान्य अर्थ देने वाले मनुष्य शब्द के बदले नारी क

'स्त्री' और नर को 'पुरुष' शब्द के द्वारा ही यह नय प्रकट करेगा।

तात्पर्य यह है कि यह शब्दनय लिग, वचन, काल आदि के द्वारा वस्तु के अर्थ मे जो परिवर्तन होता है उस परिवर्तन के अनुसार होने वाले अर्थ मे वस्तु का परिचय देता है। इसमे मुख्यत. भाषा के व्याकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण इसे हम 'व्याकरणवादी' नाम दे सकेंगे। अग्रेजी मे इस नय को Grammatical Approach कहा जा सकता है।

(६) समभिरूढ़ नय— शब्दभेद से अर्थभेद माने सो समभिरूढ नय। एक ही वस्तु को अलग-अलग शब्दो द्वारा पहचाना जाता है तब वे शब्द 'पर्याय' Other words कहलाते है। उन अलग २ शब्दो के व्युत्पत्तिजन्य अलग-अलग अर्थ होते है। यह नय उन भिन्न भिन्न अर्थो को स्वीकार कर शब्दभेद के कारण वस्तु को भी अलग मानता है। उपर्युक्त 'शब्द नय' कुभ, कलश, घडा, आदि भिन्न-भिन्न शब्दो द्वारा सूचित पदार्थ को एक ही मानता है, जब कि यह समभिरूढ नय उससे अधिक सूक्ष्म दृष्टि वाला होने के कारण इन तीनो शब्दो द्वारा सूचित पदार्थो को एक नही बल्कि भिन्न २ मानता है। इस नय का अभिप्राय ऐसा है कि 'यदि वस्तु का नाम बदलने से (पर्यायभेद से) वस्तु के अर्थ मे अन्तर न पडता हो तो फिर 'कुभ' और 'कपडे' मे भी अन्तर नही होगा।

इस प्रकार यह नय हमे सिखाता है कि एक ही वस्तु के शब्द (नाम) मे फेरफार होने पर उसमे पहले शब्द (नाम) से भिन्न तथा निश्चित अर्थ होता है।

अग्रेजी मे इस नय को 'Specific knowledge' कहते

है। इस नय की यह विशिष्टता है कि यह शब्द का प्रचलित अर्थ नहीं किन्तु मूल अर्थ प्रकट करता है। उदाहरणार्थ—श्रीकृष्ण के अनेक नाम है। प्रत्येक नाम का कोई न कोई विशेष Specific अर्थ होता ही है। यद्यपि ये सभी नाम व्यवहार मे केवल 'श्रीकृष्ण' का ही नाम सूचित करते है, फिर भी समभिरूढ दृष्टि से नाम भेद के कारण प्रत्येक का अलग २ अर्थ है।

'राजा' शब्द का अर्थ है 'राज्य करने वाला।' उसके लिये 'गो-ब्राह्मण-प्रतिपाल'—यह शब्दप्रयोग किया जाने पर शब्दभेद के कारण अर्थभेद भी हो ही जाता है। यहाँ राज्य करना तथा गाय व ब्राह्मण का पालन करना—ये दोनो धर्म राजा मे निहित हैं, परन्तु यह समभिरूढ नय राजा के अलग-अलग धर्म को लेकर, जो जहाँ कार्यशील होगा, वहाँ उस शब्द का प्रयोग करेगा।

इस प्रकार 'शब्दभेद' से अर्थभेद को जो जानता और समझाता है, वह समभिरूढ नय कहलाता है।

(७) एवंभूत नय यह क्रियाशील-Active-नय है। यह शब्द के क्रियात्मक अर्थ को ग्रहण करता है और जिस समय क्रिया होती हो उस समय ही, क्रिया के उसी अर्थ मे उस शब्द को ग्रहण करता है। इस नय का नाम 'एवभूत' इसलिए है कि यह किसी शब्द का जो अर्थ है उसी प्रकार से (एव) वस्तु इस समय हुई (भूत) है अर्थात् उस वस्तु को उन सयोगो मे ही स्वीकार करता है। किसी भी शब्द मे जिस क्रिया का भाव समाया हो वह क्रिया यदि वर्तमान मे जारी न हो तो यह नय उस शब्द को उस अर्थ मे स्वीकार नही करेगा।

हम ऊपर देख चुके हैं कि 'शब्द नय व्याकरणभेद से अर्थभेद' बताता है। परन्तु यह एवभूत नय 'क्रियाभेद से अर्थभेद' सूचित करता है। इसमे खास ध्यान मे रखने की बात यह है कि शब्द के अर्थ मे उल्लिखित क्रिया जिस समय न होती हो उस समय उस शब्द को यह नय उस अर्थ मे स्वीकार नही करता।

उदाहरणार्थ—'गायक' शब्द का अर्थ होता है 'गीत गाने वाला'। एवभूत नय उसे सर्वदा गायक नही मानेगा। वह आदमी जिस समय गीत गाने की क्रिया करता होगा, तभी उसे 'गायक' के तौर पर स्वीकार करेगा। इसी तरह पुजारी जब पूजा की क्रिया करता होगा तभी यह नय उसे 'पुजारी' कहेगा।

व्यवहार मे कई बार इस नय के अनुसार वर्ताव होता हुआ दिखाई देता है। उदाहरणार्थ कोई सरकारी कर्मचारी अथवा मिल में काम करने वाला कोई कारीगर जिस समय अपने २ कर्तव्य पर हो उस समय सरकारी तन्त्र, या मिल का कार्य-वाहक तन्त्र उनके साथ जैसा वर्ताव करता है वैसा वर्ताव काम के बाद के समय मे नही करता।

सरकारी अधिकारी जिस समय काम पर On duty हो तब उसके साथ यदि कोई मारपीट या दुर्व्यवहार करे तो सरकार उस अधिकारी का पक्ष लेती है। इस मामले मे यदि अदालत मे जाना पडे तो सरकार स्वय फरियादी बनती है, और उस अधिकारी को साक्षी बन कर जाना होता है। वही अधिकारी जब अपने घर पर या बाहर Off duty कर्तव्य पर न हो तब यदि उसका किसी के साथ झगडा हो जाय तो उस हालत मे उसके साथ सामान्य प्रजाजन का सा वर्ताव किया

जाता है। ऐसे मामले मे यदि कोर्ट मे जाना पडे तो उसे स्वय फरियादी बनना पडता है और सरकारी सुविधाओ का लाभ उसे नही मिलता।

मिल में काम करने वाला कारीगर मिल में कोई दुर्घटना होने से घायल हो जाय या मर जाय तो वहाँ वह बदले (Compensation) का हकदार होता है। रास्ते पर, मिल से बाहर या अन्य किसी स्थल पर ऐसा होने पर तो मिल के व्यवस्थापको का उससे कोई तअल्लुक नही होता।

इन दोनो दृष्टान्तो मे दोनो जने जब कार्यरत थे, क्रिया करते थे तब एवभूत नय ने उन्हे अधिकारी तथा कारीगर स्वीकार किया। यह क्रिया पूरी हो जाने के बाद एवभूत नय की दृष्टि से ये दोनो व्यक्ति अपने मूल नामो के अनुसार 'अर्जुनसिंह' और 'जोरु भा' ही रहेगे, अधिकारी या कारीगर नही। ये दोनो दृष्टान्त स्पष्टतया प्रकट करते है कि एवभूत नय इन दोनो को, जब वे कार्य द्वारा दिये गये नामो वाली क्रिया मे रत हो, तभी उन शब्दो (नामो) से पहचानता है।

समभिरूढ नय की दृष्टि से इन दोनो व्यक्तियो के लिये वे अपनी अपनी क्रिया मे रत न हो तब भी 'अधिकारी' और 'कारीगर' इन शब्दो का प्रयोग हो सकता है। इस प्रकार एव-भूत नय समभिरूढ की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म अवलोकन करता है और उससे भिन्न अभिप्राय प्रकट करता है।

इस प्रकार हमने इन सातो नयो का स्वरूप जान लिया। ये सभी नय 'ज्ञेय पदार्थविषयक अध्यवसाय विशेष' माने गये है। अध्यवसाय अर्थात् 'मनोगत समझ'। जो जानने योग्य पदार्थो की मनोगत-समझ-ज्ञान देता है सो 'नय' है। यह हुई

इसकी सामान्य व्याख्या । यह समझ भी स्वतन्त्र-निरपेक्ष-नही है, अन्य नयो से सापेक्ष है, अपेक्षायुक्त है, यह बात भूलनी नही चाहिए, तभी अनेकान्तवाद की मर्यादा मे रहा जा सकता है ।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, ये सातो नय एक एक से अधिक विशुद्ध है । उत्तरोत्तर नयो का विषय सूक्ष्म है, किन्तु एक ही वस्तु को देखने और समझने के ये भिन्न-भिन्न पहलू है । ये सातो पहलू इकट्ठे होने पर वस्तु की सम्पूर्ण जानकारी मिलती है । ये सातो पहलू मिलने से वस्तु बनती है ।

ये सातो नय मिलकर जो श्रुत बनाते है उसे 'प्रमाणश्रुत' कहते है । इसमे विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष होने पर ही सत्य है, अन्यथा मिथ्या है, दुर्नय है । ये सातो नय अपने-अपने स्थान पर अमुक निश्चित वस्तु बताते हैं, परन्तु दूसरे नय की बताई हुई वस्तु का खडन करे तो 'नयाभास' अथवा 'दुर्नय' बन जाँय ।

वस्तु के अन्य स्वरूपो का खडन किये बिना जो अपनी मान्यता को स्वीकार करता है वह सुनय है । अन्य नय से सापेक्ष रहकर, दूसरी अपेक्षाओ के अधीन रहकर जब वह वस्तु का यथार्थ स्वरूप बताता है तब उसकी गणना 'स्याद्वाद श्रुत' मे होती है ।

यहाँ उस 'स्यात्' शब्द को हम एक बार फिर याद कर ले । इस नय का प्रयोजन अन्य नयो की सापेक्षता सूचित करने के लिये है । परस्परविरुद्ध धर्मो का एक ही वस्तु मे स्वीकार करने के लिए—पूरी समझदारी के साथ स्वीकार करने के लिए ही, इस स्याद्वाद सिद्धान्त की आवश्यकता है । यही जैन दर्शन की अपूर्वता है ।

वस्तु एक ही हो, फिर भी उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप बुद्धि मे उत्पन्न होते ही है। इस भिन्न-भिन्न प्रकार की बुद्धि को हम 'नयबुद्धि' कह सकते है।

प्रत्येक वस्तु अनेक गुण-धर्मात्मक है। नय की मदद से इन भिन्न-भिन्न गुण-धर्मो का जो ज्ञान होता है वह भी भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति तथा कक्षा Calibre and catagoiy के अनुसार उसे समझ सकता है।

पिछले पृष्ठो मे हमने जो चार प्रमाण देखे है वे वस्तु को समग्ररूप मे प्रकट करते है, इसलिए कोई मतभेद उपस्थित नही होते, परन्तु वस्तु को जब अंशत देखा जाता है तव वहाँ मतभेद को अवकाश रहता है। इन मतभेदो का निवारण करने का साधन यह 'नय-ज्ञान' है।

हमारी 'मनोगत समझ' जिसे जैन तत्त्वज्ञान की परिभाषा मे 'अध्यवसाय' कहते हैं, हमारा एक अभिप्राय है। यह अभिप्राय दो प्रकार से प्रवर्तमान होता है—शब्द द्वारा तथा अर्थ द्वारा।

शब्द दो प्रकार के होते है—एक रूढिगत, जो रूढि और परपरा से प्रयुक्त होता है, दूसरा शब्द व्युत्पत्ति से अर्थात् व्याख्या से बना होता है। इसी प्रकार अर्थ के भी दो भेद है, एक सामान्य (Common) और दूसरा विशेष (Specific)।

हमने जिन सातो नयो का परिचय प्राप्त किया है, उनमे पहले चार—नैगम, सग्रह, व्यवहार, और ऋजुसूत्र—अर्थ-प्रधान नय है। अन्तिम तीन—शब्द, समभिरूढ, और एवभूत शब्दप्रधान नय है।

नैगम नय हमारे समीप वस्तु के सामान्य तथा विशेष, ये दोनो अर्थ प्रस्तुत करता है। सग्रह नय केवल सामान्य अर्थ ही

स्वीकार करता है। व्यवहार नय 'शास्त्रीय और तात्त्विक सामान्य या विशेष की परवाह किये बिना' लोकव्यवहार मे उपयुक्त विशेष अर्थ को ही स्वीकार करता है—बताता है, जब कि ऋजुसूत्र केवल वर्तमान क्षण को ही स्वीकार करता है, वर्तमान क्रिया के उपयोगी अर्थ का ही निरूपण करता है। इस प्रकार ये चार अर्थनय है।

शब्द नय रूढि से शब्दो की प्रवृत्ति को स्वीकार करता है, जब कि समभिरूढ नय व्याख्या से शब्दो की प्रवृत्ति की ओर हमारा ध्यान खीचता है। और अतिम—एवभूत नय क्रियाशील वर्तमान Active present को स्वीकार करता है। जब वस्तु क्रियाशील– In action हो तभी उसे उस वस्तु के रूप मे स्वीकार करता है। इस प्रकार ये तीन नय शब्द-प्रधान नय हैं।

ये सब तो विचारमूलक तत्त्वज्ञान की बाते हुई। परन्तु हमे जब धर्ममूलक अर्थात् धर्म के आचरण से सम्बन्धित कार्यमूलक बातो का विचार करना हो तब विशिष्ट–Specific हेतु के लिए जैन दार्शनिको ने दो नय प्रस्तुत किये हैं। वे दो नय है—

१) व्यवहार नय
२) निश्चय नय

यहाँ निश्चय का एक अर्थ 'साध्य' होता है। व्यवहार का अर्थ यहाँ 'साधन' माना गया है। जिन साधनो से जो साध्य सिद्ध होता है वे साधन व्यवहार के क्षेत्र मे आते है। सिद्ध होने वाला जो 'साध्य' है वह निश्चय के क्षेत्र मे आता है। उदाहरणार्थ ध्यान की क्रिया से आत्मा की शक्ति का

विकास होता है। यहाँ 'शक्ति का विकास' साध्य अर्थात् निश्चय है, और ध्यान की क्रिया को साधन अर्थात् व्यवहार गिना जाता है। सामायिक की क्रिया से आत्मा मे समभाव सिद्ध होता है। यहाँ 'समभाव' साध्य अथवा निश्चय और सामायिक की क्रिया को साधन अर्थात् व्यवहार माना जाता है।

'निश्चय' शब्द का दूसरा अर्थ 'वस्तु का तात्त्विक स्वरूप' होता है। यहाँ इसी स्वरूप के अनुकूल बाह्य स्वरूप व्यवहार कहलाता है। उदाहरणार्थ—'निश्चय सम्यक्त्व' अर्थात् आत्मा की तत्त्वश्रद्धा की परिणति। इस परिणति के अनुकूल सम्यक्त्व का बाह्य आचार है 'व्यवहार सम्यक्त्व'।

यहाँ खास ध्यान मे रखने योग्य बात यह है कि, निश्चय को केन्द्र स्थान मे रखकर आचरित व्यवहार ही सद्व्यवहार है और निश्चय के लक्ष्य से रहित सारा व्यवहार असद्-व्यवहार है।

निश्चय और व्यवहार की बात बडे महत्त्व की है। हमारी उन्नति अथवा अवनति का मार्ग निश्चय और व्यवहार के विषय मे हमारी स्पष्ट जानकारी अर्थात् सम्यग्ज्ञान अथवा अज्ञान पर निर्भर है।

आत्मिक (पारमार्थिक) और भौतिक (व्यावहारिक) इन दोनो क्षेत्रो मे हमारा सच्चा उत्कर्ष निश्चय तथा व्यवहार के विषय मे हमारे सुज्ञान के द्वारा ही साधा जा सकता है।

पारमार्थिक क्षेत्र की बात ले। 'आत्मा स्वभाव से शुद्ध है और कर्म से बँधा हुआ है, अत अशुद्ध है।' इस बात को तो सब ने स्वीकार किया है। यदि हम आध्यात्मिक क्षेत्र मे

प्रगति करना चाहते हो तो हमे ऐसा निर्णय करना पडेगा कि आत्मा से चिपकी हुई अशुद्धि को दूर कर आत्मा के मूल स्वरूप को सिद्ध करने का एक मात्र ध्येय हमारी समस्त प्रवृत्तियो का केन्द्र होना चाहिए। जब हम ऐसा निश्चय कर लेगे तब वह शुद्ध निश्चयदृष्टि बनेगा। अब यदि हम एक बार ऐसा निश्चय कर ले तो फिर हमारे समग्र आचार का एक मात्र लक्ष्य आत्मा को लगी हुई सारी अशुद्धियो को दूर करना ही रहेगा।

जैन तत्त्वज्ञानियो ने मोक्षप्राप्ति के साधन के रूप मे 'ज्ञान-क्रियाभ्या मोक्ष यह एक वाक्य दिया है। इस वाक्य मे निश्चय और व्यवहार दोनो का उल्लेख है। इसमे 'हमे अपने आत्माको मुक्त करना है' ऐसा 'ज्ञान' सो 'निश्चय' है, और इसके लिए जो कुछ कार्य आचरण आदि के रूप मे क्रिया करना है सो 'व्यवहार' है।

हमने ऊपर 'वस्तु का तात्त्विक स्वरूप' अर्थात् 'निश्चय' ऐसा जो अर्थ किया है, सो भी इसी दृष्टि से किया गया है। जब हम अपने शरीर को चेतनावस्था मे देखते है, तब उसमे जीव पदार्थ का पुद्गल पदार्थ के साथ जो सयोग हुआ है वह हमे समझ मे आता है। हमारी सब प्रवृत्तियो का कर्ता तथा भोक्ता आत्मा स्वय है, यह बात भी हम जानते है। इस आत्मा का अतिम ध्येय अपने पुद्गलमिश्रित अशुद्ध स्वरूप मे से मुक्त होना और इस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट करना माना गया है। यह 'शुद्ध स्वरूप' जीव द्रव्य का अपना मूल तत्त्व है। इस मूल तत्त्व को समझने वाली दृष्टि 'निश्चय नय' है, और इसकी वर्तमान अवस्था को स्पर्श करने वाली दृष्टि

'व्यवहार नय' है। यहाँ आत्मा की वर्तमान अवस्था को स्पर्श करने वाली दृष्टि 'निश्चय नय' की अपेक्षा के अधीन रह कर हमे निश्चित स्थान पर पहुँचने का आचरणमार्ग भी बताती है। यह व्यवहार को स्पर्श करने वाली बात हुई। अत जब व्यवहार मे आचरण की बात आवे तब हमे निश्चय नय को दृष्टि के सामने रख कर ही अपना आचरण-क्रम Code of conduct निश्चित करना पडता है। निश्चय दृष्टि तत्त्वस्पर्शी पवित्र ज्ञानदृष्टि है। वह हमारे व्यवहार मे प्रविष्ट होने वाली अशुद्धियो को दूर करने तथा रोकने का कार्य करती है। यदि हमारा कार्य-क्रम अपने ध्येय को दृष्टि में रखे विना निर्धारित किया जाय तो उससे कोई लाभ नही होता। उसी तरह पारमार्थिक क्षेत्र मे यदि हम निश्चय दृष्टि को दूर कर के बरतने लगे तो खड्डे मे ही गिरेगे। इसीलिए जैन-तत्त्ववेत्ताओ ने कहा है कि मनुष्य को अपना आन्तरिक एव वाह्य जीवन भी उच्च और शुद्ध रखना चाहिये।

हमारी नजर निश्चय पर हो फिर भी यदि हम व्यवहार को शुद्ध न रखे, अथवा व्यवहार शुभ आशय से युक्त होते हुए भी यदि हम निश्चय पर से अपना ध्यान हटा ले तो ये दोनो ही कार्य हमारे लिए विघातक सिद्ध होगे।

ज्ञान तथा विवेक की उपस्थिति मे जो कुछ किया जाता है उसके विषय मे जैन शास्त्रकारो ने कहा है कि 'जे आसवा ते पडिस्सवा, जे पडिस्सवा ते आसवा' अर्थात् आत्मा को कर्म बध करवाने वाले स्थान (ज्ञानी या विवेकी को) कर्म से छुडाते है और कर्म से छुडाने वाले स्थान (अज्ञानी या अविवेकी को) कर्मबन्धन करवाते है।" यह बात अच्छी तरह समझने

योग्य है । इस वाक्य के द्वारा ऐसा उपदेश किया गया है कि जो प्रवृत्ति अज्ञानी तथा अविवेकी को कर्म का वंध कराने वाली होती है वही प्रवृत्ति ज्ञानी और विवेकी सज्जनो को कर्म से मुक्ति देने वाली—कर्मनिर्जरा रूप वन जाती है। इसके विपरीत जो प्रवृत्ति ज्ञानी तथा विवेकी आत्माओ के लिये कर्म-नाशक होती हैं वही प्रवृत्ति अज्ञानी और अविवेकी मनुष्यो के लिये कर्मवन्धन रूप होती है ।

उदाहरणार्थ—एक ज्ञानी और विवेकी मनुष्य किसी रोगी की शुश्रुषा करता है, तव अपने भीतर परोपकार की शुभ भावना सुरक्षित रहे और अहभाव उपस्थित न हो ऐसी नम्रता वनाये रखने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है । इसके विपरीत अज्ञानी और अविवेकी मनुष्य के हाथो कोई छोटा-सा भी जनकल्याण का कार्य हो जाय तो वह अहकार से फूल कर सव जगह अपनी शेखी दिखाता है, अथवा ऐसे अहभाव का पोषण करता है कि खुद ने कोई वडा सत्कार्य किया है । यहाँ सेवा का कार्य तो दोनो ने किया, परन्तु समझ-भेद से वह एक के लिये कर्मनाश का कारण वना और दूसरे के लिए वह कर्म-वधन हो गया ।

यदि निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि के वीच का सपर्क सतत सुरक्षित रहे तो ऊपर वताया गया है वैसा कर्मवधक परिणाम नही होता । 'निश्चय' को हमने 'साध्य' और व्यवहार को 'साधन' रूप मे माना है। इससे इतना तो अवश्य फलित होता है कि जो 'साधन' हमे 'साध्य' की ओर न ले जाय वह साधन अर्थात् वैसा व्यवहार निकम्मा और निरर्थक है । यह साधन भी वही तक साध्य की ओर ले जाने वाला

रहेगा जहाँ तक हमारा लक्ष्य साध्य पर लगा रहेगा। यदि हमारी दृष्टि साध्य पर से अर्थात् 'निश्चय' पर से हट जाय तो हमारे साधनो मे विकृति आये विना नही रहती।

निश्चय दृष्टि का विषय एक विराट समझ की अपेक्षा रखता है। जैन दार्शनिको ने इसकी अद्भुत छानवीन की है। यदि यह वात पूर्णतया समझ ली जाय तो व्यवहार मार्ग भी अपने आप निश्चित हो जाय। इस प्रकार निश्चित हुआ व्यवहार मार्ग निस्सदेह उत्कर्षमार्ग वन जाय।

धर्म और तत्त्वज्ञान विषयक प्रकरण मे हमने देखा है कि तत्त्वज्ञान हमे सुविचार देता है और धर्म हमे सदाचार सिखाता है। यह सुविचार ही 'निश्चय दृष्टि' है, और सदाचार 'व्यवहार दृष्टि' है। सद्विचार और सदाचार—ये दोनो परस्पर सम्वद्ध है, और उनका समान महत्त्व है, यह भी हमने समझ लिया है।

इसी प्रकार निश्चय और व्यवहार भी परस्पर सम्वद्ध है। निश्चय को छोड़कर सद्व्यवहार नही हो सकता और सद्व्यवहार को छोड कर निश्चय से चिपके रहना सभव नही। अध्यात्मशास्त्र हमे हमारा अतिम ध्येय वताता है। अपनी दृष्टि इस अतिम ध्येय पर स्थिर रख कर वहाँ पहुँचने के लिए हम जो वर्ताव-आचरण करते है वही सच्ची व्यवहारदृष्टि है।

यह वात तो अव हम अच्छी तरह समझ गये है कि निश्चय दृष्टि क्या है। अव व्यवहार के विषय मे कुछ विचार करना आवश्यक है, क्योकि निश्चय को समझकर उसे धारण करना एक वात है जव कि व्यवहार से उससे चिपके रहना दूसरी वात है। किसी वस्तु को मान लेने मे कोई कठिनाई

नही होती, असली कठिनाई तो उस मान्यता के अनुसार आचरण करने मे होती है।

इस ससार में हम ऐसे अनेक मनुष्यो को देखते है जो शुभ आशय वाले होते हुए भी शुभ आचरण नही कर सकते। इसके कारण तो अनेक प्रकार के होते हैं। जैन दार्शनिको ने जो स्याद्वाद-अनेकातवाद की तत्त्वरचना की है उसमे इस बात का पूरा खयाल रखा है। निश्चय और व्यवहार के सम्बन्ध मे स्याद्वाद एक सुन्दर समतुला Balance के समान है। कर्म से बद्ध ससारी जीव को निश्चय दृष्टि सुरक्षित रखने के लिए व्यवहार के आचरण मे कितनी कितनी कठिनाइयो का सामना करना पडता है सो जैन दार्शनिको को अच्छी तरह ज्ञात है। इसलिए उन्होने व्यवहार मे 'उत्सर्ग' और 'अपवाद' नामक दो विभाग किये है।

'उत्सर्ग' अर्थात् निश्चय की ओर ले जाने वाला मूल मार्ग-Right Royal Highway 'अपवाद' अर्थात् मूल मार्ग की रक्षा के लिए काम मे लिया जाने वाला उपमार्ग Diversion। यह अपवाद उक्त मूल मार्ग की रक्षा के लिए तथा उसके सफल अनुसरण के लिये है। यह भी साध्य की सिद्धि के एक साधन-उपाय के तौर पर ही वर्णित है।

इस बात को समझने के लिए हम एक सीधा और सरल व्यावहारिक दृष्टान्त ले।

हम अहमदाबाद से आगरा जाने के लिए मोटर लेकर मोटर के मार्ग से (National Highway) पर यात्रा कर रहे है। इस मुख्य मार्ग पर, रास्ते मे कही सडक टूटी हुई हो या मरम्मत का काम (Repair work) चल रहा हो तो हम

क्या करते है ? क्या वही रुक कर खडे हो जाते हैं ? नही। उस समय हम मुख्य मार्ग के आसपास बने हुए उपमार्ग (Diversion) का आश्रय लेते है। उपमार्ग भी हम ऐसा चुनते है जो हमे पुन मूल मार्ग पर पहुँचा दे। यहाँ मार्ग पर के टूटे भाग या खुदाई के पास रुक जाने के बदले अब हम दूसरे मार्ग पर मुड गये, तब भी हमारी दृष्टि मूल मार्ग पर वापस आने की ही थी।

व्यवहार दृष्टि मे, धर्म के आचरण मे भी जब हम ऐसी किसी परिस्थिति मे पहुँच जाते है तब अन्य कोई उपाय न होने के कारण हमे अपवादमार्ग का आश्रय लेना पडता है। परन्तु इस प्रकार के अपवाद मे भी हमारी दृष्टि निश्चय पर ही होनी चाहिए। जब भी किसी अपवाद (Diversion) का उपयोग करने का वक्त आवे तब निश्चय के अनुसरण के लिए ही हमे उसका उपयोग करना चाहिए। ऐसे किसी अपवाद के उपयोग मे यदि हम उत्सर्ग—मूल मार्ग—को भूल जायँ तो हम फिर चक्कर मे पड जायँ। यह बात भलीभाँति याद रखनी चाहिये। सीधे मार्ग पर चलने मे दुर्घटना या प्राणहानि का भय नही है।

आध्यात्मिक क्षेत्र की इतनी चर्चा के बाद यह जानना भी बडा आनन्ददायक होगा कि भौतिक क्षेत्र मे निश्चय और व्यवहार की क्या उपयोगिता है ?

इस विषय की चर्चा करने से पूर्व एक बात भलीभाँति ध्यान मे रखनी चाहिये। भौतिक दृष्टि से जिसे सुख-दुःख माना जाता है वह वास्तविक सुखदुःख नही है। जिसे प्राप्त करने के बाद दुःख प्राप्त होने का कभी प्रसग ही न आवे, वही सच्चा सुख

है। जो सुख अन्त मे पुन दु ख का कारण बनने वाला हो उसे सच्चा सुख माना ही नही जा सकता। इसलिए भौतिक दृष्टि से इस जगत् मे जिसे सुख अथवा दु ख माना जाता है उसके विषय मे हम जब तक अपनी समझ को आध्यात्मिक स्वरूप नही देते तब तक भौतिक दृष्टि से भी हम सच्चे सुख के भोक्ता नही बन सकेगे—यह निश्चित बात है। निश्चय और व्यवहार की जो बात जैन तत्त्वज्ञानियो ने बताई है सो सच्चे और अनन्त सुख को लक्ष्य मे रख कर ही बताई है।

ऐसा होते हुए भी, रोजाना जीवन-व्यापार मे भी ये दोनो दृष्टियाँ हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी है। यह बात भी हमे समझ लेनी चाहिए।

हम एक कपडे की दुकान खोलना चाहते है। दुकान का स्थान आदि निश्चित करने के बाद जब हम माल खरीदने निकलते है। तब कहाँ जाते है? कपडे के मारकेट मे या लोहा बाजार मे? कपडे का व्यापार करने का निश्चय करके यदि हम कीलो के थैले खरीद लाएँ तो क्या हो? यहाँ साध्य से विचलित होने से व्यापार मे असफलता ही तो मिलेगी, या और कुछ?

जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे—सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रो मे भी हमे अपना एक ध्येय निश्चित करना पडता है। ध्येय निर्धारित करने के बाद उस तक पहुँचा जा सके ऐसा ध्येय के अनुरूप आचरण करना पडता है। इजीनियर बनने का निश्चित करके यदि कोई विद्यार्थी एक इजीनियरिंग कालिज मे स्थान न मिलने से दूसरे इजीनियरिंग कॉलेज मे स्थान पाने का प्रयत्न करने के बदले नाट्यकला की

शिक्षा देने वाले कॉलेज मे आसानी से स्थान मिलने के कारण वहाँ जाय तो क्या नतीजा होगा ?

गृहस्थजीवन के कार्य मे भी ऐसे अनेक प्रसग उपस्थित होते है। आमदनी मे से पैसा बचा कर अपना खुद का मकान बनवाना हो तो मनुष्य उस ध्येय की सिद्धि के लिए अपनी आमदनी मे से बचत करने लगता है। इस प्रकार बचा कर कुछ रकम इकट्ठी करने के बाद यदि उसका ध्यान रेडियो, रेफ्रीजरेटर, मोटर आदि वस्तुओ की ओर जाय, या वह अन्य फालतू मौजशौक मे पड जाय तो फिर वह बनवा चुका मकान !

पुत्र के लिए सुयोग्य कन्या ढूँढनी हो तब हमारा ध्येय होना चाहिए 'अपने घर के अनुरूप अमुक अमुक गुणो से युक्त कन्या'। इसके बदले यदि हम धनवान की पुत्री, या रूपवती या ऐसी अन्य किसी एक बात को ही लक्ष्य मे रख कर सम्बन्ध कर ले तो क्या परिणाम आएगा ?

यदि इन सब वस्तुओ पर हम विचार करे तो हम आसानी से समझ सकेगे कि जीवन के दिन व दिन के व्यापार मे भी निश्चय और व्यवहार के बीच सामञ्जस्य की अनिवार्य आवश्यकता है। इस क्षेत्र मे जब अपवाद का आचरण करने का प्रसग आवे तब मूल ध्येय को भूल कर यदि हम काम करे तो ऐसा अपवाद—आचरण हमे खाई मे डाल देगा।

यहाँ एक बात पुन याद कर ले। दैनंदिन जीवन के अपने आचरण निर्धारित करने मे भी यदि हमारी मुख्य दृष्टि धर्म पर न हो, सद्धर्म बताने वाले सद्विचार (तत्त्वज्ञान) पर न हो—तो अन्ततोगत्वा सुख के भोक्ता हम कभी नही बन सकते।

निश्चय और व्यवहार नय का यह विषय समाप्त करने से पहले एक बार फिर याद करले कि 'हमे निश्चय को साध्य अथवा वस्तु के शुद्ध स्वरूप के तौर पर मानना है, और व्यवहार को उसकी प्राप्ति के साधन-रूप मे मानना है। साधन का त्याग करने से जिस तरह साध्य अप्राप्य बन जाता है उसी तरह व्यवहार को छोड कर निश्चय मार्ग पर कोई प्रगति नही हो सकती।

इन दोनो वस्तुओ का निर्णय करने मे स्याद्वाद हमारा मित्र एव सहायक है। जब हम कोई भी व्यावहारिक या पारमार्थिक कार्य करते हैं तब उसमे हमारी कोई भूल हो रही है या नही, यह निश्चित करने का साधन भी 'स्याद्वाद' है। इससे फलित होता है कि कोई भी व्यवहार या परमार्थ शुरु करने के पहले, यदि हम इस अद्भुत, अभूतपूर्व और अलौकिक स्याद्वाद पद्धति से उसकी जाँच कर ले तो उसमे भूल होने की सभावना नही रहेगी।

अब आपको स्याद्वाद से युक्त अनेकान्तवाद का तत्त्वज्ञान अद्भुत परिपूर्ण, एक अनूठा और स्वीकार्य प्रतीत हुआ या नही ?

हमारी नयविषयक यह विवेचना यहाँ समाप्त करने से पहले एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। यहाँ इस विषय की जो चर्चा की गई है वह बिल्कुल सामान्य तथा प्राथमिक परिचय तक सीमित है। इसका यथार्थ एवं तात्त्विक विवरण करने के लिए अनेक दृष्टान्तो की तथा अतिशय विस्तार की आवश्यकता है।

यहाँ जो सात नय बताये गये है वे मुख्य मुख्य नय है।

इनके सिवा नय के और भी अनेक विभाग है। उसके सैकडो भेद है। जितने प्रकार के वचन अथवा वचन के अभिप्राय हैं उतने प्रकार के नय है। उसके प्रयोग भी अपार है। सिर्फ इतनी सावधानी रखना आवश्यक है कि 'हम सुनय से चिपके रहे और दुर्नय या नयाभास पर न उतर जायँ।'

जब किसी भी प्रश्न, व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ या समस्या के विषय मे विचारपूर्वक निर्णय करने का प्रसग उपस्थित हो तब इतना अवश्य याद रखना चाहिए कि जैसा पहली नजर मे दिखाई देता है या मालूम होता है वैसा ही वह होता नही है। हरएक के अनेक पहलू होते है। इन सब भिन्न भिन्न पहलुओ को ध्यान मे रखने से ही वस्तु का निश्चित स्वरूप जाना जा सकता है। इस प्रकार विचार करने से ही किसी भी प्रश्न का योग्य निर्णय हो सकता है। भिन्न भिन्न दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को देखने की आदत डालने से हमे बहुत सी नई-नई और कल्याणकारी जानकारी प्राप्त होती है। यह बात भलीभाँति याद रखनी चाहिए।

शायद कोई ऐसा प्रश्न पूछेगा कि जीवन मे ऐसी बहुत सी बाते उपस्थित होती है जिनका निर्णय बडी तेजी से करना पडता है। फिर हम आज तेजी के जमाने (Speed-Era) मे जी रहे है। उस समय ऐसे सब स्थूल या सूक्ष्म विचार करने बैठे तो 'गाडी निकल जाय'। ऐसे प्रसगो मे क्या किया जाय ?

इसका उत्तर यह है कि यदि हम नय दृष्टि से और स्याद्वाद पद्धति से सोचने का अभ्यास रखेगे तो आवश्यकता पडने पर जल्दी से निर्णय करने मे हमे कोई कठिनाई नही होगी। अकगणित के पहाडे एक बार हम रट लेते हैं, उसके

बाद 'अट्ठारह पजे नब्बे' ऐसा हिसाब गिनने के लिए हमे पांच बार अट्ठारह लिखकर उनका योग करने की या कागज-कलम की आवश्यकता नही होती। उसी तरह एक बार यह स्याद्-वादपद्धति हमारे मन मे बैठ गई कि फिर तेजी से निर्णय करने मे हमे कोई कठिनाई नही होगी। कभी कभी उतावली मे निर्णय करके 'गाडी पकडने' की अपेक्षा उस 'गाडी को छूटने देना' अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है।

यह सब होते हुए भी ऐसे प्रसगो मे हमे अपनी विवेक-बुद्धि का उपयोग करके निर्णय करने की छूट तो इसके अन्त-र्गत है ही। इस प्रकार अनपेक्षित शीघ्रता से हमे यदि कोई निर्णय लेना भी पडा हो तो उसके बाद भी नय दृष्टि तथा स्याद्वाद-पद्धति से विचार करना हमे नही छोडना चाहिए, विचार तो कर ही लेना चाहिए।

निर्णय लेने के पश्चात् भी उस निर्णय की सारासारता का विचार करने का यदि हम अभ्यास रखे तो उससे हमे लाभ ही होगा। यदि कभी हमे अपना निर्णय गलत मालूम हो तो शीघ्रतापूर्वक उस निर्णय से पीछे लौटना प्रारभिक अवस्था मे बडा सरल होता है। यदि विचार न करे तो हमे अपनी भूल समझ मे नही आती, और बाद मे चलकर वह समझ मे आती है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है, और इसलिए उसमे से लौटना और उसके परिणामो से बचना कठिन हो जाता है। इसलिए निर्णय करने से पहिले और निर्णय लेनेके बाद भी—दोनो बार—हमे प्राप्त हुई नई दृष्टि से लाभ उठाने की और इस पद्धति से विचार करने की आदत तो डालनी ही चाहिए।

इस तरह से विचार करने की आदत डालने से हमे सबसे बड़ा लाभ तो यह होता हैं कि हमारी समझने की शक्ति बहुत विकसित होती है। तदुपरान्त, हमारे भीतर समता, सहिष्णुता दृढता, धैर्य, सत्यप्रियता, उदारता, तथा व्यवहारकुशलता आदि अनेक आवश्यक गुण अपने आप प्रकट होने लगते हैं।

सामान्यतया मनुष्य अपने आपको सच्चा मानता है। कई बार यह माना हुआ सच्चापन मूर्खता की पराकाष्ठा के समान होता है। "मै मूर्ख हूँ, निपट मूर्ख और अज्ञानी हूँ' इस बात का पता मनुष्य को जल्दी नही लगता। जल्दी की तो बात ही क्या, लम्बे अरसे तक और कभी कभी तो इसका पता कभी लगता ही नही। यदि मनुष्य नयदृष्टि से विचार करना सीखे तो उसका अज्ञान दूर होता है। इस प्रकार से विचार करने का अभ्यास एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण Psycho-analysis करने मे भी सहायक होता है। उसमे आखिर कल्याण ही होता है।

'इस नय-प्रकरण को समाप्त करने से पहले एक प्रार्थना है। वह प्रार्थना, सलाह, सूचना—या जो भी कहा जाय—यह कि "अपने आप को होशियार—सर्वगुणसम्पन्न मान कर और अहभाव को बीच मे लाकर कभी नहीं चलना, या बरतना चाहिये। दूसरे की सलाह, सूचना या सहायता प्राप्त करने से अपने आपको वचित नही रखना चाहिए। योग्य गुरु, गुरुजन या मित्र से मार्गदर्शन प्राप्त करने को हमेशा तत्पर रहना चाहिए।"

'गुरु के बिना ज्ञान नही मिलता।'

अब हमे 'सप्तभगी' पर विचार करना है। परन्तु उससे

पहले उसे समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक 'अपेक्षा' शब्द को समझ ले।

अपेक्षा

इसके बाद के प्रकरण मे हम 'सप्तभगी' पर विचार करने वाले है। 'सप्तभगी' भिन्न भिन्न अपेक्षाओं मे आयोजित सात वाक्यो का समूह है। अत इस पर विचार करते समय हमे 'अपेक्षा' शब्द का प्रयोग सतत अपनी दृष्टि मे रखना होगा।

पहले हम 'चार आधार' विषयक विवेचना कर चुके है। वहाँ 'द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव' इस 'अपेक्षाचतुष्टय' का कुछ परिचय तो दिया जा चुका है। फिर भी 'सप्तभगी' विषयक विवेचना प्रारभ करने से पहले 'अपेक्षा' शब्द को भलीभाति समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है।

सामान्य व्यवहार मे अपेक्षा के भिन्न भिन्न अर्थ किये जाते है, या इस शब्द का उपयोग भिन्न भिन्न अर्थों मे किया जाता है। भाषा का उपयोग करने मे जैसे रूढि और परम्परा के कारण भी अनेक शब्दो का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों मे किया जाता है, वैसे ही उनकी व्युत्पत्ति की दृष्टि से विविध मूल अर्थों मे भी प्रयोग होता है। कोषकार इस प्रकार किये जाने वाले परपरागत अर्थ और अनेक मूल अर्थ भी स्वीकार करते है और शब्दकोष में उन शब्दो के आगे उनके मूल अर्थ तथा रूढिजन्य अर्थ भी देते हैं।

इस अनेक-अर्थ-पद्धति मे 'अपेक्षा' शब्द का प्रयोग 'आशा, इच्छा और आकांक्षा' के अर्थ मे होता है परन्तु उसका स्याद्-वाद के सम्बन्ध मे मूल अर्थ और ही होता है।

'आप किस वस्तु की अपेक्षा रखते हैं। ऐसी अपेक्षा न

रखे ।' इस अर्थ के वाक्यो का प्रयोग हमारे यहाँ बहुत सामान्य है यहाँ 'अपेक्षा' शब्द उपर्युक्त 'आशा, इच्छा या आकाक्षा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । हम यहाँ इस शब्द के प्रयोगो की विविधता की चर्चा मे नही पडते । परन्तु इसका जो अर्थ स्याद्वाद के लिये उपयोगी है, उसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए ।

प्रस्तुत प्रसग मे 'अपेक्षा' शब्द का अर्थ 'सन्दर्भ' या 'आधार' है । अग्रेजी मे उसके लिए With reference to context अथवा "From certain point of view" ऐसी शब्दावलि का प्रयोग होता है । इसलिए उसका अर्थ होता है, "अमुक किसी वस्तु या विषय के दृष्टिबिन्दु से किसी एक विषय को लक्ष्य मे रख कर ।" या इसका अर्थ "In certain respect —"किसी एक प्रकार से"—भी होता है । अग्रेजी भाषा मे इसके लिए अधिक स्पष्ट शब्द (Relatively) अर्थात् 'In relation to' का प्रयोग होता है ।

'In relation to (के सम्बन्ध मे) कह कर एक वस्तु के साथ दूसरी किसी वस्तु का सम्बन्ध जोडा जाता है । जब सप्तभगी मे 'अपेक्षा' शब्द का प्रयोग होता है तब उसका भी ऐसा ही अर्थ होता है ।

जब किसी वस्तु का—उदाहरणार्थ एक आभूषण का उल्लेख 'द्रव्य की अपेक्षा से, काल की अपेक्षा से, क्षेत्र की अपेक्षा से तथा भाव की अपेक्षा से' यो चार की अपेक्षा से किया जाता है तब उसमे रहे हुए द्रव्य का अर्थात् सुवर्ण का, समय का, स्थल का, तथा उसके स्वरूप (आकृति) आदि का सम्बन्ध जोडा जाता है ।

'अपेक्षा' मूलत सस्कृत शब्द है । सस्कृत भाषा का शब्द

कोप विराट है। इस भाषा की शक्ति भी अपार है। कम से कम शब्दों मे अधिक से अधिक वात कहने की शक्ति यदि किसी भाषा मे हो तो वह 'सस्कृत' भाषा है। इसमे ऐसे अनेक छोटे शब्द हैं जिन्हे पूर्णतया समझने समझाने के लिए काफी विस्तार मे जाना पडता है।

उत्तर भारत की लगभग सभी भाषाओ मे 'अपेक्षा' शब्द उन भाषाओ का अगभूत शब्द वनकर प्रवेश पा चुका है। उन अलग अलग भाषाओ के वोलने वाले इस शब्द का स्पष्ट अर्थ समझते तो है, फिर भी वे भी दूसरे व्यावहारिक अर्थों में इस शब्द का प्रयोग करते है।

हमारी गुजराती भाषा में जो जो मान्य शब्द कोप है उनमे इस शब्द के व्यावहारिक अर्थों का ही उल्लेख किया गया है। 'नव-जीवन प्रकाशन मदिर' द्वारा प्रकाशित 'सार्थ गुजराती जोडणी कोप' मे 'अपेक्षा' शब्द का आशा, इच्छा, अगत्य, आकाक्षा लिखने के वाद 'क्षित' लगाकर 'अपेक्षावालु" ऐसा अर्थ दिया गया है। यह सब देखने पर प्रतीत होता है कि व्यवहारोपयोगी अर्थ अधिक प्रचलित हुए है।

परन्तु यहाँ हम तत्त्वज्ञान के विषय मे विचार कर रहे हैं। अत. तत्त्वज्ञान के क्षेत्र मे यह शब्द किस अर्थ मे प्रयुक्त होता है सो वात—इस शब्द का रहस्य—समझ लेना विशेष आवश्यक है।

जैन तत्त्ववेत्ताओ ने 'अपेक्षा' शब्द का प्रयोग निश्चित अर्थ मे किया है। हम 'अपेक्षा' शब्द के लिए '· ·' के सम्बन्ध मे, '· ··' को लक्ष्य मे रख कर ' ' के आधारपर '·· ·' के सन्दर्भ मे आदि भिन्न भिन्न परन्तु एक ही अर्थ के सूचक शब्द प्रयोग कर सकेगे।

जब हम कहेगे—'द्रव्य की अपेक्षा से', तब हम किसी भी वस्तु मे रहे हुए द्रव्य Substance or basic material को लक्ष्य मे रखकर बात करेगे। उदाहरणार्थ जब हम किसी कुर्सी की बात 'द्रव्य की अपेक्षा से' करेगे तब व्यावहारिक अर्थ मे 'लकडा' हमारे मन मे होगा। यह लकडा आम के पेड का है, जगली है, सागवान का है या शीशम का, यह बात भी तुरन्त हमारे ध्यान मे आ जाएगी।

सोने के किसी अलकार की बात करते समय उसकी आकृति कैसी भी क्यो न हो—पर द्रव्य की अपेक्षा की बात आने पर हम 'सुवर्ण' के मूल स्वरूप की ही बात करते होगे। इसी तरह जब हम क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा की बात करेगे, तब जिस वस्तु की चर्चा हो रही होगी उस वस्तु के अपने क्षेत्र (स्थान), काल (समय) और भाव (गुण धर्म) के साथ उस वस्तु के सम्बन्ध की स्पष्ट जानकारी उसमे से प्रकट होगी, और उसके विरुद्ध—पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल और पर भाव की बात भी आएगी ही।

पहले हम 'उत्पत्ति, स्थिति और लय, का उल्लेख कर चुके है। जैन तत्त्वज्ञानियो ने इनके सामने 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' ये तीन शब्द बताये है, इनका भी उल्लेख हमने किया है।

इस त्रिपदी (तीन शब्द) के उपर्युक्त दो भिन्न भिन्न शब्दप्रयोगो मे 'अपेक्षा' शब्द का विशेप महत्त्व है। 'उत्पत्ति, स्थिति, और लय इन तीन शब्दो मे किसी प्रकार का आगे-पीछे का सम्बन्ध नही है, किसी प्रकार का अपेक्षा भाव नही है, इसलिए ये शब्द एकान्त सूचक है, यह बड़ी भ्रान्त धारणा है। "उत्पाद व्यय और ध्रौव्य' मे सापेक्षता की—अपेक्षाभाव

की स्पष्ट सूचना होने के कारण यह शब्दप्रयोग अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर आधारित है, और सही है। वस्तु मात्र परिणाम-शील है और उसके प्रत्येक परिणमन मे–भाप मे पानी की तरह–उसके मूल द्रव्य का ध्रुव अश तो रहता ही है। अत जब भाप के द्रव्य की अपेक्षा की बात होगी तब उसमे 'पानी' तो अवश्य आएगा। इसी तरह जब पानी के द्रव्य की बात होगी तो उसमे 'वायु से सम्बन्धित बात' भी अवश्य आएगी।

'उत्पत्ति' शब्द का जो अर्थ किया जाता है उसे देखते हुए उसमे से ऐसी बात निष्पन्न होती है कि 'उससे पहले कुछ था ही नही'। अब, 'पहले कुछ था ही नही' यह बात तो गलत है। उस त्रिपदी मे 'लय' शब्द जिस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, उस पर विचार करे तो हमे प्रतीत होगा कि इन तीनो शब्दो के प्रयोग अनुचित हैं।

एक ऐसी मान्यता है कि प्रलय के समय पृथ्वी का नाश हो जाता है—लय हो जाता है। यदि यह लय अथवा नाश सचमुच होता हो और सम्पूर्ण हो तो फिर से 'उत्पत्ति' सभव ही नही है। फिर भी हम ऐसी अनेक प्रलयकालो की—लय और नाश की बाते सुनते या पढते है। शुद्ध तर्क की दृष्टि से यह बात गलत साबित होती है।

यदि हम इन तीनो स्थितियो को सापेक्ष मान कर चले, उनमे अपेक्षा भाव का आरोपण करे तभी उससे हमे प्रकाश प्राप्त होगा। इस जगत मे ऐसा कुछ भी नही है, जिसमे किसी अन्य की अपेक्षा या दूसरे के साथ सम्बन्ध न हो। जिस प्रकार एक ही द्रव्य का अपनी भिन्न भिन्न अवस्थाओ से सम्बन्ध होता है, उसी तरह एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से भी सम्बन्ध अवश्य

होता है। जीव और पुद्गल ये दोनो अलग-अलग द्रव्य हैं, फिर भी इन दोनो के बीच सम्बन्ध है। पुद्गल द्रव्य के अणु-अणु मे जीव द्रव्य—आत्मद्रव्य—व्याप्त है, यह तो प्रत्यक्ष बात है। ये सभी सम्बन्ध अलग अलग प्रकार की अपेक्षाओ के होते है। यह 'सापेक्षता' विश्व का एक त्रिकालाबाधित नियम है।

जैन तत्त्वज्ञानियो ने उत्पत्ति के स्थान पर 'उत्पाद' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द भी अपेक्षायुक्त—Relative है। उत्पाद का अर्थ है 'उत्पन्न' होना। फिर भी 'उत्पत्ति' और 'उत्पाद' मे अन्तर है। 'उत्पत्ति' मे उसके पहले कुछ भी कल्पना मे नही आता, जब कि 'उत्पाद' में उसके पूर्व और कुछ था—यह स्पष्ट अर्थ है।

इसी तरह 'लय' शब्द मे 'उसके बाद कुछ नही रहता' यह भाव आता है, जबकि 'व्यय' शब्द मे एक अवस्था का नाश होने पर दूसरी अवस्था का आविष्करण सूचित करने वाला और इस प्रकार अवस्थान्तर प्राप्त होने पर भी उसके आधार-भूत मूल द्रव्य के कायम रहने का गुण प्रकट करने वाला स्पष्ट भाव और अर्थ है

अग्निसस्कार के द्वारा जब मानव-देह का लय अथवा नाश होता है तब जीवित शरीर में चैतन्य रूप जो आत्मा था वह और उसके चले जाने के बाद बाकी रहे हुए पुद्गल—ये दोनो किसी न किसी रूप मे कायम रहते हैं। अत 'व्यय' शब्द मे भी संपूर्ण नाश का भाव नही, परन्तु आधारभूत द्रव्य के कायम रहने का भाव है। इसके मूल मे भी सापेक्षता, अपेक्षा भाव—Relativity का सिद्धान्त ही काम करता है।

प्रथम त्रिपदी मे 'स्थिति' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके अर्थ मे तथा जैन तत्त्वज्ञानियो द्वारा व्यवहृत त्रिपदी के

'ध्रौव्य' शव्द के अर्थ मे भी वडा अन्तर है। 'स्थिति' शव्द का व्यवहार मे जो अर्थ किया जाता है वह है 'जिस स्थिति में हो उसी स्थिति मे रहना।' परन्तु जगत की मानी हुई उत्पत्ति के वाद और माने हुए लय के पहले पहले जो स्थिति है—बीच की जो स्थिति है उसका अर्थ 'वहती हुई स्थिति' होता है। जव किसी वस्तु के सम्वन्ध मे इस शव्द का उल्लेख किया जाय तव भी उसका अर्थ 'वहती हुई स्थिति' ही होना चाहिए।

यह तो हम जानते ही है कि प्रत्येक वस्तु की अवस्था निरन्तर वदलती ही रहती है। परिवर्तनशीलता का सिलसिला चलता ही रहता है। एक स्वरूप अदृश्य होने पर दूसरा प्रकट होता है। कोई एक ही स्वरूप दीर्घकाल पर्यंत टिकता हुआ मालूम होता हो तो भी उनमे दिन-दिन प्रतिपल फेरफार होता ही रहता है।

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि 'स्थिति' नही रहती, व्यय-इस्तेमाल—होता ही रहता है। रूपान्तरो के द्वारा विनाश-शीलता एव नवीन नवीन स्वरूपशीलता का क्रम चलता ही रहता है। इसलिए जैन तत्त्ववेत्ताओ ने 'स्थिति' के स्थान पर 'ध्रौव्य' शव्द दिया है, क्योकि प्रत्येक परिवर्तन मे भी किसी स्थायी अश की सापेक्षता (अपेक्षाभाव) अवश्य रहती है।

इस प्रकार 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, मे हम जिन तीन परिस्थितियो का दर्शन करते है, वे स्थितियाँ भी पृथक्-पृथक् भिन्न भिन्न या एक दूसरे से स्वतन्त्र नही है। ये तीनो एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही है। इन तीनो अवस्थाओ का एक दूसरे से जो सम्वन्ध है वह सापेक्षता—अपेक्षाभाव पर निर्भर है।

वस्तु के प्रत्येक परिणमन मे उसका द्रव्य अश कायम रहता है, पूर्व-पर्याय का नाश होता है और उत्तर-पर्याय की उत्पत्ति होती है। वस्तु का जो द्रव्य अश है वह ध्रुव (स्थायी) रहता है, और पर्याय अश उत्पन्न नष्ट होता है (बनता-मिटता रहता है) अर्थात् मूल द्रव्य का ध्रौव्य है, और पूर्व पर्याय का नाश तथा उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वस्तु मात्र मे ये तीनो धर्म-उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—अनादि अनत काल तक चलते रहते है। वस्तु का जो ध्रुव (स्थायी)अश है वह 'नित्य' है और जो उत्पन्न तथा विनष्ट अश है वह अनित्य है। इस तरह वस्तुमात्र कथचित् नित्यानित्य-स्वरूप है—इस बात पर जैन दर्शनकार विशेप बल देते है। कोई वस्तु एकान्त नित्य हो ही नही सकती।

यहाँ शायद कोई यह प्रश्न पूछे कि "उत्पाद-व्यय तो पर्याय मे होते हैं और ध्रौव्य द्रव्य मे रहता है, तब भला उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक ही वस्तु के तीन धर्म कैसे कहला सकते है ?

इसका उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है। पर्याय वस्तु से भिन्न नही है, द्रव्य भी वस्तु से अलग नही है। वस्तु स्वय द्रव्यरूप भी है और पर्याय रूप भी, अतएव ये तीनो धर्म एक ही वस्तु के है।

वस्तु मात्र के जो अनेक भिन्न-भिन्न अत-सिरे—हैं, उनमे कोई भी अत स्वतन्त्र नही है। ये सभी अन्त किसी न किसी अपेक्षा से एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं। जब जैन दार्शनिक यह तथ्य नयदृष्टि से तथा सप्तभगी के कोष्ठक के द्वारा समझाते है तब उसके विरुद्ध सबसे बडा होहल्ला यह मचाया जाता है कि 'यह बात अधूरी होने के अतिरिक्त इसमे अनिश्चितता है। ये दोनो आक्षेप, ये सब बवण्डर—झूठे हैं।

जैन तत्त्ववेत्ताओ ने कोई बात अधूरी या अनिश्चित ढग से नही कही है। उनकी किसी भी बात मे कही भी अनिश्चितता नही है। इसके विपरीत उसमे स्पष्टतया निश्चितता ही रही हुई है।

'ही' और 'भी'—ये दो शब्द हमारी भाषा मे अनियन्त्रित रूप से प्रयुक्त होते है। इन दोनो शब्दो का निश्चित अर्थ है। सप्तभगी मे 'स्यादस्ति'के साथ 'एव' शब्द है, जो एक निश्चितता प्रकट करता है। 'एव' अर्थात् 'ही'। यह 'ही' शब्द जहा भी प्रयुक्त होता है वहाँ वह निश्चितता प्रकट करने और बल देने के लिए ही प्रयुक्त होता है।

'स्यात्+अस्ति+ एव' इन शब्दो के मिलने से बनने वाले वाक्य से 'अमुक बात है ही' ऐसी निश्चितता ही प्रकट की जाती है। साथ ही 'इसके सिवा और भी' कुछ है। दूसरी ओर 'भी' लगा है। इस बात का भी 'स्यात्' शब्द से निश्चित उल्लेख होता है। ये दो शब्द 'ही' और 'भी' कोई अनिश्चय कोई सभाव्यता या कोई सदेह प्रकट नही करते। ये शब्द 'किसी एक और दूसरे प्रकार का' निश्चय प्रकट करते है। यदि यह बात अच्छी तरह समझ मे आ जाय तो फिर सप्तभगी विषयक समझ मे कोई उलझन या भ्रान्ति नही रहेगी।

सप्तभगी मे जब 'अपेक्षा' की बात आती हैं तब वह भी एक निश्चित स्थिति है। यह 'अपेक्षा' शब्द अधूरे या अनिश्चित अर्थ मे नही, बल्कि पूर्ण एव निश्चित अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है। 'टोपा है' और 'टोपी नही है' इन दो परस्पर विरोधी कथनो मे यह अपेक्षाभाव निहित ही है। अत भिन्न भिन्न अपेक्षाओ से भले ही भिन्न भिन्न बाते कही जायँ पर वे सब

वाले 'असदिग्ध और निश्चित' हैं। छोटा वालक वडा हो गया, अव वचपन की टोपी मौजूद होते हुए भी टोपी के तौर पर उसे काम नही लग सकती, इसलिये 'टोपी नही है' यह भी सच ही है।

उसी तरह 'स्व'और 'पर' ये दोनो शब्द भी अनिश्चितता सूचित नही करते, निश्चितता ही सूचित करते है। उदाहरणार्थ जव हम घर मे शाक सुधारने का चाकू या छूरी ढूँढते है, तव हमे चाकू है, अथवा 'चाकू नही है' ऐसे दो परस्पर विरोधी उत्तर मिलते है। ये दोनो निश्चित उत्तर है। जव चाकू है तव वह निश्चित उत्तर है और जव चाकू नही है तव वह भी निश्चित उत्तर है।

अव यो समझिये कि जव 'चाकू नही है' ऐसा जवाव मिला, तव एक चाकू तो घर मे था। वह चाकू वच्चो के खेलने के लिये था और कुठित था। अत वह अभीष्ट उपयोगी चाकू नही है। इसलिये जव यह कहा जाता है कि 'चाकू नही है' तव वह पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल और पर भाव की अपेक्षा से कहा जाता है। चाकू के सिवा और अनेक वस्तुएँ घर मे होते हुए भी 'स्वद्रव्य' रूप चाकू वहाँ नही है। दूसरे के घर मे भले हो,पर हमारे घर मे 'स्वक्षेत्र' मे नही है। सुवह या कल था परन्तु अभी 'स्वकाल' मे नही है। जो खिलौना वना पडा है वह कुठित है, तीक्ष्ण नही है, उसमे कुठितत्व परभाव है, इसलिए स्व-भाव मे चाकू नही है।

अत जव हम 'नही' कहते है, या 'है' कहते है तव वह निरपेक्ष, स्वतन्त्र या स्व-आधारित, कथन नही होता। वह कथन सापेक्ष, अपेक्षायुक्त, और सम्वन्ध रखने वाला Relative है।

हमारी समझ और बुद्धि मे 'अपेक्षा' शब्द चामत्कारिक ढङ्ग से वृद्धि करता है। यदि हम इसकी उपेक्षा करे तो जहाँ के तहाँ रह जाएँगे, आगे बढने के बदले पीछे रहते जाएँगे।

जैन तत्त्वज्ञान के 'अनेकान्तवाद' के सिद्धान्त मे 'अपेक्षा-भाव, सापेक्षता' अत्यन्त सक्रिय- Active और महत्त्वपूर्ण impoitant हिस्सा अदा करता है। जीवन के विविध क्षेत्रो मे भी यदि हम अपेक्षा—सापेक्षता—को छोड़ दे तो अधेरे मे ही भटकना पडे।

यह अपेक्षावाद या स्याद्वाद केवल अमुक प्रकार की चर्चा व्यवहार या बुद्धि की विशदता के लिए ही नहीं है, परन्तु वस्तुमात्र वास्तव मे स्वयं जैसी अनेक धर्मात्मक है उसका वैसा ही दर्शन कराने वाला है। इससे ही वस्तु के समस्त स्वरूप समझे जा सकते हैं। इस प्रकार सापेक्षवाद या स्याद्वाद की दृष्टि वस्तु में कुछ नई सृष्टि नहीं करती, अथवा कोई आरोपण नही करती परन्तु मार्गदर्शक की तरह जो कुछ वस्तु में है उसे खोल कर दिखाती है। राम पिता भी है और पुत्र भी, यह भाव लव-कुश की तथा दशरथ की अपेक्षा से स्पष्ट होता है।

'सापेक्ष' शब्द का अर्थ, 'स+अपेक्षा—जिसमे अपेक्षा रही हुई है सो' होता है। मूलत. प्रधानता उसके अपेक्षा भाव की ही है। यह तथ्य और अपेक्षा शब्द का अर्थ अच्छी तरह समझ लेने पर 'सप्तभगी' को समझने मे हमे बडी सरलता रहेगी, और किसी प्रकार की कठिनाई नही होगी।

चलिये, अब हम 'सप्तभगी' का विवेचन करेगे।

सप्तभंगी

अब हम इस सप्त भगी के जिन सात भगो की जानकारी प्राप्त करेगे उन्हे हम यहाँ एक ही वस्तु को सात भिन्न भिन्न रीतियो से जाँचने की कसौटी Test के तौर पर मान सकते है। सुवर्ण को परखने के लिए उसकी कसौटी करने का एक पत्थर होता है, जिसे स्वर्णकार 'कसौटी' के नाम से पहचानता है। वस्तु को पहचानने, परखने और समझने के लिए जैन शास्त्रकारो ने 'सप्तभंगी' नामक सात 'कसौटी सिद्ध निर्णययन्त्र' बनाये है—Seven formulas for testing — निर्णय करने के लिए सात विधियाँ।

पहले मनुष्य को कुछ भी जानने की इच्छा (जिज्ञासा) होती है। जिज्ञासा का बीज है सशय। सशय सात प्रकार के होते है, अतः जिज्ञासा के भी सात प्रकार हुए। सशय अर्थात् एक प्रकार का प्रश्न और जिज्ञासा अर्थात् उसका उत्तर प्राप्त करने की क्रिया। सशय सात तो उनके उत्तर भी सात। आठवे प्रकार का सशय अभी तक कोई खोज नही सका है।

हम अपना घर बन्द कर, ताला लगा कर यात्रा करने के लिए सपरिवार दूसरे गाँव गये है। वहाँ समाचार मिलते है कि हमारे गाँव मे चोरी का उपद्रव शुरु हुआ है। यह समाचार मिलते ही हम कुछ अस्वस्थता अनुभव करेगे, और हमारे मन मे अपने घर की सुरक्षितता के विषय मे सशय पैदा होगा। इस सशय के सात प्रकारो की हम जाँच करे:—

१) क्या मेरे घर मे चोरी हुई है ?

२) क्या चोरी नही हुई ?

३) चोरी हुई होगी, या नही हुई होगी ?

४) क्या कहा जा सकता है ?

५) हुई होगी, पर क्या कहा जा सकता है ?

६) नही हुई, पर क्या कहा जा सकता है ?

७) हुई है, नही हुई, पर क्या कहा जा सकता है ?

जैन दार्शनिक इन सात जिज्ञासाओ के लिए घड़े का उदाहरण लेकर प्रश्न पूछते है —

(१) क्या घड़ा है ? (२) क्या घडा नही है ? (३) क्या घडा है, और नही है ? (४) क्या घडा अवाच्य है ? (५) क्या घडा है और अवाच्य है ? (६) क्या घडा नही है और अवाच्य है, (७) क्या घडा है, नही है, और अवाच्य है ?

इन सात के अतिरिक्त आठवाँ प्रश्न कभी किसी को नही उपस्थित हुआ। आप प्रयत्न कर देखियेगा, यदि आप आठवाँ प्रश्न ढूँढ निकालेगे तो आपका नाम एक बडे आविष्कारक के रूप मे अमर हो जायगा। हमे तो विश्वास है कि इसके लिए प्रयत्न करना निरर्थक ही सिद्ध होगा। ये सात प्रकार के सशय और सात प्रकार की जिज्ञासाएँ जैन तत्त्ववेत्ताओ ने बताई है, इसीलिए सात है ऐसा नही। दर असल अभी तक आठवाँ प्रकार कोई बता नही सका है। अत. ये सात ही है, यह तथ्य स्वीकार करके ही हम आगे बढेगे।

जब कोई व्यापारी पेढी (कपनी) किसी कार्य के लिए किसी सहायक (Assistant) की नियुक्ति करती है, तब उसे नियुक्तिपत्र देने से पहले उसकी कसौटी करती है। जिस काम के लिए उसे नियुक्त करना हो उसके बारे मे उसका ज्ञान और

अनुभव उसकी प्रथम कसौटी है। उसके बाद वह व्यक्ति परिश्रमी है या नही, प्रामाणिक है या नही, विश्वासपात्र है या नही, तन्दुरुस्त है या नही, अच्छे खानदान का है या नही, उसके लिए योग्य सिफारिशे (References) हैं या नही, उसकी वाणी और लेखनशैली अच्छी है या नही और अन्त मे वह दूसरो को प्रभावित कर सकता है या नही—आदि सारी बातो की पूरी जाँच करने के बाद ही उसकी नियुक्ति की जाती है। तदुपरात इस बात का विचार भी किया जाता है कि वह व्यक्ति स्वभाव से झगडालू है या शान्त, मधुर और समाधानप्रिय है। इस प्रकार नियुक्ति करने के बाद भी उसे स्थायी पद देने से पहले तीन या छह महीने का प्रयोगात्मक समय (Probation Period) दिया जाता है। हाँ यदि वह ममेरा मौसेरा या चचेरा फुफेरा कोई सम्बन्धी हो तो बात और है।

इस प्रकार भिन्न भिन्न व्यक्तियो और वस्तुओ की परख करना एक सनातन व्यावहारिक सिद्धान्त है। जैन दार्शनिको द्वारा निर्मित सप्तभगी भी इसी तरह की एक पद्धति—Formula—Group of formulas है।

इन सात कसौटियो पर चढाने के बाद जो निर्णय Solution Conclusion किया जाता है वह पूर्ण और विश्वासपात्र—Complete and Reliable ही होता है—इस विषय मे फिर किसी शका के लिए कोई अवकाश नही रहता। इस पद्धति से निर्णय करने के बाद मनुष्य के मन पर कोई बोझ नही रहता। वह किसी प्रकार की चिन्ता किये बिना निश्चिन्त नीद ले सकता है।

इसके अतिरिक्त इस फॉरमुला की विशेषता यह है कि वह सपूर्णतया बुद्धिगम्य–Completely rational है। इसमे ऐसा गूढ, गहन या अगम्य कुछ भी नही जो समझ मे न आ सके।

अच्छा तो अब हम सात भगो—कसौटी सिद्ध निर्णयो की जाँच करे। कसौटी पर कसने के लिये किसी सुवर्ण-युक्त वस्तु की आवश्यता तो होती ही है, हमे भी यहाँ इसके लिये किसी वस्तु की जरूरत होगी।

जैन तत्त्ववेत्ताओ ने इसके लिए 'घट' अर्थात् 'घडा' चुना है हम भी उसी से प्रारभ करेगे। यहाँ पहले निर्दिष्ट 'स्यात्' और 'एव' शब्दो का पूरा महत्त्व है अत. हम इन दोनो शब्दो को साथ लेकर ही आगे बढेगे।

कसौटी १—स्यादस्त्येव घट।

इस वाक्य को भली भाँति समझने के लिए हम सधियो का विग्रह कर लेते है—स्यात्+अस्ति+एव घट। इसका अर्थ हुआ—कथचित् घडा है ही। यहाँ हमने 'स्यात्' शब्द प्रयुक्त किया है। इसका अर्थ तो हम पिछले पृष्ठो मे समझ चुके है। यह वाक्य हमे बताता है कि 'अमुक अपेक्षा से घडा है ही।' साथ ही साथ दूसरी किन्ही अपेक्षाओ की गर्भित सूचना भी देता है।

पहले हम जिन चार आधारो की चर्चा कर चुके है उनमे 'स्व' शब्द जोड कर हमे यह निश्चित करने मे कोई कठिनाई नही होती कि 'स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव की अपेक्षा से घडा है।' 'यह घडा है ही' यह एक निश्चित बात हो गई। अब हम यह समझेगे कि उक्त चार अपेक्षाएँ घडे को किस तरह लागू होती है।

१) द्रव्य की अपेक्षा से घडा मिट्टी का है। मिट्टी घडे का अपना—स्वद्रव्य है।

२) क्षेत्र की अपेक्षा से घडा बाहर के खड मे है। यह उसका स्वस्थल हुआ।

३) काल की अपेक्षा से घडा कार्तिक मास मे है। यह उसका स्वकाल हुआ।

४) भाव की अपेक्षा से घडा लाल रग का है। यह उसका स्वभाव हुआ।

इस घडे के साथ साथ हम एक फूलदान (Flower vase) भी लेते है। यह फूलदान पीतल का बना है। जब उसमे फूल डाल कर उसे मेज पर रखते है तब वह फूलदान बन जाता है। फूल निकाल कर उसमे हम मूँग भर दे तो वह एक सामान्य बर्तन बन जाता है। अब हम उसे अपेक्षा–चतुष्टय से जाँचे।

१) फूलदान का स्व-द्रव्य 'पीतल की धातु' है।

२) फूलदान का स्व-क्षेत्र दीवानखाना है।

३) फूलदान का स्व-काल उसमे जितने समय तक फूल रहते है वह समय है।

४) फूलदान का स्व-भाव दीवानखाने की शोभा मे वृद्धि करना है।

उसे हम 'फूलदान है' ऐसा कहते है क्योकि वह ऊपर बताई हुई चारो अपेक्षाएँ पूर्ण करता है। इस प्रकार उक्त-घडे के सम्बन्ध मे तथा इस फूलदान के सम्बन्ध मे प्रथम भग द्वारा इन चारो अपेक्षाओ के अधीन यह निर्णय हुआ कि वह 'है ही।'

यह निर्णय करने मे उक्त 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से घडे मे तथा फूलदान मे रहा हुआ अपेक्षाभाव सूचित हुआ, और 'एव' शब्द से इस कथन मे निश्चित भाव आया। इस रीति से निर्णय करने मे हम उचित मार्ग पर (On right path) है।

अर्थात् इस प्रथम कसौटी ने हमे एक निर्णय प्रदान किया कि "घडा है।"

कसौटी २—स्यान्नास्त्येव घट ।

सधियो का विग्रह करने पर यह वाक्य यो पढा जाएगा—

स्यात्+न+अस्ति+एव घट । इसका अर्थ हुआ—'कथंचित् घडा नही ही है।'

ऊपर पहली कसौटी मे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्व-भाव की अपेक्षा से 'घडा है ही' ऐसा निर्णय करने के बाद हम विचार करने लगे कि, 'तब क्या घडा नही भी है सही! ऐसा अन्य भी कोई निर्णय लिया जा सकता है क्या ?' दूसरे प्रकार की जिज्ञासा के द्वारा जॉचने पर इस दूसरे भग से हमे यह ज्ञात हुआ कि घडा जो है सो 'स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से है। परन्तु वही घडा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नही है। अर्थात् पूर्वोक्त घडा है सही पर वह तॉबे का नही है, अन्दर के खंड मे नही है, अगहन महीने मे नही है, लाल रग का नही है।

उपर्युक्त फूलदान भी इसी तरह 'नही है' ऐसा निश्चित होगा। 'स्व' की अपेक्षा से जो था, सो पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल और पर भाव की अपेक्षा से नही ही है ऐसा कहने मे कोई उलझन नही है। इनमे से एक ही अपेक्षा का उपयोग करते हुए उसमे से फूल निकाल कर मूग भर दिये जायॅ

तो—वह फूलदान मिट जाता है। तिस पर भी हम तो इन चारो अपेक्षाओ को साथ रख कर ही निर्णय करते है कि 'फूलदान नही है।'

इस सव पर भली भाँति विचार करने पर हमे स्पष्टतया समझ मे आएगा कि 'स्व' की अपेक्षा से घडा था—वह 'पर' की अपेक्षा से नही रहता। फूलदान का अस्तित्व भी 'स्व' की अपेक्षा पर निर्भर था और 'पर' की अपेक्षा से विचार करने पर वह 'नास्तित्व' वन गया।

यह दूसरी कसोटी हमसे कहती है कि —

१) ताँबे की धातु (पर द्रव्य) की अपेक्षा से घडा नही है।

२) अदर के खड (पर क्षेत्र) की अपेक्षा से घडा नही है।

३) अगहन महीने (परकाल) की अपेक्षा से घडा नही है।

४) हरे रग (पर भाव) की अपेक्षा से घडा नही है।

इसी तरह से उक्त फूलदान भी मिट्टी का नही है दीवानखाने के बाहर नही है, उसमे जिस समय फूल न हो उस समय नही है, और जब दीवानखाने की शोभा मे वृद्धि नही करता तब भी नही है।

इस प्रकार इस दूसरी कसौटी के द्वारा परखने पर हमे मालूम हुआ कि घडा और फूलदान नही है। जहाँ तक इस कसौटी (भग) का सबध है, यह एक निश्चित बात हो गई। 'स्यात्' शब्द इस दूसरे भग मे भी इस निर्णय की सापेक्षता सूचित करता है, और 'एव' शब्द निश्चित-भाव प्रकट करता है।

इन दो प्रकार की जिज्ञासाओ को सतुष्ट करने पर हमे फिर तीसरी जिज्ञासा जागृत होती है कि, 'तब क्या घड़ा उभय स्वरूप है।' इसका उत्तर देने के लिए तीसरा भग तैयार ही खड़ा है। उसे हाथ मे लेने के पूर्व सुविधा के लिए हम अपेक्षा से सम्बन्धित अपने शब्दप्रयोगो का एक 'सग्रह' बना ले। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार शब्दो के बदले हम 'चतुष्टय' शब्द प्रयुक्त करेगे। उसमे आवश्यकतानुसार 'स्व' और 'पर' जोड कर हम 'स्वचतुष्टय' तथा 'परचतुष्टय' शब्दो का प्रयोग करेगे। अब देखिये तीसरी जिज्ञासा का उत्तर यह है—

कसौटी ३—स्यादस्तिनास्ति चैव घट ।

अब, इसकी सधियो का विग्रह करे—

स्यात्+अस्ति+न+अस्ति+च+एव घट'। इसका अर्थ हुआ—'कथचित् घडा है ही और कथचित् नही ही है।'

हमारी बुद्धि की असली कसौटी अब यहाँ से शुरु होती है।

प्रथम दो भगो मे हमे ज्ञान हुआ कि घडा है और घडा नही है। उस वक्त तो हमने समझ लिया कि ठीक है भाई, घडा जहाँ है वहाँ है और जहाँ नही है वहाँ नही है। परन्तु इस तीसरे भग मे तो 'है और नही है' ऐसी एक सयुक्त बात कही गई है। यह फिर क्या है? है, तो है, नही है, तो नही है। तब फिर यहाँ 'है और नही है' ऐसी सदिग्ध बात करने की क्या आवश्यकता है?

सबसे पहले तो हम यह समझ ले कि इस ज्ञानयुक्त मनोरजन सी प्रतीत होने वाली बात मे कोई अनिश्चितता या सदिग्धता नही है।

यह बात पहले और दूसरे भग के योगफल जैसी प्रतीत होती है, परन्तु यह योगफल नही है। यह एक 'तीसरी नश्चित बात है।'

यहाँ हम पहले समझी हुई एक बात को याद कर ले। 'परस्पर विरोधी फिर भी सम्बन्धित अनेक गुण धर्म एक ही वस्तु मे निहित है।' यह बात पहले कही जा चुकी है।

यह तीसरा भग यहाँ एक ऐसी बात कहता है जो पहले और दूसरे भग मे नही कही गई। वस्तु के जो भिन्न भिन्न स्वरूप होते है वे अलग अलग स्वरूपो के समूह या योगफल की तरह नही होते, स्वतन्त्र होते है, यह बात हम अनुभव से जानते है। कदाचित् योगफल हो तो भी उसका स्वरूप अलग ही होता है।

किन्ही दो रगो के मेल से जब तीसरा रग बनता है तब हम उसे 'दो रगो के मिश्रण' के नाम से न पुकार कर तीसरे ही नाम से पुकारते है। यह तो सब के अनुभव की बात है। इसी तरह स्वचतुष्टय की अपेक्षा से 'है' और परचतुष्टय की अपेक्षा से 'नही है'—इन दोनो को एकत्रित करके जब हम 'है और नही है' ऐसी तीसरी बात कहते है तब वह योगफल न रह कर तीसरी एक निश्चित बात बन जाती है। 'है' का अस्तित्व और 'नही है' का नास्तित्व—इन दोनो के स्थान पर 'है और नही है' ऐसे तीसरे निर्णय का अस्तित्व यहाँ प्रकट होता है।

इस तथ्य को भलीभाँति समझने के लिए 'शराव' का 'उदाहरण' लेते है। हमे शराव के विषय मे भिन्न भिन्न मतव्य मिलेगे।

हम शराव वन्दी-विभाग के अधिकारी से पूछेगे तो वह कहेगा, "शराव उपयोगी नही है।"

शराव का नियमित उपयोग करने वाले से पूछे तो वह कहेगा कि शराव उपयोगी है।

डाक्टर से पूछे तो उत्तर मिलेगा, "शराव उपयोगी है और नही हे।"

यदि डाक्टर से हम फिर पूछे तो वह स्पष्टीकरण करेगा कि औषधि के रूप मे शराव उपयोगी हे और पीने की आदत के तौर पर उपयोगी नही हे क्योकि हानिकारक है।

ये तीनो मन्तव्य भिन्न भिन्न अपेक्षाओ पर आधारित है। फिर ये तीनो स्वतन्त्र मन्तव्य है। वात समझ मे आ गई न ?

और अच्छी तरह से समझने के लिए हम कहेगे कि प्रथम भग मे हमे श्री 'स्वचतुष्टय' की ओर से एक निश्चित उत्तर मिला। दूसरे भग मे हमे श्री 'परचतुष्टय' की ओर से दूसरा निश्चित उत्तर मिला। अन्त मे इस तीसरे भग मे 'स्वचतुष्टय परचतुष्टय एण्ड कम्पनी' की ओर से तीसरी निश्चित राय मिली।

हम हीरे का दृष्टान्त ले। एक हीरा 'आसमानी झाई वाला सफेद' (Bluish White)है और दूसरा लाल झाई वाला सफेद (Reddish White) है। इन दोनो के क्रमश 'आसमानी और सफेद' तथा 'लाल और सफेद' ये दोनो रग होते हुए भी प्रत्येक के लिए एक तीसरा निश्चित शव्द प्रयुक्त होता है और उससे पहले के वनिस्वत तीसरी ही वस्तु का वोध होता है। उसी तरह यह 'है और नही है' भी (१) 'है' तथा (२) 'नही है'—इन दोनो से अलग तीसरी ही वात हमे कह जाता है।

जैसे घडे के विपय मे वैसे ही फूलदान के विपय मे भी इस तीसरे भग के अनुसार निश्चित हो गया कि 'फूलदान है और नही है ।' अब यह पूर्णतया समझ मे आगया होगा कि इस तीसरे कथन मे किसी प्रकार की अनिश्चितता या सदिग्धता नही है ।

यह तीसरी कसौटी वस्तु का तीसरा स्वरूप समझने के लिए है । यह कथन सापेक्ष है । जो लोग इस वात को अच्छी तरह समझ लेगे उन्हे इसकी समझ के विपय मे कोई भ्रान्ति नही रहेगी ।

इस प्रकार घडा और फूलदान 'है और नही है' इस वात की समझ प्राप्त करके आगे वढने से पहले पुन इतना याद कर ले कि इस तीसरी निश्चित वात मे भी 'स्यात्' शव्द होने से स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की मर्यादाएँ और अपेक्षाएँ क्रमश स्वस्थान मे है ही । यह शव्द अपने ढग से तृतीय भग मे भी अन्य अपेक्षाओ का गर्भित सकेत तो करता ही है ।

फिर भी इस तीसरी वात मे कुछ भी सशय या अनिश्चय नही है । इसके विपरीत, यह हमे वस्तु को समझने की 'तीसरी दृष्टि' देती है ।

इन तीन निर्णयो के वाद फिर चौथी जिज्ञासा प्रकट होती है जो हमे चौथे भग की ओर ले जाती है ।

४ **कसौटी**—स्यादवक्तव्य एव घट ।

सधि अलग करने पर यह वाक्य यो पढा जाएगा—
स्यात्+अवक्तव्य +एव घट । इसका अर्थ होता है —'कथचित् घडा अवक्तव्य ही है ।'

अवक्तव्य अर्थात् 'जिसका वाणी या शव्दो द्वारा वर्णन ।

हो सके ।'हमे अपनी समझने की शक्ति की उत्कटता का असली उपयोग यहाँ करना है । पहले मे कहा कि 'है', दूसरे मे कहा कि 'नही' तीसरे मे हमे ज्ञात हुआ है कि 'है और नही है ।' ये तीनो वाते तो हमारे दिमाग मे आ गई परन्तु यह 'अवक्तव्य' क्या है ? घडे का वर्णन क्यो नही हो सकता ?

इस वात को समझना कोई कठिन नही है । हमे अपनी रोजाना जिन्दगी मे इस प्रकार का शव्दप्रयोग कई वार होता दिखाई देता है ।

उदाहरणार्थ—किसी के अत्यधिक उपकार के भार से दवा हुआ कोई व्यक्ति मुंह से वोल कर या लिखित रूप से ऐसा शव्दप्रयोग करता है, "मेरे पास अपनी भावना का पूर्णतया वर्णन करने के लिए शव्द नही है ।" इसी तरह किसी भी प्रकार की भावना जव अत्यधिक वढ जाती है तव कुछ लोग ऐसा कहते भी सुने गये है, "मेरे दिल मे क्या क्या है, उसका वर्णन करने मे असमर्थ हूँ ।

अग्रेजी भाषा मे इस आशय की शव्दावलि देखने को मिलती है—I have no words to expiess—I am unable to expiess my gratitude ! मेरे पास इसे व्यक्त करने के लिए शव्द नही है—मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने मे असमर्थ हूँ !

इस प्रकार के वाक्यो का प्रयोग करने वाले लोगो को अपनी भावनाओ की जानकारी तो होती है । वे नासमझ तो नही होते, यह वात तो सभी समझ सकेगे, परन्तु उनकी वात व्यक्त करने के लिए निश्चित शव्द नही मिलते, इसलिए वे इस प्रकार के वाक्य वोलते है ।

पहले तीन भगो मे घडे के विपय मे क्रमश कथन आया । एक मे हमने घडे का अस्तित्व स्वीकार किया । दूसरे मे उसका 'अभाव—न होना' स्वीकार किया । तीसरे मे 'अस्तित्व और अभाव' विषयक एक निश्चित कथन हमने मजूर किया ।

तीसरे भग मे वस्तु के दोनो धर्मो का क्रमश कथन है । परन्तु यदि कोई कहे कि दोनो का युगपद् कथन करो तो हमे कहना पडेगा कि 'ऐसे तो वह अवक्तव्य है ।' यदि कोई कहे कि 'है और नही है' यो नही वल्कि एक ही स्पष्ट वात इस चौथे भग से करो, तो हम कहेगे कि एक ही साथ 'हे और नही है' यह भाव प्रकट करने वाला कोई 'एक' शब्द भाषा मे नही है, इसलिये यह वात 'अवक्तव्य' है, इसका वर्णन नही किया जा सकता ।

जव हम किसी वीमार आदमी का हाल जानने के लिये जाते है तो वह सामान्यतया उत्तर देता है—'ठीक है, अच्छा है ।' परन्तु 'ठीक' और 'अच्छा' ये दोनो शब्द सापेक्ष है । 'कल से अच्छा पर वीमारी शुरु होने से पहले के स्वास्थ्य की अपेक्षा 'खराव' ये दोनो अर्थ उस उत्तर मे निहित है । जव हम उससे कहे कि 'भाई, तवीयत का ठीक ठीक स्पष्ट वर्णन करो' तव वह क्या जवाव देगा ? एक ही जवाव दे सकता है कि 'कुछ कहा नही जा सकता ।' यह जवाव अस्पष्ट नही है क्योकि 'ऐसा या वेसा कुछ कह सकने की स्थिति मे नही हूँ' इस वाक्य मे भी एक स्पष्ट अर्थ है ही ।

युद्ध के मैदान मे, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ मे तथा न्यायालयो मे ऐसी परिस्थिति कई वार देखने जानने को मिलती है । वहाँ चलती हुई प्रवृत्तियो के परिणाम के विषय

मे पूछने पर हमे ऐसा जवाब मिलता है—'Cant say anything कुछ भी नही कहा जा सकता।' यह कोई अस्पष्ट जवाब नही है। यह परिस्थिति का सच्चा और स्पष्ट मूल्यांकन है।

इसी तरह से घडा 'अवक्तव्य' है ऐसा कहने मे भी एक निश्चित और स्पष्ट अर्थ है। 'है और नही है' इस वाक्य मे से 'और' शब्द को हटाकर हम परिस्थिति का वर्णन नही कर सकते।

यहाँ भी वही 'स्यात्' शब्द है। यह शब्द इस अभिप्राय के अतिरिक्त अन्य सापेक्ष सभावनाओ का उल्लेख करते हुए भी मूल कथन की निश्चितता को सुरक्षित रखता है। 'एव' शब्द कथन को सपूर्ण निश्चितता प्रदान करता है।

एक ही वस्तु को 'है' 'नही है' तथा 'है और नही है' इन तीनो दृष्टियो से एक साथ प्रस्तुत करने मे जो कठिनाई है उसे यह चौथा भग एक शब्द 'अवक्तव्य' के द्वारा दूर करता है। इस बात को इस ढग से प्रस्तुत करने मे हम असत्य कथन करने से बच जाते है। इसके उपरात एक सत्य कथन करने वाले के रूप मे हम सम्मान भी प्राप्त कर लेते है। इस प्रकार यह चौथा भग हमारे सामने एक नया दृष्टिबिन्दु प्रस्तुत करता है—वस्तु को समझने की एक नई दृष्टि देता है।

वेदान्तमत मे नेति नेति (न+इति)का जो विधान है, वह सप्तभगी के इस चौथे भग को समझने के लिए एक सामान्य दृष्टान्त का काम देता है। वर्णन करने के असामर्थ्य मे से 'नेति नेति' (ऐसा नही, ऐसा नही)शब्द स्वत प्रकट हुए है। ये शब्द बोलने वाला ब्रह्म को समझने की अपनी अशक्ति की दृष्टि से ऐसा शब्दप्रयोग करता है। परन्तु वह ऐसा नही

कहता कि 'ब्रह्म कोई वस्तु नही है।' इसी तरह चौथे भग मे 'अवक्तव्य' शब्द अमुक सापेक्षता का सूचक है और एक स्पष्ट विधान प्रस्तुत करता है।

अर्थात् चौथे भग द्वारा हमने यह निश्चित किया कि 'घडा तथा फूलदान अवक्तव्य है।' तत्त्वज्ञान मे एव व्यवहार मे दोनो मे इस चौथे निर्णय का विशेष महत्त्व है।

हमारी चार प्रकार की जिज्ञासाएँ तृप्त हुई। परन्तु पाँचवी तो खडी ही है। चलिए, अब हम पचम भग की ओर आगे बढे।

कसौटी ५—स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यश्चैव घट ।

इस वाक्य की सधियो का विग्रह करे—

स्यात्+अस्ति+एव, स्यात्+अवक्तव्य +च+एव घट ।

इसका अर्थ हुआ, कथचित् घडा है ही, और कथचित् घडा अवक्तव्य है ही।

इस पाँचवे भग मे हमारे सामने एक नई ही—पाँचवी—दृष्टि प्रस्तुत होती है। चौथे भग मे हम सापेक्ष दृष्टि से 'अवक्तव्य' कह कर रुक गये थे। ऐसा कह कर हमने उसके अस्तित्व को अस्वीकार नही किया। यदि ऐसा करे तो 'स्यात्'शब्द निरर्थक हो जाय।

चौथे भग के द्वारा निर्णय करते समय हमारे सामने तीन कथन थे—(१) है, (२) नही है (३) है और नही है। इन तीनो के उपरान्त वस्तु की और एक स्वतन्त्र खासियत के आधार पर हमने 'अवक्तव्य' द्वारा चौथा स्वतन्त्र कथन किया था। यह चतुर्थ विधान स्पष्ट, बुद्धिगम्य और दिन व दिन के जीवन मे प्रयुक्त वाक्य है, यह बात भी हमने स्वीकार की थी।

यहाँ हम एक नया स्वतन्त्र विधान इस पाँचवी कसौटी के आधार पर कर रहे हैं—'है और अवक्तव्य है।'

इसमें से 'अवक्तव्य' को तो हम ठीक तरह से समझ चुके हैं। जिस वस्तु में दो परस्पर विरोधी गुण-धर्म हों उसे उन दोनों रूपों में एक ही बार में और एक ही रीति से समझाया नहीं जा सकता। अब यह पाँचवाँ भंग वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार कर के फिर 'अवक्तव्य' कहता है।

यह पाँचवाँ भंग वस्तु के स्वचतुष्टय-अपेक्षित अस्तित्व को स्वीकार करता है, साथ ही उसमें यह बात भी जोड देता है कि स्वतन्त्र परचतुष्टय तथा स्वतन्त्र स्व-पर-चतुष्टयद्वय की अपेक्षा को लक्ष्य में लेकर उसका वर्णन नहीं हो सकता।

वस्तु के सभी धर्मों को स्पष्ट करने के लिए प्रथम चार भंगो के द्वारा प्रस्तुत मन्तव्य पर्याप्त नहीं होने के कारण ही इस पाँचवे और इसके बाद के छठे तथा सातवे भंगो की आवश्यकता उपस्थित हुई है।

पहले के चार भंग भली भांति समझ में आजाने के बाद इस पाँचवे भंग को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। 'वस्तु है और अवक्तव्य है' यह एक निश्चित बात इस कसौटी से सिद्ध होती है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण लेते हैं—

'कुआँ खोदने के लिए ऐसी जगह पसन्द की जाती है जिसके नीचे अधिक से अधिक निकट से पानी निकल सके। जमीन के नीचे पानी है यह एक निश्चित तथ्य (Matter of fact) है। फिर भी कुआँ खोदने के लिए पसन्द की हुई जगह के विषय में कोई निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि वहाँ अवश्य निकट से पानी निकलेगा। इस अवसर पर यदि कोई

पूछे कि 'क्या यहाँ पानी है?' तो उसका क्या उत्तर हो सकता है? ऐसा स्पष्ट जवाव, जिसमे से असदिग्ध समझ प्राप्त हो सके, केवल इस वाक्य के द्वारा ही दिया जा सकता है—'है पर कुछ नही कहा जा सकता।'

कुआँ खोद कर उसमे से पानी निकालने के वाद कोई नही पूछेगा "क्या यहाँ पानी है? इसी तरह, जव यह पाँचवी कसौटी कहती है कि 'है और अवक्तव्य है' तो यह भी एक स्पष्ट और निश्चित वात है।

यह पाँचवाँ कथन भी सापेक्ष है और अन्य अपेक्षाओ से होने वाली अन्य निश्चित वातो का अस्वीकार नही करता। यह पहले के चारो से एक विशिष्ट और नई वात हमारे सामने पेश करता है। एक वार फिर समझ ले कि स्वचतुष्टय की अपेक्षा से 'है' यह निश्चित वात करने के वाद, यह पाँचवाँ भग स्व-पर-चतुष्टयद्वय को ध्यान मे रख कर एक साथ वर्णन नही हो सकता—ऐसी दूसरी निश्चित वात भी उसके (अस्तित्व के) साथ ही कहता है।

इस तरह घडा और फूलदान—दोनो के वारे मे, हम इस पाँचवी कसौटी के द्वारा वताये गये निर्णय से यह स्पष्ट कथन करते है कि 'है और अवक्तव्य है।'

अव हम अपनी छठी जिज्ञासा का उत्तर पाने के लिए छठे भग की ओर वढते है।

कसौटी ६—स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यश्चैव घट'।

सधियाँ छोडने पर यह वाक्य निम्नानुसार पढा जाएगा—

स्यात्+न+अस्ति+एव,स्यात्+अवक्तव्य+च+एव घट.।

इसका अर्थ होता है—'कथचित् घडा नही ही है और कथचित् अवक्तव्य है ही।'

हमने प्रथम कसौटी वाले 'है ही' शब्दावलि से प्रकट होने वाले अस्तित्व को तथा चौथे भग के 'अवक्तव्य' को साथ रख कर पाँचवे भग मे पाँचवाँ कथन किया था। इस छठे भग मे हम दूसरे भग मे से 'अभाव-नास्तित्व' तथा चौथे भग में से 'अवक्तव्य' इन दो विधानो को एक साथ प्रस्तुत करते है। पाँचवे भग मे हमारे सामने जिस तरह पहली और चौथी कसौटी के सयोजन से पाँचवाँ नया दृष्टिबिन्दु प्रस्तुत हुआ था, उसी तरह इस छठे भग मे हम दूसरे और चौथे भग के सयोजन द्वारा एक नयी निश्चित परिस्थिति का दर्शन करते है।

परचतुष्टय की अपेक्षा से घडा नही है यह बात निश्चय-पूर्वक सिद्ध होती है। परन्तु स्व-पर-चतुष्टयद्वय की अलग-अलग अपेक्षाओ से तथा 'स्यात्' शब्द के आधार से उसमे एक दूसरा निश्चित कथन भी जुड जाता है कि 'घडा अवक्तव्य है।' अर्थात् इस छठे भग मे एक स्वतन्त्र बात कही गई है कि 'घडा नही है और अवक्तव्य है।'

यहा पुन उपर्युक्त कुआँ खोदने का उदाहरण ले। किसी-किसी प्रदेश को 'जल-हीन प्रदेश' कहते है। बहुत गहराई तक खोदने पर भी वहाँ पानी नही निकलता। इसलिए कुआँ खोदने के बारे मे उक्त प्रदेश की जलहीनता की अपेक्षा से यह निश्चित हुआ कि 'इस जमीन के नीचे पानी है ही नही।'

फिर भी जहाँ जमीन है वहाँ नीचे पानी है, यह तथ्य भी निश्चित है। इसलिये इस पर से हम दो तथ्य निकाल सकते हैं कि 'यहाँ पानी होते हुए भी खोदने से प्राप्त नही हुआ।

व्यावहारिक उपाय से पानी नही मिला इसलिए 'पानी नही है।' वैज्ञानिक मान्यतानुसार जमीन के नीचे पानी होता ही है, फिर भी यहाँ नही मिला। तो यह पानी क्यो नही मिला ? फिर भी हम निश्चयपूर्वक यह कहने की स्थिति में नही है कि फिर से प्रयत्न करने पर अन्य किसी स्थान पर खुदाई करने पर, या वोरीग आदि भिन्न भिन्न उपायो से— इन सब भिन्न-भिन्न अपेक्षाग्रो के द्वारा भी पानी नही मिलेगा।

अत इस जलहीन कहलाने वाले प्रदेश मे 'पानी नही है और अवक्तव्य (कुछ नही कहा जा सकता) है'—ऐसी एक सपूर्ण वात कह कर हम परिस्थिति का समुचित चित्र प्रस्तुत कर सकेगे। यह एक स्पष्ट और निश्चित वात हो गई।

पाँचवे भग की 'है और अवक्तव्य है' वाली वात के समान ही यह 'नही है और अवक्तव्य है' वाली नयी वात छठे भग मे आई है। यह छठा नया दृष्टिविन्दु दीपक की भाँति स्पष्ट है। सप्त-भगी की सपूर्ण शृखला की यह एक अनिवार्य कडी है। इस तरह इस छठे भग के द्वारा हम यह स्वीकार कर लेते है कि —

'घडा और फूलदान नही है और अवक्तव्य है।'

अब सातवी और अन्तिम जिज्ञासा का उत्तर प्राप्त करे।

कसौटी ७—स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यश्चैव घट ।

इसकी सधियो का विग्रह करे:—

स्यात्+अस्ति+न+अस्ति+अवक्तव्य:+च+ एव घट ।

इसका अर्थ है, 'कथचित् घडा है, नही है और अवक्तव्य है ही।'

पाँचवे भग मे पहले और चौथे के सयोजन से एक नया

चित्र वना था। छठे भग मे दूसरे और चौथे के सयोजन से हमे नया दृष्टिविन्दु प्राप्त हुआ। अव इस सातवे भग मे हम पहले, दूसरे और चौथे—इन तीनो को साथ रख कर यह अतिम नया चित्र वनाते है।

पाचवे और छठे भग की तरह यह सातवाँ कथन भी एक स्वतन्त्र परिस्थिति है। यह भी निर्णयात्मक और निश्चित कथन है। इसमे तीन अलग अलग वाते होते हुए भी तीनो मिल कर हमारे सामने एक सम्पूर्ण वात प्रस्तुत करती हैं। पाँचवे और छठे भग को समझने के वाद इसे समझने मे कोई कठिनाई नही होगी।

इस सातवी कसौटी मे स्वचतुष्टय, परचतुष्टय और इन दोनो अपेक्षाओ को एक साथ प्रयुक्त करने से उपस्थित होने वाली 'अवक्तव्यता' ये तीनो एकत्रित होकर हमारे सामने एक नया ही विशिप्ट चित्र प्रस्तुत करती है। जिस प्रकार इससे पहले के छह भगो मे प्रकट हुई वाते—वताये गये निर्णय—एक दूसरे से भिन्न है उसी तरह यह सातवाँ चित्र भी इन छहो से भिन्न है। इससे हमे और एक नई ही समझ प्राप्त होती है। यह समझ पिछली छह प्रकार की समझ से भिन्न और विशिष्ट है।

'है, नही है और शव्दो मे उसका वर्णन नही हो सकता' इस वाक्य मे भी निश्चितता का सूचक 'एव' शव्द है ही।' फिर दूसरी अपेक्षाओ के द्वारा जो अन्य स्वरूप उस वस्तु मे निश्चित तौर पर हैं, उनकी स्वीकृति सूचित करने वाला 'स्यात्' शव्द भी इसमे है। इस दृष्टि से यह सातवी कसौटी हमारे सामने एक सातवाँ स्पष्ट और निश्चित चित्र पेश करती है।

अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु का "होना, न होना और अवक्तव्य (वर्णनातीत) होना" एक सुन्दर और अद्भुत चित्र है, साथ ही बुद्धि-गम्य भी।

यहाँ हम उपर्युक्त कुएँ और पानी की वात फिर याद करते है। एक कुएँ मे पानी है, दूसरे मे नही है। दोनो की खुदाई एक सी थी। जिस स्तर पर एक मे पानी निकला उसी स्तर पर दूसरे मे नही निकला।

अब, जिस जमीन मे ये दो कुएँ खोदे गये है, उसमे अमुक स्तर पर पानी नही है, अमुक स्तर पर पानी है, और एक ही स्तर पर एक कुएँ मे पानी है और दूसरे मे नही है। हम यह वात भी निश्चयपूर्वक कहने की स्थिति मे नही है कि इस जमीन मे दूसरे कुएँ खोदने पर, या जिस कुएँ मे पानी नही निकला उसे अधिक गहरा खोदने पर पानी निकलेगा या नही ? यदि हम इस सम्पूर्ण परिस्थिति को पूर्णतया व्यक्त करना चाहे, वात जैसी है वैसी असदिग्धता-पूर्वक कहना चाहे तो हमारे लिए एक ही विकल्प वाकी रहता है और वह यह है कि 'पानी है, पानी नही है और कुछ कहा नही जा सकता' ऐसा उत्तर दे। 'क्या इस जमीन मे पानी है ?' इस प्रश्न के उत्तर मे यदि हम कहे कि 'है, नही है और अवक्तव्य है' तभी हमारा उत्तर यथार्थ और वास्तविक होगा।

यह सप्तम कथन भी 'एव' शब्द के द्वारा निश्चित, तथा 'स्यात्' शब्द के द्वारा अन्य अपेक्षाओ के अधीन है, अत इसे समझने मे कोई कठिनाई नही होगी। वह भी एक सापेक्ष कथन है और इस प्रकार सत्य वचन है।

व्यवहार मे भी हमे इस प्रकार की परिस्थिति देखने को मिलती ही है। एक उदाहरण लेते है—

'देवजी भाई नामक एक सज्जन को नागजी भाई नामक दूसरे सज्जन ने व्यापार के लिये अपनी पचास हजार रुपये की पूँजी उधार दी, और इस पूँजी से देवजी भाई ने व्यापार शुरु किया। व्यापार करते करते यह पूँजी सुरक्षित रहेगी, बढेगी या नष्ट हो जाएगी, इसका निश्चित उत्तर तो कोई नही दे सकता।

'अब, देवजी भाई के पास अपनी पूँजी नही थी अत देवजी भाई पूँजीहीन है, और परायी पूँजी उनके पास आने से वे पूँजी वाले है, तथा उनके व्यापार का परिणाम भविष्यकाल की उनकी धीरज, चतुराई, उन्हे प्राप्त सहयोग तथा उनके प्रारब्ध-आदि अनेक अपेक्षाओ पर निर्भर होने के कारण आज यह नही बताया जा सकता कि यह पूँजी उनके पास सुरक्षित रहेगी या बढेगी या नष्ट हो जायगी। इन परिस्थितियो मे हमे एक सम्पूर्ण बात इस तरह ही कहनी पडेगी—"देवजी भाई के पास पूँजी है, नही है, और कुछ नही कहा जा सकता।" उनके पास से नागजी भाई कभी भी अपनी पूँजी वापस माँग सकते है—यह सभावना रूपी एक अपेक्षा भी इसमे निहित ही है।

अब, दूसरी ओर हम नागजी भाई की बात ले। पूँजी उनकी अपनी है, इसलिए 'है'। उन्होने पूँजी देवजी भाई को व्यापार करने के लिए दे दी है, इस कारण अब वह उनके पास नही है, अत 'नही है।' देवजी भाई के पास यह पूँजी पुन प्राप्त होगी या नही, यह बात तो देवजी भाई के व्यवसाय के प्रकार, विकास, सफलता-असफलता के अतिरिक्त उनकी

नीयत पर भी निर्भर है, अतः इन सब अपेक्षाओ के अधीन होने के कारण इस प्रश्न का स्पष्ट जवाब नही दिया जा सकता। अतएव नागजी भाई की पूँजी के विषय मे पूछे जाने वाले प्रश्न के उत्तर मे 'है, नही है, और अवक्तव्य है' ऐसी एक मात्र सम्पूर्ण बात यदि हम कहते है, तो वही पूर्णतया यथार्थ चित्र प्रस्तुत करेगी।

इस प्रकार भिन्न भिन्न अपेक्षाओ के कारण स्वचतुष्टय, परचतुष्टय तथा स्व-परचतुष्टय की युगपत् कथन से सबधित अपेक्षात्रयी के अधीन रह कर सातवे भग के द्वारा यही एक सम्पूर्ण और स्वतन्त्र बात कही जा सकती है कि "घडा तथा फूलदान है, नही है और अवक्तव्य है।"

सातवे भग मे भी 'स्यात्' तथा 'एव' ये दोनो शब्द हैं, अत सातवाँ कथन भी निश्चित और सापेक्ष है। यह हमारी सातवी और अन्तिम जिज्ञासा का बहुत ही सुन्दर उत्तर है।

सातों कसौटियाँ एक साथ

ऊपर हमने सात भगो के द्वारा वस्तु के धर्म के विषय मे सात भिन्न भिन्न निर्णय किये। ये सातो स्पष्ट, निश्चित और स्वतत्र होते हुए भी इनमे से प्रत्येक कथन मे वस्तु का सपूर्ण चित्र नही है। इन सातो को यदि हम स्वतत्र रहने दे और प्रत्येक को यदि वस्तु का सम्पूर्ण चित्र मान ले तो हमारी यह मान्यता 'ऐकान्तिक' और अशुद्ध मानी जाएगी। यह सब वस्तु की अनेक धर्मात्मकता समझने के लिए हम उसे 'अनेकात' के द्वारा जाँच रहे थे। अत सपूर्ण चित्र तो हमे तभी प्राप्त होगा जब सातो कसौटियो के द्वारा हमने जो अलग अलग स्वरूप देखे है

उन सबको हम एकत्रित कर दे, अन्यथा एकान्त निर्णय के कारण हम दोषी ठहरेगे।

ये सातो निर्णय अपने अपने चतुष्टय मे स्वतन्त्र होते हुए भी 'स्व' तथा 'पर' चतुष्टय की अपेक्षा से एक दूसरे के साथ सम्बन्धित तथा जुडे हुए थे ही। इस महत्त्व की बात को हम भूल न जाँय, सतत स्मरण रखे, इसी हेतु से इस फारमुला मे 'स्यात्' शब्द प्रत्येक भग मे रखा गया है।

जब हम इन सातो स्वरूपो को समग्र रूप मे देखेगे तभी एक सपूर्ण चित्र तैयार होगा। परन्तु इस तरह सपूर्ण चित्र बनाने के बाद भी हम 'स्यात्' शब्द को विदा नही कर सकते। इसमे से यदि हम 'स्यात्' शब्द निकाल दे तो हम ऐसी भ्राति मे पड जाएँगे कि इस तरह बना हुआ सम्पूर्ण चित्र अन्य अग-उपागो से रहित है। इस प्रकार पुन हम 'ऐकान्तिक निर्णय' के दोष मे पडेगे, क्योकि स्यात्-पद के बिना तो यह अर्थ भी निकल सकता है एक समय 'अस्ति' है और भिन्न समय मे 'नास्ति' है। स्यात्-पद की सहायता से, जिस समय 'अस्ति' है उसी समय 'नास्ति' है, यह बात समझाने वाले वास्तविक अनेकात से महान् लाभ प्राप्त होता है।

इस दृष्टि से यहाँ जो 'स्यात्' शब्द लगा है वह हर हालत मे अनिवार्य–Indispensable–है। यह एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण एव सर्वदेशीय बात है। इसी कारण जैन तत्त्वज्ञान को 'स्याद्वाद' नाम दिया गया है। इसमे से यदि 'स्यात्' शब्द हटा दिया जाय तो शेष कुछ नहीं रहता है, यह बात सप्तभगी से बिल्कुल स्पष्ट एव निश्चित हो जाती है।

यह बात भी अब अच्छी तरह समझ मे आ गई होगी कि

सप्तभगी से सम्बन्धित 'है, नही है, है और नही है' आदि प्रथम दृष्टि मे उलझी हुई प्रतीत होने वाली वातो मे कोई उलझन या गडवडी नही है। इसके अनुरूप कई दृष्टात पेश किये जा सकते है।

'पोटेशियम सायनाइड' नामक एक पदार्थ है। वह एक घातक विप है। इसका एकाध कण भी मनुष्य के खून मे मिलते ही उसके प्राण शरीर मे से छटपटा छटपटा कर निकल जाते है। फिर भी इसके अनेक औद्योगिक (Industrial) उपयोग भी है। इलेक्ट्रोप्लेटिंग के उद्योग मे इससे बनने वाले एक लवण (Salt) का उपयोग होता है। फोटोग्राफी के क्षेत्र मे फिल्म की पट्टिया और प्लेटे धोने मे भी इसके विलयन (Solution) का उपयोग होता है। इसके और भी कई उपकारक उपयोग है।

यह पोटेशियम सायनाइड वैज्ञानिको के लिए एक वडी समस्या है। अभी तक वैज्ञानिक इसका हल नही खोज सके है। अभी तक ससार को यह मालूम नही हो सका है कि इस पदार्थ का स्वाद कैसा है।

मनुष्य की जिज्ञासावृत्ति ने ज्ञानप्राप्ति के लिए जो भगीरथ पुरुपार्थ आरम्भ किया है, पोटेशियम सायनाइड का स्वाद उसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। जगत को इसकी जानकारी देने के लिये आज तक कई वैज्ञानिको ने स्वेच्छा से अपने प्राणो की वलि दे दी है। यह जानते हुए भी कि जीभ से इस जहर का सपर्क होते ही तात्कालिक मृत्यु हो जाती है, कितने ही वैज्ञानिको ने इसका स्वाद मालूम करके दुनिया को उसकी जानकारी देने के लिए निष्फल पुरुपार्थ कर अपने प्राण

खो दिये है। दाहिने हाथ मे पेंसिल पकडे, एक कागज पर 'पोटेशियम सायनाइड का स्वाद '–' है, ऐसा वाक्य लिख कर उसमे रिक्त स्थान की पूर्ति करने के प्रयत्न मे रहे हुए जोखिम को अच्छी तरह समझते हुए भी उक्त विष को जीभ पर रखने वाले और प्राणो की वलि चढाने वाले वैज्ञानिको की जिज्ञासा-वृत्ति कितनी उग्र, तीव्र और महान् होगी, इसकी कल्पना कोई भी कर सकता है ?

इस पदार्थ का स्वाद खट्टा, खारा, कडुआ, मीठा, तिक्त, आदि मे से कोई एक होना चाहिए। इनमे से 'कोई' एक शब्द कागज पर लिखने मे एकाध सेकण्ड भी शायद ही लगे। परन्तु यह जहर इतना घातक है कि वह किसी को ऐसा एक शब्द लिखने का मौका तक नही देता। इस काम के लिए किया गया किसी का भी प्रयत्न अभी तक सफल नही हुआ। जिस जिसने ऐसा प्रयत्न किया वह उसी क्षण मर गया और इस जहर के स्वाद की समस्या अभी तक हल हुए विना ही पडी है।

पोटेशियम सायनाइड मे कोई 'स्वाद है या नही' इस प्रश्न पर यदि हम सप्तभगी के उपयोग के द्वारा विचार करे तो उसके सातो पदो मे इसका जवाव मिलेगा। इस वात पर तो सभी वैज्ञानिक सहमत है कि वह एक स्वादयुक्त पदार्थ है। परन्तु इसका स्वाद कैसा है इसका उत्तर अभी तक नही मिल सका हे। इसलिए इस 'स्वाद' के लिए भी ऐसा निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि जीवन अनाशक स्वाद 'नही है।' इस तरह यहां 'है' 'नही है' 'है और नही है' आदि सभी पदो का प्रयोग हो सकता है।

इस जहर के स्वाद को मालूम करने की और दुनिया को बतलाने की एक तीव्र उत्कण्ठा आज भी वैज्ञानिक जगत मे जीवित है। इसके लिए अपने प्राणो का बलिदान करने वालो के आत्मा मे रही हुई विश्वकल्याण की भावना ऐसी महान् और उदात्त है कि सभी को उसका ददन करने की इच्छा हो जाय। इस पर विचार करते हुए मन मे एक ऐसा प्रश्न उठता है कि 'आत्मा के मूल स्वरूप-आत्मज्ञान-के स्वाद के विषय मे भी ऐसी ही तीव्र जिज्ञासा और उसके लिए सर्वस्व का बलिदान करने की भावना इस विश्व मे क्यो नही प्रकट होती ? इसके लिए प्रबल पुरुषार्थ करने की अभिलाषा क्यो जाग्रत नही होती ? जिन्हे यह अभिलाषा जगी और जिन्होने परम पुरुषार्थ किया वे तो पार हो गये और उनमे से जो तीर्थंकर भगवान् थे वे जगत के सर्वश्रेष्ठ उपकारी बन गये।

उपर्युक्त जहर का स्वाद जानने की बात तो केवल विज्ञान को तथा विज्ञान के द्वारा विश्व को एक गूढ रहस्य की जानकारी देने तक सीमित है, जब कि आत्मा के मूल स्वरूप को पहचानने मे तो स्वकल्याण की एक बहुत बडी और आवश्यक बात भी है। सासारिक सुखो के प्रति उद्वेग धारण करके, प्राणि-मात्र के प्रति—जीव मात्र के प्रति–मैत्री और करुणा रखते हुए निर्लेप उपकार भाव धारण करके आत्मोद्धार का प्रबल पुरुषार्थ प्रारभ करने मे तो अन्तत आत्माका-हमारा अपना कल्याण है।

आत्मा की मुक्ति का मार्ग उपर्युक्त जहर के स्वाद के समान गूढ और रहस्यमय भी नही है। सर्वज्ञ भगवतो ने हमे यह मार्ग बता ही रखा है। उसका अनुसरण करने मे कोई

कठिनाई नही है, और हो तो भी वह पोटेशियम सायनायड के समान प्राणघातक नही, प्राणोद्धारक है। उसका सपूर्णत. अनुसरण करने की निश्चय दृष्टि को ध्येय रूप मे स्थापित करके यदि उसका अशत भी पालन करने का प्रारभ किया जाय तो वह परम आनन्द और परम सुख का साधन बने। यदि हमारे भीतर यह जिज्ञासा जगे तो हमारा कल्याण हो जाय।

यदि हम सप्तभगी की इन सात जिज्ञासाओ को आत्मा की मुक्ति के साथ—अनन्त सुख की प्राप्ति के साथ जोड कर विचार करेगे तो परमपद की प्राप्ति के मार्ग का एक ज्वलन्त चित्र हमारे सम्मुख प्रकट होगा। हम यह वात समझ जाएँगे कि किस प्रकार का जीवन जीने से हम अनन्त सुख के भोक्ता वन सकेंगे।

अव हम एक भला और सच्चा जीवन जीने की महत्त्व की और आवश्यक वात पर आ पहुँचे है। कुछ लोग पूछते है कि, 'सप्तभगी के बुद्धिप्रयोग से हमने एक वस्तु के सात भिन्न-भिन्न स्वरूप तो देखे, परन्तु उससे हमे लाभ क्या हुआ ? यह मान भी ले कि अनेकान्तवाद के तत्त्वज्ञान मे स्याद्वाद नामक प्रमाणभूत पद्धति, नय नामक विलक्षण व्याख्या और सप्तभगी नामक सुन्दर व्याकरण है, पर उससे हमे क्या लाभ ?

उमसे लाभ तो अमूल्य है। उसका वर्णन करने मे पृष्ठो पर पृष्ठ रगे जा सकते है। यहाँ जो प्रश्न पूछा गया है वह आत्मलक्षी न होकर ससारलक्षी है। सासारिक सुखो की प्राप्ति मे सप्तभगी उपयोगी है या नही ? रोजाना के जीवन मे उसकी जानकारी से कोई लाभ हो सकता है या नही ? इन प्रश्नो के बुद्धिगम्य उत्तर माँगे जाते हैं। हम सब जानते है कि सुखी

जीवन जीने का छोटा सा ध्येय समस्त विश्व को अपने मे समाकर बैठा है।

तत्त्वज्ञान ने सद्विचार बतलाये है, और धर्म हमे उन सद्विचारो के अनुरूप अच्छे आचरणो की शिक्षा देता है। अच्छा जीवन जीने का प्रश्न इसके अन्तर्गत होने से बुद्धि के विषय मे अनुपम और अद्भुत सप्तभंगी दिन व दिन के जीवन-व्यवहार मे हमे किस प्रकार उपयोगी हो सकती है, यह समझना आवश्यक है।

इस बात पर विचार करते समय 'स्याद्वाद-समग्र' हमारे लिए अत्यन्त उपकारक है, यह तथ्य आ खडा होगा। फिर भी यह प्रकरण सप्तभगी विषयक होने के कारण हम इस बात की पहले जाच करे कि हमे इसकी जानकारी से क्या व्यावहारिक लाभ होता है।

इसके लिए 'बेरिस्टर चक्रवर्ती' नामक एक कल्पित पात्र लेकर अब हमारे सम्मुख एक नया प्रकरण आता है। चलिए उसका परिचय प्राप्त करे।

वैरिस्टर चक्रवर्ती

हमने पिछले प्रकरण मे देखा कि 'सप्तभगी' एक विशिष्ट प्रकार की 'कसौटीमाला'—A chain of wonderful formulas—है। यह एक सिद्ध पद्धति—proved Method (केवल Proved ही नही, Approved भी) है, सिद्ध के उपरान्त स्वीकृत भी है। उसमे कुछ भी सदिग्ध नही, कुछ भी अस्पष्ट नही, कुछ भी अनिश्चित नही है।

इसका उपयोग करके एक ही वस्तु को हमने सात भिन्न-भिन्न रीतियो से पिछले प्रकरण मे जाँच लिया। उसमे घडा और फूलदान इन दो वस्तुओ को माध्यम बना कर हमने सप्तभगी का वर्णन किया था। यदि हम इस तरह सात भिन्न २ रीतियो से विचार करने लगे तो यह बात भी निश्चित है कि हमे उससे अपने रोजाना जीवन मे व्यवहार के आचरण का निर्णय करने मे भी वहुत सहायता मिल सकती है। यहाँ हम एक और दृष्टान्त का सहारा लेते है जिससे इस प्रकार मिलने वाली सहायता का हमे स्पष्ट दर्शन हो जाय।

इस हेतु से हम 'वैरिस्टर चक्रवर्ती' नामक एक कल्पित पात्र की सृष्टि करते है। यह नाम यहाँ एक कल्पित पात्र का है। यहाँ जो कुछ लिखा जा रहा है उसका किसी भी जीवित व्यक्ति के साथ, भूत, भविष्य या वर्तमान के ऐसे किसी नाम के साथ कोई सम्बन्ध नही है—इतनी स्पष्टता करके अब हम आगे बढेगे।

इन वैरिस्टर साहब मे एक विशेष प्रकार का सद्गुण है। यह गुण है उनकी उदारता।

'उदारता' आत्मा का एक गुण है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मे से आत्मा को यदि हम द्रव्य मान कर, उदारता का विचार करे तो उदारता गुण 'भाव की अपेक्षा मे आता है।' उदारता कोई द्रव्य नही है, आत्मा के स्वगुण का—स्वभाव का एक अग है।

इसके वावजूद उदाहरण के तौर पर वेरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता को हम एक 'वस्तु' मान कर चलेगे। हम यह प्रयोग सप्तभगी की व्यावहारिक उपयोगिता समझने के लिए कर रहे हे। इसके लिए हम पहला वाक्य यो वनाते हैं—'वैरिस्टर चक्रवर्ती उदार है।'

अव हम 'वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता के लिए द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की चार अपेक्षाएँ निश्चित करते हैं।

द्रव्य—वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता के लिए द्रव्य, उनके पास समय समय पर (अतिरिक्त) वचे रहने वाले पैसे अर्थात् धन रूपी द्रव्य है। जव उनके पास धन (अतिरिक्त) वचा हुआ पडा हो तव उनकी उदारता रूपी वस्तु क्रियाशील वनती है।

क्षेत्र—वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता का क्षेत्र उनकी ज्ञाति है। परन्तु इस ज्ञाति मे भी जो गरीव वर्ग है उस क्षेत्र मे ही उनकी उदारता प्रकट होती है, अन्यथा नही।

काल—वैरिस्टर चक्रवर्ती सुवह नित्यकर्म से मुक्त हो कर अपने मवक्किलो से मिलने तथा कोर्ट-सम्वन्धी कार्य की तैयारी करने मे समय विताते है। दिन के समय वे कोर्ट मे मुकदमे लड़ने मे व्यस्त रहते है। शाम को कभी-कभी क्लव मे जाकर कुछ देर व्रिज खेलते है। इस वीच कभी-कभी

दे व्हिस्की के दो चार पैग भी चढा जाते है। रविवार तथा छुट्टी के दिन वे घर पर ही रहते है। अत उनकी उदारता का काल वह समय है जब कि वे काम मे लगे हुए न हो; क्लब मे न गये हो, नशा किये हुए न हो। इस प्रकार जब वे फुरसत मे होते है तब अपनी उदारता को क्रियाशील बनाते है, अर्थात् उनकी उदारता के लिए काल की अपेक्षा है उनकी फुरसत का समय।

भाव —बैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता के लिए भाव उनका 'शिक्षा-प्रेम' है। शिक्षा के सिवा अन्य किसी क्षेत्र मे वे एक पाई भी खरचने को तैयार नही है। यहाँ तक कि यदि कोई मनुष्य भूख से मर जाता हो तो भी वे अपनी जेब मे से एक पाई भी नही निकालते। शिक्षा को छोडकर बाकी सभी विपयो मे वे बिलकुल अनुदार है। शिक्षा-सबधी सभी बाबतो मे वे छूट से पैसे खर्च करने को तैयार रहते है।

इस तरह, बैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की उपर्युक्त चार अपेक्षाएँ हुई।

सक्षेप मे—बैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता के लिए पैसे 'द्रव्य' है। उनके गरीब ज्ञातिजन 'क्षेत्र' है, उनका फुरसत का और बिना नशे का समय 'काल' है, और उनका शिक्षा-प्रेम 'भाव' है। ये चारो मिलकर उनके स्वद्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल तथा स्व-भाव रूपी स्वचतुष्टय हुए।

इसी तरह उनके पास पैसे जब बचे हुए (अतिरिक्त) न हो तब वह 'पर-द्रव्य' है। उनके गरीब ज्ञातिजनो को छोड़ कर बाकी सब लोग 'पर क्षेत्र' है, जब वे काम मे हो, या नशे मे हो वह समय 'पर-काल' है और शिक्षण को छोड़कर बाकी सब विषय 'पर-भाव' है। यह उनका पर चतुष्टय—

अर्थात् उदारता के लिए 'पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल, और पर-भाव—हुआ ।

इस तरह ऊपर दिये गये स्वचतुष्टय की अपेक्षा से वैरिस्टर चक्रवर्ती उदार है और पर-चतुष्टय की अपेक्षा से वैरिस्टर चक्रवर्ती उदार नही है । अव हम इस उदारता-रूप वस्तु को सप्तभगी के सात पदो के अनुसार परखे ।

प्रथम भंग—वैरिस्टर चक्रवर्ती उदार 'है' ।

दूसरा भग—वैरिस्टर चक्रवर्ती उदार 'नही है' ।

तीसरा भग—वैरिस्टर चक्रवर्ती उदार 'है और नही है' ।

चौथा भग—वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता 'अवक्तव्य है' ।

पाँचवा भग—वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता 'है और अवक्तव्य है' ।

छठा भग—वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता 'नही है और अवक्तव्य है' ।

सातवाँ भग.—वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता 'है नही है और अवक्तव्य है ।'

हमे यह मान कर ही चलना है कि इन सातो पदो मे हमारे पूर्व परिचित दो शव्द 'स्यात्' और 'एव' हैं ही । अत ऊपर के सातो कथन सापेक्ष और निश्चित है ।

अव हम इस वात की जाँच करेगे कि व्यवहार मे वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता उपर्युक्त सात पदो की सात अलग अलग दृष्टियो से क्या काम करती है ? इस जाँच के हेतु हम 'चतुर्भुज' तथा 'गगाधर' नामक दो सज्जनो को इस 'सप्तभगी-समारभ' मे दाखिल करते है ।

ये दोनो सज्जन वैरिस्टर साहव की उदारता का लाभ

उठाने वाले उम्मीदवार है। ये दोनो आकर पूछते है कि 'क्या बैरिस्टर साहब की उदारता का लाभ मिलेगा ?

इन दोनो सज्जनो मे से चतुर्भुज भाई बैरिस्टर साहब की ज्ञाति के सदस्य है। स्वचतुष्टय मे से एक अपेक्षा-स्वक्षेत्र की अपेक्षा को ध्यान मे लेकर हम उनसे कह देगे कि "बैरिस्टर की उदारता का लाभ आपको मिलेगा।" यहाँ प्रथम भग की अपेक्षा से निश्चित हुआ कि 'बैरिस्टर साहब उदार है।'

श्री गगाधर बैरिस्टर की ज्ञाति के सदस्य नही है। उदारता के लिए यह पर-क्षेत्र होने के कारण, इस पर-क्षेत्र की अपेक्षा से गगाधर भाई से तो हम कह देगे कि 'बैरिस्टर साहब उदार नही है।'

पहले और दूसरे भंग के अनुसार हमने जो दोनो बाते कही, उनसे पहले आये हुए चतुर्भुज भाई को आशा बन्धने के कारण वे हमारे पास बैठते है। प्रथम भग से उन्हे यह लाभ हुआ, 'आशा बँधी।' दूसरे भग से जवाब मिलने से श्री गगाधर भाई वहाँ से चले जाते है। उन्हे यह लाभ हुआ कि बैरिस्टर की उदारता उसके लिये नही ही है ऐसा निश्चित उत्तर मिलने के कारण वे झूठी आशा रख कर व्यर्थ हैरान होने से बच गये।

चतुर्भुज भाई यह जानकर खुश होते है कि 'गगाधर भाई चले गये और अब मै ही एक उम्मीदवार बाकी रहा हूँ। उन्हे ऐसी आशा बँधी है कि लाभ होगा, फिर भी अधिक निश्चित करने के लिये वे फिर से पूछते है, "बैरिस्टर साहब की उदारता का लाभ, मै उनका ज्ञातिजन हूँ, इसलिये मिलेगा

तो सही । क्या मुझे यह लाभ अवश्य मिलेगा ? क्या वैरिस्टर साहब सचमुच उदार हैं ?"

इस प्रश्न का हम क्या जवाब देंगे ? वैरिस्टर चक्रवर्ती के स्वक्षेत्र की अपेक्षा से वे चतुर्भुज भाई के लिए अवश्य ही उदार हैं । परन्तु हमे यह पता नही है कि ये सज्जन अन्य सभी अपेक्षाओ को पूर्ण करते हैं या नही । अत यदि हम उन्हे एक ही वाक्य मे स्पष्ट जवाब देना चाहे तो हम उनसे कहेगे कि—

'वैरिस्टर साहब उदार है और नही है ।'

ऐसा परस्पर विरोधी उत्तर सुनकर चतुर्भुज भाई हमसे इसका स्पष्टीकरण मागते है, तब हम उनसे कहते हैं कि वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता सर्वकाल मे सर्वक्षेत्र मे तथा सर्वभाव से कार्य नही करती, प्रकट नही होती । उसके लिये शर्तें (अपेक्षाएँ) है—स्वचतुष्टय की अपेक्षा से वे उदार है और परचतुष्टय की अपेक्षा से वे उदार नही है ।

ये चतुर्भुज भाई वैरिस्टर चक्रवर्ती की ज्ञाति के है । अत यह एक अपेक्षा पूर्ण होने के कारण वैरिस्टर साहब के यहाँ जाने का विचार करके वे हम से पूछते है—'यदि मै वैरिस्टर के पास जाऊँ तो क्या मुझे लाभ होगा ?

इस प्रश्न के उत्तर मे यदि हम एक स्पष्ट और निश्चित बात कहना चाहे तो हमारे लिए चौथे भग वाला उत्तर ही अनुकूल और यथार्थ होगा । हम तुरन्त उनसे कह देगे—"अवक्तव्यम् अर्थात् कुछ नही कहा जा सकता ?"

यहाँ हम चतुर्भुज भाई से दो बातो मे से एक भी निश्चित तौर पर नही कह सकते कि उन्हे लाभ मिलेगा या नही

मिलेगा। क्योंकि मिलना या न मिलना स्व तथा पर चतुष्टय की अपेक्षा पर निर्भर है। हम चतुर्भुज भाई को एक निश्चित एव असदिग्ध उत्तर देना चाहते है। हम यह नही जानते ये सज्जन कितनी अपेक्षाएँ पूर्ण करते हैं, और हम उन्हे अधेरे में या झूठी आशा मे भी रखना नही चाहते। अत चौथे भग के अनुसार यह निश्चित अभिप्राय हम उनके सामने प्रस्तुत करते हैं।

फिर भी चतुर्भुज भाई को यह जवाब देकर कि, 'कुछ नही कहा जा सकता' हम उन्हे निराश नही करते। वैरिस्टर साहब की उदारता से सम्बन्धित सभी अपेक्षाओ से हम उन्हे वाकिफ करते है, या अपने उत्तर के द्वारा हम उन्हे सभी शर्तो से वाकिफ होने का सकेत करते है।

अब चतुर्भुज भाई हम से कहते है,—"मै वैरिस्टर साहब की ज्ञाति का हूँ, और मुझे अपने पुत्र की शिक्षा के लिए उनकी सहायता की आवश्यकता है।"

यह बात कह कर उदारता के ये उम्मीदवार क्षेत्र के अतिरिक्त भाव की अपेक्षा भी पूर्ण करते है। इतना उनका केस मजबूत बनता है। इसलिए उन्हे वैरिस्टर साहब की उदारता का लाभ मिलना चाहिए। फिर भी हम यह नही जानते कि अन्य अपेक्षाएँ पूर्ण होती हैं या नही। अत पाँचवे भग का आश्रय लेकर हम उन्हे यो स्पष्ट उत्तर दे सकेंगे—

'वैरिस्टर साहब उदार है और अवक्तव्य है अर्थात् कुछ कहा नही जा सकता।' अर्थात् वैरिस्टर साहब उदार तो हैं ही परन्तु हम अभी तक निश्चित रूप से यह कहने की स्थिति मे नही पहुँचे हैं कि उनका लाभ चतुर्भुज भाई को मिलेगा

या नही। अत हमारा यह उत्तर बिल्कुल स्पष्ट एव यथार्थ है।

अब, चतुर्भुज भाई से अधिक बातचीत करने पर हमे पता चलता है कि उनकी स्थिति ऐसी है जिसे सामान्यतया सुखी कह सकते है। उनके कथनानुसार घर के सामान्य खर्च के लिए उनकी आमदनी पर्याप्त है, परन्तु उन्हे अपने पुत्र के कॉलेज की उच्च शिक्षा के लिए होने वाले खर्च को निभाने मे कठिनाई पडती है।

इस बात से निश्चित हो जाता है कि वे गरीब नही है। वैरिस्टर की उदारता के स्वक्षेत्र की जो अपेक्षा उनकी ज्ञाति के होने के कारण पूर्ण होती थी वह यहाँ कुछ कमजोर पड जाती है, और अन्य अपेक्षाएँ तो अभी बाकी ही है। इन सयोगो मे हम यह निश्चित धारणा बना लेते है कि उन्हे वैरिस्टर साहब की उदारता का लाभ नही मिलेगा। फिर भी उनकी सफलता–असफलता का आधार इस बात पर है कि उदारता विषयक वैरिस्टर साहब के 'स्वक्षेत्र' की अपेक्षा पूर्ण होती है, इस बात की प्रतीति उन साहब को किस प्रकार होती है। अत छठे भग का आश्रय लेकर हम चतुर्भुज भाई से कहेगे—

"वैरिस्टर साहब की उदारता नही है और अवक्तव्य है।"

अर्थात् हमे नही लगता कि चतुर्भुज भाई गरीब है। अत वैरिस्टर साहब पर-क्षेत्र की अपेक्षा से उदार नही है, जब कि उसके सिवा दूसरी अपेक्षाओ के विषय मे चित्र अस्पष्ट होने के कारण चतुर्भुज भाई उनके पास जायँ तो नतीजा क्या होगा सो हम नही जानते, उसका वर्णन नही कर सकते।

हमारा यह उत्तर चतुर्भुज भाई के सामने एक ऐसा

स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है कि परिस्थिति को देखते हुए बैरिस्टर साहब की उदारता उनके लिए नही है, फिर भी कुछ कहा नही जा सकता। इस उत्तर से चतुर्भुज भाई को एक नवीन दृष्टि मिलती है जिससे उन्हे बैरिस्टर के पास जाने और अपना अभीष्ट प्राप्त करने के लिए अपना केस ऐसे ढङ्ग से सावधानी पूर्वक पेश करने का मार्ग दर्शन प्राप्त होता है जिससे कोई गलतफहमी न हो।

यह सब समझ लेने के बाद चतुर्भुज भाई बैरिस्टर चक्रवर्ती के पास जाने के लिए खडे हो जाते है। जाते जाते वे पूछते है, "पूरी सावधानी से बात करूँ तो बैरिस्टर साहब की उदारता का लाभ क्या मुझे अवश्य मिलेगा ?"

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमे सातवे भग का सहारा लेना पडेगा। हम उन्हे झूठी आशा बँधाना नही चाहते, उन्हे निराश करना भी नही चाहते, इसके उपरान्त चतुर्भुज भाई का यह उलाहना भी सुनना नही चाहते कि 'आपने मुझे गलत राह दिखाई, मुझे परिस्थिति का स्पष्ट चित्र नही दिया।' अतएव हम उनसे कहेगे कि—

'बैरिस्टर साहब उदार है, उदार नही है, और अवक्तव्य है।' अवक्तव्य है अर्थात् कुछ नही कहा जा सकता, शब्दो मे वर्णन नही हो सकता। इस जवाब से हम बैरिस्टर साहब की उदारता के स्व-चतुष्टय तथा पर-चतुष्टय की भिन्न भिन्न अपेक्षाओ तथा इन दोनो की एकत्र अपेक्षा को ध्यान मे रख कर चतुर्भुज भाई को एक नवीन स्वतन्त्र दृष्टि देते है।

इस प्रकार हमने श्री चतुर्भुज भाई को सातो भगो की भिन्न-भिन्न दृष्टि से और भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ के अनुसार जो

सात कथन-अभिप्राय—दिये उन सबने मिलकर वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता विषयक एक सम्पूर्ण चित्र निर्माण किया।

वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता क्या है, क्या नही है, कहाँ है, कहाँ नही है, कब है, कब नही है, उसका लाभ मिल सकता है या नही, यह लाभ किसे मिल सकता है और किसे नही मिल सकता, किन परिस्थितियो मे मिल सकता है और किनमे नही, कब मिल सकता है और कब नही, आदि आदि सारे पहलुओ को स्पष्ट करने वाली सारी बाबतो का निरूपण चतुर्भुज भाई के सामने इन सातो भगो से प्राप्त भिन्न-भिन्न उत्तरो के द्वारा तथा इन सब उत्तरो के योगफल के द्वारा प्रकट हो जाता है। यहाँ हमे यह नही भूलना चाहिए कि इस प्रकार निर्मित सम्पूर्ण चित्र हमारे पूर्व परिचित 'स्यात्' शब्द के अधीन है, क्योकि यह सम्पूर्ण चित्र भी अपने प्रत्येक अगो-पाग की अपेक्षा के अधीन है। इस चित्र मे अपेक्षाभाव से एकत्व और अनेकत्व—दोनो निहित ही है।

ऊपर हमने वैरिस्टर चक्रवर्ती की उदारता का जो दृष्टात देखा उसमे कोई बाल की खाल निकालने वाला शायद इधर उधर कही कोई बाधा या उज्र खडा करे, यह बात असभव नही है। परन्तु हमे यह न भूलना चाहिए कि यहाँ हमने सप्त-भगी की व्यावहारिक उपयोगिता बताने के शुभ हेतु से एक पात्र की कल्पना द्वारा एक चित्र प्रस्तुत किया है। मुख्य प्रश्न तो इस रीति से विचार करने अर्थात् वस्तु के भिन्न भिन्न पहलुओ को जाँचने का अभ्यास करने का और इस प्रकार हमारी तुलना शक्ति को साफ और मजबूत बनाने का है। इसमे सन्देह नही कि यह उद्देश्य यहाँ पूर्णतया सुरक्षित रहा है।

इसी तरह, बैरिस्टर साहब के अदालती काम-काज में भी स्याद्वाद का उपयोग लाभदायक रीति से किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ, एक पेढी के मुनीमजी का खून हो गया है। इस केस मे हम चक्रवर्ती साहब को बचाव पक्ष के बैरिस्टर नियुक्त करते है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की चारो अपेक्षाएँ इस खून के केस पर लागू होती है।

(१) वसूली करके लौटते खून हुआ है। —द्रव्य
(२) बबई शहर में धोबी तालाब के पास खून हुआ।-क्षेत्र
(३) दोपहर के ढाई से तीन बजे के बीच खून हुआ।-काल
(४) लूटने के इरादे से खून किया गया। —भाव

अब बैरिस्टर चक्रवर्ती अभियुक्त के बचाव के लिए, ऊपर के संयोगो और तथ्यो को ध्यान मे लेकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षाओ से युक्त केस तैयार करते है।

(१) खून अभियुक्त ने नही किया है। —द्रव्य
(२) अभियुक्त धोबी तालाब के पास नही था। —क्षेत्र
(३) दोपहर के एक बजे से चार बजे तक अभियुक्त बोरीवली मे था, और इस बात के गवाह तथा प्रमाण मौजूद है। —काल
(४) अभियुक्त ऐसा व्यक्ति नही है जो खून करे। उसने अपने जीवन मे कभी खटमल या मच्छर भी नही मारा है। —भाव

उपरि निर्दिष्ट दोनों चतुष्टयो मे से मुनीमजी, जिनका खून हुआ है, के लिए जो स्वचतुष्टय है वह अभियुक्त के लिए पर

चतुष्टय वन जाता है, और अभियुक्त के लिए जो स्वचतुष्टय है वह खून के विषय मे परचतुष्टय वन जाता है।

अव जिसका खून हुआ है सो हुआ ही है। खून हुआ है यह एक तथ्य है। यह वात एक निश्चित तथ्य के रूप मे प्रस्तुत की गई है। अव प्रश्न अभियुक्त के वचाव का है। उसका वचाव वैरिस्टर चक्रवर्ती के हाथ मे है। उनके सामने फरियाद-पक्ष के सरकारी वकील है। वे दोनो मिलकर, आमने सामने खडे रह कर न्यायाधीश के सम्मुख यह केस चलाने वाले है, अपनी अपनी वात पेश करने वाले है। इस केस मे फरियाद-पक्ष तथा वचाव पक्ष की ओर से गवाह भी आएँगे। केस के समय ज्यूरी के सदस्य भी उपस्थित रहेगे।

न्याय-फैसला-करने का कार्य न्यायाधीश महोदय को करना है। इससे पहले वे ज्यूरी की राय भी प्राप्त करेगे। वे महाशय इस केस की समस्त कार्यवाही के समय अपने सदा के स्वभावानुसार तटस्थता धारण करके वैठेगे। फरियाद-पक्ष यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा कि अभियुक्त ने खून किया है। वैरिस्टर चक्रवर्ती यह सिद्ध करने के लिए कि अभियुक्त निर्दोष है, अपनी पूरी ताकत लगा देगे। इन सब मे क्या सत्य है, इस वात का निर्णय करके निष्पक्ष फैसला सुनाने का कार्य अन्त मे न्यायाधीश महोदय को करना है।

अव हम यह देखेगे कि केस की कार्रवाई के दर्मियान न्यायाधीश महोदय के सम्मुख कैसे भिन्न-भिन्न चित्र उपस्थित होते है।

(१) फरियादी पक्ष की ओर से प्रस्तुत अभियोगपत्र से यह अभिप्राय प्रकट होता है कि 'अभियुक्त दोषी है।'

(२) बैरिस्टर चक्रवर्ती का बचावपत्र पढने से दूसरा अभिप्राय सामने आता है कि 'अभियुक्त दोषी नही है।'

(३) अभियोगपत्र की अपेक्षा से तथा बचावपत्र की अपेक्षा से तटस्थ न्यायाधीश नोट करते है कि 'अभियुक्त दोषी है और नही है।'

(४) इन परिस्थितियो मे निर्णय देने का कार्य 'अवक्तव्य' है निर्णय के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता।

(५) फरियाद पक्ष के गवाहो के बयान लिए जाते है, और बैरिस्टर चक्रवर्ती उनकी जॉच Cross-examination) करते है। गवाहो के बयान देखते हुए अभियुक्त दोषी है, परन्तु जॉच को देखते हुए उसके दोषी होने का निर्णय नही दिया जा सकता। अत 'अभियुक्त दोषी है, पर निर्णय के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता।

(६) बचाव पक्ष के गवाहो के बयान लिये जाते है, और सरकारी वकील उनकी जॉच (Cross-examination) करते है। इन गवाहो के बयान देखते हुए अभियुक्त दोषी नही है, परन्तु जॉच को देखते हुए उसके दोषी नही होने का निर्णय नही दिया जा सकता। अतः 'अभियुक्त दोषी नही है, परन्तु निर्णय के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता।'

(७) फरियाद पक्ष का केस, सगीन ढग से पेश हुआ है, बचाव पक्ष की ओर से भी अभियुक्तो के हित

मे इसी तरह सगीन प्रतिपादन हुआ है, परन्तु ज्यूरी का निर्णय आना अभी बाकी है। इसलिए निर्णय के विषय मे न्यायाधीश साहब ने आखिरी फैसला नही किया है। अत 'अभियुक्त दोषी है, 'अभियुक्त दोषी नही है, और निर्णय के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता।

ये सातो भिन्न भिन्न दृष्टिकोण आदरणीय न्यायाधीश के सामने पेश हुए है, नोट किये गये हे। ये सातो मिलकर जो एक सपूर्ण चित्र प्रस्तुत करते है, वह अब उनके सामने है। प्रत्येक अभिप्राय को पृथक् पृथक् और सातो को एकत्रित करके आदरणीय न्यायाधीश केस के विषय मे अपनी बात ज्यूरी के सदस्यो के सामने पेश करते है। न्यायाधीश महोदय ज्यूरी का मार्गदर्शन अवश्य करते है, परन्तु निर्णय नही देते। यह बात समझने योग्य है। न्यायाधीश को जो फैसला करना है, जो निर्णय देना है, उसके विषय मे वे पहले से कोई निश्चय नही कर लेते। ज्यूरी का निर्णय आने के बाद ही वे अपना क्या मतव्य या अभिप्राय है सो सोचेगे और उसके बाद ही निर्णय देगे।

अब, ज्यूरी के सदस्य एक अलग कमरे मे जाकर सारे केस पर विचार करते है, परस्पर विचारविनिमय करते है। बैरिस्टर चक्रवर्ती ने अपना केस स्याद्वाद शैली को ध्यान मे रखकर तथा स्थापित कायदे-कानून अच्छी तरह समझ-समझा कर पेश किया है। वे ज्यूरी के सदस्यो पर इस तरह का दृढ प्रभाव डाल सके है कि क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षाएँ देखते हुए अभियुक्त निर्दोष ही है। जिस स्थान पर खून हुआ

है वहाँ अभियुक्त था ही नहीं, और जिस समय खून हुआ बताया जाता है उस समय वह धोबी तालाब पर नहीं पर बोरीवली मे था—इस तरह के सगीन और विश्वास-पात्र प्रमाण उन्होंने कोर्ट में पेश किये है। यह सब देख कर, पर्याप्त सोच विचार करने के बाद ज्यूरी यह निर्णय (Verdict) देती है कि 'अभियुक्त निर्दोष है।' न्यायाधीश महोदय को पर्याप्त सोच विचार के बाद प्रतीत होता है कि यह निर्णय उचित है और इसीलिए वे भी अपना यह फैसला (Judgement) सुना देते है कि 'अभियुक्त निर्दोष है और उसे छोड दिया जाता है।'

'अभियुक्त मुक्त हो जाता है, बैरिस्टर चक्रवर्ती को सफलता मिलती है। यह स्याद्वाद पद्धति की विजय है।

इस सारे केस मे हमने देखा कि न्यायाधीश महोदय बिल्कुल निष्पक्ष, तटस्थ, तथा अपने पद के गौरव के प्रति सचेत रहे हैं। उनमे मध्यस्थ वृत्ति, अति निपुण बुद्धि और विवेकपूर्ण-गांभीर्य-सभी गुण थे जो स्याद्वाद सिद्धान्त का सफल अनुसरण करने के लिए आवश्यक हैं। इसीलिए वे न्याययुक्त निर्णय दे सके। जैन तत्ववेत्ताओ ने स्याद्वाद को समझने के लिये इन गुणों की विशेष आवश्यकता मानी है।

पहले कहा जा चुका है कि स्याद्वाद सत्य और न्याय का पक्षपाती है। उपर्युक्त केस मे बैरिस्टर चक्रवर्ती ने अभियुक्त का बचाव स्याद्वाद शैली मे प्रस्तुत किया था, यह सच है। परन्तु इस तरह प्रस्तुत करने में उन्होंने ऐकान्तिक कथन किया होता तो वह स्याद्वाद-शैली न कहलाती। इसी तरह माननीय न्यायाधीश महोदय ने जो निर्णय दिया उसमे स्याद्वाद की

पद्धति तथा अनेकान्तवाद विपयक पूर्ण जानकारी ने काफी महत्त्व का भाग लिया है। पूरे दृष्टान्त से यह वात सिद्ध होती है।

जैन शास्त्रकारो ने अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद को एक असाधारण ज्ञान-तत्त्वविज्ञान-माना है। यह एक अत्यन्त गभीर विपय है। उन्होने इस विषय का ज्ञान जिस तिस के सामने खोलने का निपेध किया है। उन्होने यह शर्त रखी है कि 'जिनकी बुद्धि की ग्रहणशक्ति अतिशय उच्च कोटि की हो, जो पूर्वग्रह से पूर्णतया मुक्त हो, सम्पूर्ण तटस्थता धारण करने वाले हो' मुमुक्षु-भाव से ज्ञान-प्राप्ति के लिए ही इस तत्त्वविज्ञान को समझना चाहते हो तथा जीवन एव जीवन के ध्येय के प्रति पूर्णतया जाग्रत तथा गभीर हो, ऐसे विशिष्ट कोटि के विवेकी जिज्ञासुओ को ही इस विपय का ज्ञान दिया जाय।

जैन तत्त्ववेत्ता अनेकान्तवाद के अध्ययन तथा पठनपाठन के सम्वन्ध मे शताव्दियो से इस शर्त का पालन करते आये है। सवको यह ज्ञान देने के सम्वन्ध मे, इस निपेध के कारण ही, उन्हे सकोच अनुभव होता रहा है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि इस अद्भुत तत्त्वविज्ञान को अन्य ऐकान्तिक मतमतान्तरो जितनी ख्याति प्राप्त नही हुई।

आज हम बुद्धिवाद के युग मे जी रहे है, ऐसा दावा किया जाता है। जीवन के भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे पहले जो सन्तोप विद्यमान था, अब उसका स्थान असन्तोष ने ले लिया है। जो कुछ ज्ञात है उतने से सन्तोष मानकर वैठ रहने को आज की दुनिया तैयार नही है। अव नया नया जानने और समझने की भूख खुलने लगी है।

स्याद्वाद सिद्धान्त को जिज्ञासुओ के खुले वाजार मे रखने

का समय अब आने लगा है। अब इस सिद्धान्त का प्रचार करने का—बडे पैमाने पर और जोर शोर से प्रचार करने का समय आ पहुँचा है। यदि कहा जाय कि आज इस सिद्धान्त को समझने की जितनी आवश्यकता है उतनी पहले कभी नही थी, तो अतिशयोक्ति न होगी। थोडा सा खतरा लेकर भी इस उपकारक और दुर्लभ तत्त्व-विज्ञान का पूरी शक्ति से प्रचार किया जाना चाहिये।

तत्त्वज्ञान के उच्च तथा कठिन क्षेत्र से लेकर, विचारमूलक भूमिका से लेकर आचार मूलक प्रदेश तक की सभी परिस्थितियो मे अनेकान्त तत्त्वज्ञान की जानकारी अत्यन्त उपयोगी हो सकती है।

इस ज्ञान का विवेक पूर्वक उपयोग करने वालो के लिए इसमे लाभ और कल्याण कूट कूट कर भरा पडा है।

इस पुस्तक मे अब तक जो कुछ लिखा गया है उसे पढने पर पाठक के मन मे जैन धर्म तथा जैन तत्त्वज्ञान के प्रति अवश्य आदर पैदा होगा—इस विषय की और भी अनेक महत्त्व की बातो के सम्बन्ध मे जिज्ञासा भी अवश्य उत्पन्न होगी।

अत इसके बाद के पृष्ठो मे हम कुछ उपयोगी ज्ञान का निरूपण करेगे।

पाँच ज्ञान

प्राथमिक भूमिका पर यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि ज्ञान किसे कहा जाय? ज्ञान पिपासा ज्ञान प्राप्त करने की पिपासा—जिज्ञासा, उसके लिए की जाने वाली खोज और परिश्रम आदि आज के युग मे एक सामान्य प्रश्न बन गया है।

लोग व्याख्यान सुनते है, पुस्तके पढते हैं, और चर्चा—मत्रणा भी करते है। इस भौतिक जगत मे ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र इच्छा मुख्यत सुख प्राप्ति के हेतु से उद्भूत दिखाई देती है।

तरह तरह के और भाँति भाँति के विषयो के बारे मे नया नया ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा ने आज मानव-मन पर अधिकार जमा लिया मालूम होता है। यह एक शुभ चिह्न है।

परन्तु हम जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए परिश्रम करे उसके यथार्थ स्वरूप को ही न जानते हो तो हमे क्या मिलेगा? जो मिला सो जिसे हम खोजते थे वही है या और कुछ, यह किस तरह निश्चित किया जा सकता है।

जैन तत्त्ववेत्ताओ ने मोक्ष (मुक्ति) प्राप्त करने के लिए एक सूत्र दिया है,—ज्ञानक्रियाभ्या मोक्षः। इसका अर्थ है—'ज्ञान और क्रिया के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।' यहाँ ज्ञान और क्रिया को एकत्र करके अधिक स्पष्ट अर्थ भी निकाला जा सकता है कि 'ज्ञानपूर्वक क्रिया करने से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।'

इस वाक्य मे 'मोक्ष' शब्द के स्थान पर हम प्राप्त करने

की किसी भी वस्तु का नाम रखे तो भी उसमे 'ज्ञान' और 'क्रिया' ये दो शब्द तो हमे रखने ही होगे। 'ज्ञान' 'क्रिया' ये दो सनातन शब्द है। इन दोनो के विषय मे हम 'अनादि-अनन्त अथवा शाश्वत युगल'—ऐसे शब्दो का प्रयोग भी कर सकते है।

ससार मे पुरुष और स्त्री को एक रथ के दो पहिये माना गया है। ये दोनों पहिये अखडित हो दोनो मे सुमेल हो, तभी यह रथ व्यवस्थित गति कर सकता है। परन्तु ज्ञान और क्रिया की जोडी तो इतनी महत्त्वपूर्ण, इतनी अधिक आवश्यक है इन दोनो के साथ स्त्री-पुरुष की जोडी की तुलना तो विराट के सामने वामन के समान है।

कोई भी कार्य हो, फिर चाहे वह भौतिक क्षेत्र का छोटे से छोटा, या बडे से बडा कार्य हो चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र का, आत्मा की मोक्ष प्राप्ति के लिए कठिन से कठिन कार्य हो, ज्ञान और क्रिया की इस अपूर्व जोडी के सहयोग के बिना सिद्ध नही हो सकता।

श्रद्धा और बुद्धि के सहयोग का जो महत्त्व है उससे कई गुना अधिक महत्त्व ज्ञान क्रिया रूपी युगल का है। इन दोनो को अलग कर दीजिए तो कुछ भी कार्य नही हो सकेगा। यह एक अविभाज्य युगल—Inseparable couple—है। यदि ज्ञान अकेला पड जाय तो वह कजूस के धन की तरह निरर्थक—वन्ध्य हो जाता है। ज्ञान से विलग हुई क्रिया भी इसी तरह वन्ध्या—Unproductive—और निरर्थक Useless बन जाती है।

बाल (अबोध) जीवो के लिए जैन तत्त्वविशारदो ने ज्ञान

और क्रिया की एक अत्यन्त सरल और सुन्दर व्याख्या दी है। "अमुक कार्य करने योग्य है ऐसी समझ सो ज्ञान और उस कार्य को अमल मे लाना सो क्रिया।"

उदाहरण के तौर पर 'असत्य बोलना पाप है' यह समझना 'ज्ञान' है और 'असत्य बोलने का त्याग करना' 'क्रिया' है। इसी तरह 'सच बोलना धर्म है' यह समझना 'ज्ञान' है और 'सच ही बोलना' 'क्रिया' है। अब यहाँ हम तुरन्त ही समझ सकते है कि 'हमेशा सत्य ही बोलना चाहिए, असत्य कभी न बोलना चाहिए' ऐसी समझ-रूपी जो ज्ञान है उसका यदि क्रिया रूपी अमल न किया जाय तो ऐसी समझ—ऐसे ज्ञान से क्या अर्थ निकलेगा? अर्थात् इस ज्ञान के क्रिया रूपी अमल के बिना ज्ञान से कोई लाभ नही हो सकता।

इसी तरह, क्या धर्म है, क्या करने योग्य है और क्या छोडने योग्य है, इन से सम्बन्धित ज्ञान से रहित कोई भी क्रिया हम करे तो वह भी अर्थहीन और कभी कभी तो अनर्थ कारक भी हो सकती है। इन दोनो के सुमेल के बिना हम कोई प्रगति नही कर सकते।

एक सीधा सादा दृष्टान्त ले। हम एक कारखाना खोल कर उसमे 'हवाई जहाज' बनाना चाहते है। हवाई जहाज सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान एव उसे बनाने की क्रिया—Technical knowledge and processing—इन दोनो के सुमेल के बिना हम हवाई जहाज की पूँछ (Tail) भी नही बना सकेगे।

घर मे रसोई करते समय भिन्न भिन्न खाद्य वस्तुएँ बनाने का ज्ञान और उसके लिए आवश्यक मेहनत—क्रिया—इन दोनो मे सुमेल होगा तभी रुचिकर भोजन तैयार हो सकेगा।

इस तरह इस दुनियाँ मे कुछ भी प्राप्त करना हो, सिद्ध करना हो, फिर चाहे वह आध्यात्मिक क्षेत्र मे हो चाहे भौतिक क्षेत्र मे, ज्ञान और क्रिया के सयोग के विना कुछ नही वन सकता।

'ज्ञान क्रियाभ्याम्' यह एक दिव्य सूत्र (Heavenly Slogan) है। इसके पीछे प्राप्त करने योग कोई भी दूसरा शब्द रख सकते है। दूसरे शब्द रखने के लिए केवल इतनी ही शर्त है कि वह शब्द प्राप्त करने के पदार्थ का या हेतु का सूचक (Objective) होना चाहिए। 'ज्ञान और क्रिया के द्वारा पर्वतारोहण' ऐसा हम कह सकते है, 'ज्ञान और क्रिया के द्वारा पर्वत' ऐसा नही कहा जा सकता।

यह सूत्र सर्व स्थान पर, सर्व काल मे, प्राप्त करने के विषय वाली सर्व वस्तुओ के लिए प्रयोग करने योग्य—Universally applicable—सर्व देशीय सूत्र है। निस्सदेह इस कथन को भी सापेक्ष—अन्य अपेक्षाओ के अधीन समझना चाहिए।

मजा तो तव आएगा जव हम इस शब्दावलि के वाद 'ज्ञान' शब्द रखे।

ज्ञानक्रियाभ्या ज्ञानम् "ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी ज्ञान और क्रिया की आवश्यकता है" अथवा "ज्ञान पूर्वक की गई क्रिया के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।"

यह वात भली भाँति समझने योग्य है। यहाँ हम ज्ञान के दो विभाग करते है, एक तो 'वह ज्ञान जो प्राप्त करना है,' और दूसरा 'उसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक ज्ञान।' इनसे पहला 'साध्य' है और दूसरा 'साधन' है।

ववई से टोकियो जाना हो तो हमे टोकियो जाने के रास्तो का ज्ञान होना चाहिए। हर किसी गाडी, नौका या हवाई जहाज मे चढ बैठने से टोकियो नही जाया जा सकता। यहाँ हम पहले निश्चय करते है कि हमे टोकियो जाना है। फिर वहाँ पहुँचने के मार्ग ढूँढते है। अनुकूलता एव आवश्यकता के अनुसार द्रव्य और काल के सयोगो के अनुसार हम नौका मार्ग या विमान मार्ग निश्चित करते है और तब टोकियो पहुँचने के लिए आवश्यक ज्ञान के अनुसार क्रिया करते हैं।

हम समुद्र के दर्शन करना चाहते हैं। इसके लिए हम ऐसे स्थान को पसन्द करते है जहाँ समुद्र हो, समुद्र तट हो। ऐसा करने के वदले यदि हम गीर के जगलो मे या हिमालय की पर्वत माला मे भटकना शुरु करे तो क्या हमे समुद्र के दर्शन होगे?

'ज्ञानक्रियाभ्या ज्ञानम्' जब हम यह वाक्य कहते है तब उससे निम्नलिखित बाते निश्चित होती है—

(१) हमे ज्ञान प्राप्त करना है।

(२) जो ज्ञान हम प्राप्त करना चाहते हैं उसे पाने के मार्ग रूपी ज्ञान यदि हमारे पास न हो तो वह ज्ञान हमे नही मिल सकता। ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग की जानकारी भी एक 'ज्ञान' ही है, अतः 'हमे ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग का ज्ञान भी प्राप्त करना है।'

(३) ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर के, इस ज्ञान के अनुसार हमे क्रिया करनी है, इसके लिए हमे कार्यवद्ध—क्रियाशील बनना है।

अब, यहाँ स्वभावत कुछ प्रश्न उपस्थित होते है।

(१) ज्ञान-प्राप्ति के पीछे हमारा हेतु।

(२) उस हेतु की पवित्रता, निर्दोषता और विशुद्धता।

(३) जो ज्ञान हम प्राप्त करना चाहते है, क्या उससे हमारा हेतु सिद्ध होगा।

हम एक पवित्र, निर्दोष और विशुद्ध हेतु—ध्येय—निश्चित करके उसके लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने का उद्यम शुरु करे, इसके पूर्व इस बात को स्पष्टतया समझ लेना आवश्यक है कि 'वह ज्ञान हमे अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त करने मे उपयोगी होगा या नहीं, क्योंकि यदि हम यह बात निश्चित किये बिना, ठीक तरह से समझे बिना काम करने लग जाएँ तो हम हैरान ही होते रहेगे, ज्ञान के बदले भ्रम को ही लिए घूमा करेगे।

इसका कारण यह है कि 'अज्ञान' भी एक प्रकार का 'ज्ञान' है, 'झूठा ज्ञान' भी एक प्रकार का 'ज्ञान' है।

'मैं अज्ञान हू' यह बात जो मनुष्य जानता हो उसे तो आज के युग मे एक 'महा ज्ञानी' समझना चाहिए। यह जानना भी कि 'मैं अज्ञान हूँ' एक प्रकार का ज्ञान है।

प्राचीन तत्ववेत्ता सुकरात (Socrates) के विषय मे एक बात प्रचलित है। कुछ लोगो ने यह आकाश वाणी सुनी कि 'इस युग मे आज सब से अधिक चतुर तथा बुद्धिमान व्यक्ति सुकरात है।' यह सुन कर वे लोग सुकरात के पास गये। सुनी हुई आकाश वाणी उसे सुना कर उन्होने पूछा—'क्या यह सच है?'

सुकरात ने कुछ देर सोच विचार कर जो उत्तर दिया

वह बहुत ही सोचने और समझने योग्य है। उसने कहा, 'हा यह सच है, क्योकि मै यह बात अच्छी तरह जानता हूँ कि मै कुछ भी नही जानता।

इस तरह जो मनुष्य यह बात अच्छी तरह जानता है कि 'मै अज्ञानी हूँ' उसके पास एक 'महा-ज्ञान' है, क्योकि इससे उसकी जिज्ञासा—ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा—जीवित और ज्वलत बनी रहती है।

परन्तु इस जिज्ञासा की तृप्ती के मार्ग मे एक बडी मुसीबत आ-उपस्थित होती है। इसका कारण है इस दुनिया मे मिथ्या (झूठे) ज्ञान का अस्तित्व।

इसीलिये जिस मनुष्य को ज्ञान प्रात करने की इच्छा हो उसे सर्वप्रथम तो उसे यह ढूंढ निकालना चाहिए कि सच्चा (सम्यक्) ज्ञान क्या है। इसके लिए भी पहले ज्ञान चाहिए, पीछे क्रिया। क्रिया अर्थात् प्रयत्न।

सच्चे और झूठे ज्ञान की समझ को हम 'सरासर का विवेक' इस नाम से पहचान कर प्रारम्भ करे। यह समझ कहा से आ सकती है ? किस तरह आ सकती है।

इसके लिए हमे सबसे पहले 'अहभाव' पर काबू प्राप्त करना होगा। जब तक हम इस 'लाग' से मुक्त नही होगे कि 'मै सब कुछ जानता हूँ, मे जो जानता हूँ वही सच है,' तब तक हम आगे नही बढ सकते।

व्यर्थ ही नही कहा गया है कि 'गुरु बिना ज्ञान नही।' सबसे पहले शिष्य बनना पड़ता है। कोरी पट्टी लेकर स्कूल जाना होता है।

आज तो, लगभग जहाँ देखे वहाँ सब 'गुरु ही नजर आते

है । दूसरो को सलाह और शिक्षा (ये ज्ञान के ही स्वरूप है) देने को सब कोई तैयार और उत्सुक है, लेने को कोई राजी नही है ।

और, जो शिष्य आते है उनमे से अधिकांश 'शिष्य भाव से नही, अपितु 'गुरुभाव' से आते है । ये लोग जो कुछ कहे अथवा माने उसे हम सही कहे Confirm (स्वीकार) करे तो तब तक ये लोग हमे गुरु मानने की कृपा करते है । ज्योही हम उनसे कहे कि 'तुम्हारा खयाल गलत है' उसी क्षण से हम उनके 'गुरु' मिट जाएँगे । मुँह पर भले कुछ न कहे, पीठ पीछे निंदा शुरु कर देगे । यह अहभाव का प्रताप है ।

एक सज्जन स्वय को अत्यन्त विनम्र और अहभाव से युक्त मानते है । वे बात बात मे ऐसा करते फिरते है, 'मुझमें अहभाव नही है ।' जो भी कोई उनसे मिलते है, उन सबको वे अहभाव छोड देने का उपदेश दिया करते है ।

एक बार इन साहब से कहा गया,"आप मे अहभाव कूट-कूट कर भरा है ।" "क्या ?" एकदम आँखे फाडकर ये साहब प्रश्न पूछते हैं ।

यदि इनकी फैली हुई आँखो मे विस्मय दिखाई दे तो कोई बात नही । परन्तु इनमे तो क्रोध की भडक दिखाई देती है । ज्यो ही उनसे कहा जाता है कि 'आप स्वय को जैसा मानते है वैसे नही है' त्योही उन्हे क्रोध आ जाता है और आखे लाल हो जाती है ।

आज जगह-जगह यही देखने को मिलता है । अब हम अपनी मूल बात पर वापस आते हैं ।

ज्ञान-प्राप्ति के हेतु निश्चित करने के बाद जब तक हम यह

निश्चित न कर ले कि यह ज्ञान प्राप्त करने का मार्ग हमें अभीष्ट ध्येय तक पहुँचा सकेगा या नही, तथा यह ज्ञान सच्चा है या झूठा; तब तक हम एक कदम भी नही उठा सकते। परन्तु यह निश्चित करने का कार्य सरल नही है, अत्यन्त कठिन है।

जहाँ निगाह डाले वही लोग ज्ञान की दूकान लगा कर बैठे दिखाई देते है। सब जगह ऐसे बोर्ड लटकते हुए दिखाई देते है, कि "यहाँ आइए, हमारे पास ही सच्चा ज्ञान है, और सब जगह झूठा है।" कहाँ जायँ ? किसके पास जायँ ?

ऊपर बताई गई परिस्थितियो के कारण ही 'सुदेव,'सुगुरु और 'सुधर्म' ये तीन शब्द आवश्यक बने है।

कोट सिलाने के लिये हम 'अच्छा दर्जी' खोजते है। परन्तु यदि कपडा अच्छी किस्म का न हो तो 'अच्छा दर्जी' कहाँ तक मदद कर सकता है ? यदि हम टाट का टुकडा लेकर दर्जी के पास जायँ और उससे कहे कि 'कोट सी दो' तो वह क्या जवाब देगा? इसी तरह यदि हम बढिया कपडा लेकर किसी मोची के पास जाकर कहे कि 'कोट बना दो' तो क्या होगा ?

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि हम अपनी जिज्ञासावृत्ति को निर्मल, अहभाव-रहित न बनावे तो देव गुरु, धर्म हमारी कितनी सहायता कर सकेगे ? खास कर जब कि जगह जगह पर ऐसे बोर्ड पढने को मिलते है कि, "सुदेव, सुगुरु और सुधर्म केवल हमारे ही पास हैं" तब इनमे 'सु' कौन और 'कु' कौन, यह कैसे निश्चय किया जाय ?

एक लोकोक्ति है कि "खुशामद खुदा को भी प्यारी है।" मनुष्य की सारी तेजस्विता खुशामद के आगे गौण बन जाती है। जो लोग हमसे बार बार कहते है कि 'आप बहुत भले

आदमी है' उन्हे हम भले मानते है। हमारी प्रशसा करने वाले हमे अच्छे लगते है। उसी तरह 'आप धर्म प्रिय है' आप धर्मानुरागी है, आप मे उच्च कोटि की योग्यता है' ऐसा कहने वाले गुरु भी हमे पसन्द आ जाते है। और तब ये गुरु हमे जो मार्ग बताते है, वह मार्ग भी हमे अच्छा और सच्चा प्रतीत होता है।

इस बात पर से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि हमे खुशामद प्रियता और अहभाव छोड़ कर ही सुदेव, सुगुरु, सुधर्म तथा सच्चे (सम्यक्) ज्ञान की खोज मे निकलना चाहिए।

यदि हम स्याद्‌वाद सिद्धान्त से सुसज्जित अनेकातवाद को समझने का प्रयत्न करेगे तो हमे यह समझने मे बडी सहायता मिलेगी कि सच्चा ज्ञान क्या है और उसे प्राप्त करने का सही मार्ग कौनसा है। ज्ञान के विषय मे यह तत्त्वज्ञान क्या कहता है सो देखे .—

जैन तत्त्ववेत्ताओ ने ज्ञान को दो विभागो मे बाँटा है—

(१) सम्यक् (अर्थात् सच्चा) ज्ञान।

(२) मिथ्या (अर्थात् झूठा) ज्ञान।

उन्होने सम्यक् ज्ञान के पाँच भेद बताये है—

(१) मतिज्ञान

(२) श्रुतज्ञान

(३) अवधिज्ञान

(४) मन पर्यवज्ञान

(५) केवलज्ञान

मिथ्या ज्ञान के उन्होने तीन भेद बताये है—

(१) मति अज्ञान
(२) श्रुत अज्ञान
(३) विभग ज्ञान

इस अज्ञान को विपरीत ज्ञान भी कहते है।

सम्यक् और मिथ्या ज्ञान के अन्य भेद तो अनेक है। हमे सच्चे ज्ञान मे काम है, अत हम सम्यक् ज्ञान के पाँच मुख्य प्रकारो की जाँच करते है।

१—**मतिज्ञान**—जो ज्ञान हमे इन्द्रियो के द्वारा तथा मन के द्वारा प्राप्त होता है, हो सकता है, उसे मतिज्ञान कहते है।

२—**श्रुतज्ञान**—जो ज्ञान शब्द के आधार पर मन के द्वारा प्राप्त होता है उसे श्रुतज्ञान कहते है।

३—**अवधिज्ञान**—इद्रियाँ और मन आदि किसी भी माध्यम की सहायता के बिना ही, द्रव्य, क्षेत्र, और काल की अपेक्षाओ की सीमा मे रूपी (साकार) पदार्थो का जो ज्ञान, आत्मा को साक्षात् होता है उसे अवधिज्ञान कहते है।

४—**मन पर्यवज्ञान**—जो ज्ञान अढाई द्वीपो मे रहे हुए सज्ञि पचेन्द्रिय जीवो के मन को साक्षात् दिखाता है वह मन पर्यवज्ञान कहलाता है। इसमे भी इन्द्रियो की तथा मन की सहायता की आवश्यकता नही है। सरल अर्थ मे इन्द्रियो की तथा मन की सहायता के बिना ही मनोद्रव्य का अर्थात् दूसरो के मन मे रही हुई और भरी हुई बातो का जो ज्ञान आत्मा को साक्षात् होता है वह मन पर्यवज्ञान है।

५—**केवलज्ञान**—इन्द्रियो की तथा मन की सहायता के बिना

हो, रूपी अरूपी (साकार और निराकार) सूक्ष्म और स्थूल आदि सर्वकाल के सर्व पदार्थो का सर्वदर्शी तथा सम्पूर्ण ज्ञान जब प्राप्त होता है तब उसे केवलज्ञान कहते है। यह पूर्ण-पूर्ण ज्ञान है, और जिन्हे इनकी प्राप्ति होती है उन्हे 'सर्वज्ञ' अथवा 'केवली' कहते है।

केवलज्ञान को अग्रेजी मे 'omniscience' कहते है। जिन्हे यह ज्ञान प्राप्त हुआ हो उन्हे अग्रेजी मे 'omniscient' कहते है। आत्मा का पूर्ण ज्ञान-रूपी जो 'स्व-स्वरूप' है, वह इसमे सपूर्णतया प्रकट होता है। यह सिर्फ 'आत्मज्ञान' नही है, वल्कि समग्र वह्माड तथा उसकी समस्त रचनाओ को अपने मे समाने वाला पूर्ण पूर्ण ज्ञान है।

इन पाँच मे से प्रथम दो ज्ञान—'मति' और 'श्रुत' परोक्ष ज्ञान है, क्योकि इनमे इन्द्रियाँ तथा मन रूपी माध्यम—Medium आवश्यक होता है। अन्तिम तीन 'अवधि, मन.-पर्यव और केवलज्ञान' प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते है, क्योकि किसी भी प्रकार के माध्यम के विना ये ज्ञान स्वय आत्मा को साक्षात्—प्रत्यक्ष—प्राप्त होते है।

पहले हमने चार प्रमाणो पर विचार करते समय इन्द्रियो के द्वारा तथा मन के द्वारा होने वाले वोध को 'प्रत्यक्ष' प्रमाण बताया था। यहाँ यह वताया गया है कि मति और श्रुत ये दोनो ज्ञान इन्द्रियो की तथा मन की सहायता से होते है। फिर भी यहाँ हम इन्हे 'परोक्ष-ज्ञान' कहते है। यह जो भेद—विरोधी कथन—मालूम होता है, उसका कारण यह है कि व्यावहारिक और आध्यात्मिक वातो मे भेद है। इन्द्रियो से होने वाले ज्ञान को हम व्यवहार मे परोक्ष कहने के वदले

प्रत्यक्ष कहते है। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र मे, उच्च भूमिका पर, परिस्थिति बदल जाती है। व्यवहार मे हमे केवल इन्द्रियो तथा मन का आश्रय लेकर ही चलना होता है। आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र मे इन्द्रियो को तथा मन को अलग रख कर, उन पर सपूर्ण अधिकार प्राप्त कर के, आत्मतत्त्व के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने की बात आती है।

इसलिए जैन तत्त्ववेत्ताओ ने एक ओर इन्द्रिया और मन तथा दूसरी ओर आत्मा, इन दो भिन्न भिन्न अपेक्षाओ से प्रत्यक्ष प्रमाण के दो विभाग बनाये है, जिन्हे वे 'साव्यवहारिक प्रत्यक्ष' और 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहते हैं। इन्द्रियो म और मन से होने वाला ज्ञान आध्यात्मिक क्षेत्र में 'परोक्ष' माना गया है, परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र मे उसे प्रत्यक्ष अर्थात् 'साव्यवहारिक प्रत्यक्ष' माना गया है, जब कि आध्यात्मिक क्षेत्र मे जिसे 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहते है उसे 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' माना गया है। जो ज्ञान इन्द्रियो की तथा मन की सहायता के विना प्रकट होता है, प्राप्त होता है, वही सच्चा प्रत्यक्ष ज्ञान है, क्योकि यह आत्मा का अपना सहज गुण है और जब इन्द्रियाँ तथा मन इत्यादि माध्यम की सहायता के विना ही यह ज्ञान आत्मा मे साक्षात् (प्रकट) होता है तब यह ज्ञान ही सच्चा प्रत्यक्ष प्रमाण बनता है। प्रमाण-शास्त्र मे इसे 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहते है।

इस अर्थ मे, मति और श्रुत ये दोनो 'परोक्षज्ञान' है।

यहाँ हमने 'अवधि, मन.पर्यव तथा केवलज्ञान' को प्रत्यक्ष ज्ञान माना है। परन्तु इसमे भी दो विभाग है। अवधिज्ञान तथा मन.पर्यवज्ञान को 'देश प्रत्यक्ष' अथवा 'अश प्रत्यक्ष'

कहते है। केवलज्ञान को 'सकल प्रत्यक्ष' अथवा 'पूर्ण प्रत्यक्ष' कहते है।

केवलज्ञान 'रूपी, अरूपी, स्थूल, सूक्ष्म इत्यादि सब पदार्थो को सर्व-द्रव्य को, सर्वकाल में और सर्व पर्यायो से जानता है, अत उसे 'सकल प्रत्यक्ष' कहा है।

अवधिज्ञान और मन पर्यवज्ञान सर्व पदार्थो को और सर्व पर्यायो को नही जानते। केवलज्ञान की तुलना मे ये दोनों ज्ञान अपूर्ण है। इसलिए उन्हे 'देश प्रत्यक्ष' अर्थात् 'मर्यादित प्रत्यक्ष' कहा है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि ये दोनो ज्ञान कम निर्मल या कम महत्त्व के है। मति और श्रुतज्ञान की तुलना मे अवधि और मन पर्यवज्ञान, ज्ञान की बहुत ऊँची स्थिति बताते है।

आजकल जिसे 'आत्मसाक्षात्कार जीवन्मुक्त', आदि शब्दो से अभिहित किया जाता है, वह स्थिति तो प्राय 'मतिज्ञान की अवस्था' है। मन की शक्तियो का विकास करके अमुक निश्चित विकास सोचा जा सकता है, उससे विलक्षण परिणाम प्राप्त किये जा सकते है। इस प्रकार से मानसिक शक्ति का जो विकास होता है, उससे प्राप्त किसी किसी अनुभव को कई लोग 'आत्म-साक्षात्कार' मानते है, परन्तु वस्तुत यह मतिज्ञान की अवस्था है, अत आध्यात्मिक विकास की तो यह केवल एक प्राथमिक भूमि का ही है। इसमे मिथ्या-ज्ञान को भी अवकाश है।

मनुष्य का मन एक विराट विषय है। मन की शक्ति असीम है। मन पर काबू और नियन्त्रण करके बहुत बहुत जाना और समझा जा सकता है। मन के अपनी आँखें, अपने

कान, अपनी नाक, अपना जीभ और अपनी त्वचा होती है। यह सब कुछ सूक्ष्म होता है, अर्थात् इन्द्रियगम्य नही है। एकाग्रता प्राप्त करने के जो भिन्न भिन्न मार्ग है, जैसे अलग अलग योग भक्ति आदि उनसे मन की शक्ति का असीम विकास किया जा सकता है। मन चर्म-चक्षुओ की सहायता के बिना आकार तथा स्वरूप को जान सकता है। मन कान की सहायता के बिना दूर दूर की बातचीत सुन सकता है। मन गन्ध और स्पर्श भी सबन्धित इन्द्रियो की सहायता के बिना अनुभव कर सकता है। अन्य मनुष्यो के मन मे चल रहे विचारो को भी मन पढ सकता है।

मन की अद्‌भुत शक्ति का विकास करने वाला मनुष्य कभी कभी इस विश्व मे आसानी से 'महात्मा' बन जाता है। ऐसे शक्तिशाली महानुभाव के इर्द गिर्द भक्त-मडल भी बडी तेजी से इकट्ठा हो जाता है। सामान्य जन-समूह की सासारिक सुखो की कामना ऐसे महात्माओ के आत्म-विकास का मार्ग अवरुद्ध कर बैठ जाय तो इसमे आश्चर्य ही क्या? अपनी प्राप्त की हुई सिद्धियो के विषय मे अहभाव-जनित भ्रान्ति के कारण ऐसे महात्मा भी कभी कभी 'धर्म प्रवर्तक' से लेकर 'स्वयशभु, स्वयसिद्ध, हाजर इमाम और भगवान' तक के बिरुदो मे भटक जाते है। जो लोग इस भ्रान्ति मे नही भटक जाते, भटके हो तो बाहर निकलते है और मन को छोड कर जो लोग शुद्ध आत्मा के क्षेत्र मे प्रवेश प्राप्त करने के लिए कार्यसाधक बनते है, उन्ही के लिए आगे बढने का और केवलज्ञान की उच्च भूमिका तक पहुँचने का मार्ग खुलता है। बाकी सब भव-अटवी मे भ्रमण करते रहते है।

यदि यह बात जल्दी समझ मे आ जाय तो सुदेव, सुगुरु और सुधर्म को समझने और प्राप्त करने मे बहुत सहायता मिल सकती है। यदि हम भौतिक कामनाओ तथा दुनिया की लोलुपताओ से क्षण भर के लिए भी मुक्त न हो सकते हो, तो फिर उन सब तथाकथित महात्माओ मे और कोई कोई महात्मा बन बैठे हो उनमे हमे 'साक्षात् भगवान' के दर्शन हो तो आश्चर्य ही क्या ? परन्तु मन के द्वारा प्राप्त ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से 'परोक्ष-ज्ञान' है, और सच्चा मार्गदर्शन वे ही दे सकते है जिन्हे प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हुआ हो। यदि हम इतनी बात समझ ले तो चमत्कारो तथा चमत्कार-मार्तडो से हम चौंधिया नही जाएँगे, और लुब्ध भी नही होगे।

एक और बात याद रखने योग्य है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी मति और श्रुतज्ञान मे मिथ्या अथवा विपरीत ज्ञान की सभावना है। यह बात निश्चित रूप से सभव है कि मन कितना ही शक्तिशाली बन जाने पर भी 'अज्ञानी' बना रहे। पहले जो विपरीत ज्ञान बताये गये है, उनमे 'मतिअज्ञान' तथा 'श्रुत-अज्ञान' का उल्लेख किया ही है। यदि श्रुतज्ञान सम्यक् (सच्चा) हो तो वहाँ से आत्मा के क्षेत्र मे प्रत्यक्ष ज्ञान मे प्रवेश करने का मौका मिलता है। परन्तु यदि वह ज्ञान मिथ्या अथवा विपरीत हो तो वहाँ से विकास के बदले अवनति शुरु होती है, साधा हुआ विकास खो दिया जाता है, फलत जहाँ थे वही वापस गिर पडते है। यह बात बहुत ध्यान देने योग्य है।

मानव-मन की चमत्कार कर दिखाने की शक्ति आत्म-विकास का साधन नही है। आध्यात्मिक साधना करते करते

हमे जिस विकासक्रम से गुजरना होता है उसमे मन की शक्ति का खिलना और कुछ ऐसे वैसे चमत्कार दिखा सकना स्वाभाविक है। फूल-फल के पेडो के विकासक्रम मे जैसे स्वाभाविक अवस्थाएँ होती है, उसी तरह यह भी एक अवस्था या अवस्थाएँ है। यह ध्येय नही है, साध्य नही है, यह आत्ममुक्ति का साधन भी नही है। यह तो छलने वाली, ठगने वाली तथा ललचाने वाली अवस्था है। यदि यही रुक गये तो वडा खतरा है।

इस वात को कैसे समझे ?

पहले हमने जो कथन किया है कि 'ज्ञानक्रियाभ्या ज्ञानम्' उसका तात्पर्य यदि हम पूर्णतया समझले तो यह वात पूर्णत. समझ मे आ सकती है। यही कारण है कि हमे सद्-धर्म और सद्गुरु का आलम्वन लेना पडता है। यह आलवन लेने के लिए हमे विवेक रूपी ज्ञान की जरूरत होती है। वह ज्ञान—सच्चे ज्ञान का वह सच्चा मार्ग—हमे जैन तत्त्वविज्ञान अनेकान्तवाद और स्याद्वाद वताता है।

यह वात 'वाबावाक्यँ प्रमाणम्' या 'हम कहते है इसलिये मान लो, जैसी नही है। हम स्वय योग्य अवलबन द्वारा इसका प्रयोग कर सकते है। हम इसका अनुभव भी कर सकते है। जिसका हमे अनुभव हो वही सच्चा ज्ञान है। यह अनुभव परोक्ष नही, परन्तु प्रत्यक्ष होना चाहिये।

इन्द्रियो और मन की सहायता से हमे जो अनुभव होता है सो परोक्ष अनुभव है। जब हम सम्यक्—सच्चे मार्ग पर हो तब भी वह अधूरा अनुभव होता है। पूर्ण अनुभव तो केवल आत्मा के द्वारा, अन्य किसी चीज की—किसी भी माध्यम की सहायता के विना ही हो सकता है। यही अनुभव प्रत्यक्ष है, दूसरा नही।

राजनीति मे लोकशासन के विषय मे 'For the people, by the people, and of the people'—जनता के लिए, जनता के द्वारा और जनता का, ऐसा एक सूत्र है। आत्मा के क्षेत्र मे भी हमे जो अनुभव प्राप्त करना है वह भी 'आत्मा के लिए, आत्मा के द्वारा और आत्मा का'—For the soul, by the soul and of the soul—होना चाहिए।

राजनैतिक दर्शन—Political philosophy—के चिन्तको ने पूर्ण लोकशासन तथा सुराज्य के विषय मे जो उच्च और चरम—Highest extreme—कल्पना की है उसमे 'राजा राज्यकर्त्ता अथवा राज्यतन्त्र' जैसा कुछ नही होता। किसी भी प्रकार की राज्य-सस्था के बिना लोग स्वय उच्च, पारमार्थिक और आदर्श जीवन जी सके—ऐसा अतिम आदर्श Final goal माना गया है। पुलिस, फौज, अदालत और राज्य नाम की सत्ता की आवश्यकता ही न हो ऐसा कब सभव है? यह स्थिति तभी प्राप्त हो सकती है जब समस्त मानव समाज मानवता की—'शिवमस्तु सर्वजगत:' की—भावना से विभूपित हो जाय, स्वार्थ और सकुचितता के स्थान पर परमार्थ और समभाव को अपनाए। इस स्थिति को सच्चा और प्रत्यक्ष लोकशासन—Real, direct democracy—माना गया है।

आत्मिक क्षेत्र मे भी ऐसी ही बात है। इन्द्रियो और मन के द्वारा जो आत्मतन्त्र चल रहा है उसके स्थान पर स्वय आत्मा के द्वारा ही अपना तन्त्र प्रत्यक्ष (Direct) रूप मे चले, और इन्द्रियाँ, मन आदि किसी तन्त्र की, किसी अधिकारी वर्ग की, किसी सत्ता की या किसी माध्यम की आव-

श्यकता ही न रहे—मानव जीवन का यही अन्तिम आध्यात्मिक लक्ष्य–Final spiritual goal है। हम जिस ज्ञान की खोज करना चाहते है उस ज्ञान को पाने का हेतु भी आत्मा की इस अवस्था को सिद्ध करना ही होना चाहिए।

इसके वदले हम भ्रमो मे ही भटके रहते है। हमारे चारो ओर जो सच्ची समझ रही हुई है उसकी ओर हमारा ध्यान नही जाता। हम इन्द्रियो और वासना की पकड मे ऐसे जकडे गये है कि जो सच्चा नही है उसे सच्चा मानते है और जो सच्चा है सो हमे नही सुहाता।

जैन तत्त्ववेत्ताओ के वताये हुए ज्ञान के जो भेद हमने यहाँ देखे उन पर भली भाँति विचार करने पर मालूम होगा कि ये ज्ञान के प्रकार वुद्धिगम्य एव वैज्ञानिक है। इसमे अध-श्रद्धा की या ऐकान्तिक वात नही है। वैज्ञानिक प्रयोगशाला (Scientific laboratory) मे जिस तरह प्रयोग होते है उसी तरह इसके प्रयोग भी हम अपने आत्मा की प्रयोगशाला मे कर सकते है, और इसकी सच्चाई सार्थकता और सिद्धि-दायकता अनुभव कर सकते है।

ज्ञानविषयक इस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकालते है कि सम्यक् (सच्चा) ज्ञान 'अनुभव ज्ञान' है। स्तर के भेद से यह ज्ञान परोक्ष हो चाहे प्रत्यक्ष, पर यह तो हमे स्वीकार करना ही होगा कि ज्ञान अर्थात् 'अनुभव' है।'

इसके वदले हम इस ससार मे क्या देखते है ? यदि हम पारमार्थिक (आध्यात्मिक) क्षेत्र मे से साव्यवहारिक क्षेत्र मे आ कर देखेगे तो यहाँ भी हमे ज्ञान और अनुभव का भेद समझ मे आएगा।

व्यवहार मे जिन्हे हम 'ज्ञानी' कह कर पुकारते है उनमे से अधिकाश तो—Encyclopedia— जानकारी के भडार के अतिरिक्त और कुछ नही होते। जो कुछ उनके पास होता है वह ज्ञान नही वल्कि केवल Information—जानकारी होती है, सो भी पुस्तकाकार प्रकाशित Encyclopedia-विश्व-कोष (सग्रहग्रन्थ) की तुलना मे अल्प-अत्यल्प होती है। हम 'ज्ञान' के नाम से अभिहित वहुत सारी जानकारी एकत्रित करे और उसका अमल—आचरण—करने के नाम पर-क्रिया के सम्वन्ध मे—केवल शून्य ही हो तो हमे अपनी इस सारी मेहनत से क्या लाभ होगा ? कुछ भी नही।

इसीलिए सत्पुरुप कह गये है कि "व्यवहार मे जिसे ज्ञान माना जाता है, उस ज्ञान के 'सिन्धु' की अपेक्षा 'अनुभव का बिन्दु' अधिक महान है।"

इसलिए हमे अपने हेतु की सिद्धि के लिए जो ज्ञान पसद करना है, वह ज्ञान हमे 'प्रत्यक्ष अनुभव' की ओर ले जा सके ऐसा सच्चा-सम्यक् होना चाहिए। इस ज्ञान की प्राप्ति की ओर जाने वाले मार्गो के चुनाव मे भी हमे सच्चे मार्ग का अवलम्वन करना चाहिए। हमारा उद्देश्य भी विशुद्ध, उदात्त और पारमार्थिक होना चाहिए। अव, विवेकपूर्वक विचार करने पर प्रतीत होगा कि—

सच्चा ज्ञान अर्थात् 'अनेकान्त तत्त्वविज्ञान।'

सच्चा मार्ग अर्थात् 'स्याद्वाद।'

सच्चा हेतु अर्थात् 'आत्मा के स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव।'

+ + + +

कर्म

'कर्म' क्रियावाचक, क्रियासूचक, क्रियादर्शक शब्द है। कर्म का अर्थ ही है क्रिया। जिस तरह गति मे क्रिया है, उसी तरह स्थिति मे भी क्रिया है।

क्रिया के दो प्रकार कहे गये हैं। (१) द्रव्यक्रिया (२) भावक्रिया। इनमे से जो क्रिया इन्द्रियों और शरीर से होती है उसे द्रव्यक्रिया कहते है। हम उसे वाह्य क्रिया भी कह सकते है। जो क्रिया मन के द्वारा होती है, जो कुछ संकल्प-विकल्प, भले बुरे विचार, प्रेम (राग) तथा तिरस्कार (द्वेष) इत्यादि जो क्रिया होती है सो भाव क्रिया है। इसे हम आन्तरिक क्रिया कह सकते है।

यदि हम किसी राह चलते सामान्य व्यक्ति को खड़ा रख कर कर्म के विषय में पूछे तो वह ऐसा उत्तर देगा, "हमारे द्वारा जो कुछ भी कार्य होता है सो कर्म।" कुछ समझदार व्यक्ति उत्तर देगा कि, "जैसा करोगे वैसा पाओगे। करते हो सो कर्म और पाते हो सो फल है।"

इस तरह कर्म-विषयक व्यावहारिक समझ तो सर्व साधारण तथा विश्व व्यापक है। परन्तु कर्म-विषयक शास्त्रीय (वैज्ञानिक) ज्ञान का दुनिया मे पर्याप्त प्रचार नही है, पर्याप्त जानकारी नही है।

तत्त्वज्ञान के विचारानुसार 'कर्म किसी क्रिया अथवा प्रवृत्ति का सस्कार ही नही है। कर्म एक वस्तु है, वह द्रव्य-भूत वस्तु है। उसके अपने पुद्गल होते है। इन पुद्गलो को कर्म वर्गणा के पुद्गल कहते है।

हम मन, वचन और काया के द्वारा जो भी कार्य करते हैं उन्हे 'जीव की प्रवृत्ति' माना जाता है। आत्मा की इस

प्रवृत्ति से कर्म के पुद्गल खिच कर आते है और उससे चिपकते है। कर्मवर्गणा के पुद्गल लोकाकाश मे अर्थात् विश्व मे सर्वत्र भरे पडे है। जब ये पुद्गल आत्मा से चिपकते है तब उनका यो चिपकना 'कर्मबंधन' कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान की दृष्टि से "क्रिया के द्वारा निष्पन्न होने वाला पुद्गल-विशेष की रचना का कार्य ही कर्म है।" इस क्रिया मे मन, वचन और काया से होने वाली क्रिया के अतिरिक्त आत्मा के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि की क्रिया का भी समावेश होता है।

मन, वाणी और शरीर की क्रियाओ के प्रकार के अनुसार कर्म के पुद्गल खिच कर आते है, बँधते है, और आत्मा-जीव से चिपकते है। इस तरह "कार्य अथवा क्रिया के द्वारा खिच कर आने वाले और आत्मा से चिपकने वाले पुद्गलो के समूह को शास्त्रीय परिभाषा मे 'कर्म' कहते है। इनके भी दो प्रकार है—द्रव्य कर्म और भाव कर्म। जीवबद्ध कार्मिक पुद्गलो क 'द्रव्यकर्म' कहते है और जीव के राग-द्वेष, इत्यादि विभावात्मक परिणाम को 'भावकर्म' कहते है। इन दो प्रकार के कर्मो मे परस्पर कार्य-कारण-भाव का सम्बन्ध है। भाव-कर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म की प्रवृत्ति होती है।

यह कर्म-रूप क्रिया अनादिकाल से चली आ रही है। अनन्तकाल तक चला करेगी। जिसे हम जीवन कहते है, वह भी एक क्रिया ही है। इस दृष्टि से जीवन भी एक कर्म है।

तत्त्वज्ञानियो ने आत्मा के जो दो स्वरूप बताये है वे है, 'मुक्त आत्मा' और 'कर्मबद्ध आत्मा।' यहाँ जो 'मुक्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है उसका अर्थ 'कर्ममुक्त' समझिये।

आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध भी अनादि है। दुनिया के अनादि-अनन्त अस्तित्व की अपेक्षा से कहा जा सकता है कि कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध भी अनादि-अनन्त है परन्तु जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है, कर्म के साथ उसका सम्बन्ध अनन्त नही है, सान्त है। समस्त कर्मो का क्षय करके जब आत्मा 'मुक्त' बनता है तब कर्म के साथ उस आत्मा का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। इसका दूसरा तर्क-सगत (Logical) अर्थ यह हुआ कि जब तक सर्व कर्मो का क्षय नही होता तब तक आत्मा 'मुक्त' नही होता।

तात्पर्य यह है कि किसी भी शरीर मे जब तक आत्मा कर्म से अशुद्ध अथवा बद्ध बन कर परिभ्रमण करता है तब तक वह कर्म करता रहता है। इन कर्मो के फल स्वरूप ही उसे जन्म लेना, जीना, मरना, फिर जन्म लेना और भाँति-भाँति के शरीरो मे बद्ध होकर स्वर्ग, पृथ्वी और नरक के बीच चौरासी लाख योनि मे परिभ्रमण करना पडता है।

पिछले 'पाँच कारण' वाले प्रकरण मे हमने 'कर्म' को कार्य के एक कारण के रूप मे देखा है। जहाँ तक आत्मा के सासारिक पर्यायो का—शरीर, राग-द्वेष और सुख दु ख का, सम्बन्ध है, उसमे कर्म एक प्रधान कारण है।

हम अपनी आँखो से 'कर्म' को देख नही सकते, फिर भी जैसा कि पहले कहा गया है, कर्म एक पुद्‌गल है। पुद्‌गल अर्थात् रूपी-साकार। परन्तु यह रूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियगम्य नही है।

जैन तत्त्वज्ञानियो ने समग्र विश्व-रचना के आधार स्वरूप जो छह द्रव्य बताये हैं उनमे पुद्‌गल भी एक द्रव्य (पदार्थ

Substance) है, ऐसा कहा है। अत्यन्त सूक्ष्म अणु-परमाणुओ का समूह पुद्गल द्रव्य के अन्तर्गत आ जाता है। यह द्रव्य भी अनेक परस्पर विरोधी गुण धर्म रखता है।

आधुनिक विज्ञान ने वारीक से वारीक परमाणु को देखने के लिए जो अद्यतन साधन वनाये है वे अभी तक सूक्ष्म और सूक्ष्मतम परमाणुओ तक नही पहुँचे है। कर्म भी अतिसूक्ष्म-सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओ का एक समूह है। अन्य अणु परमाणुओ की तरह यह भी अलग होने और जुडने के स्वभाव वाला है। भौतिक विज्ञान के पास-इसे जानने और देखने के लिए कोई साधन नही हैं।

एक समय था जव विज्ञानप्रेमी ऐसा सव मानने से इनकार करते थे, परन्तु अव वे इनकार नही करते।

जैन तत्त्ववेत्ताओ ने हजारो लाखो वर्षो पहले से कहा है कि 'शब्द' भी पुद्गलो का एक समूह है। एक समय था जव इस वात को विज्ञानवादी स्वीकार नही करते थे। जव शब्द को ग्रामोफोन के रिकार्ड मे वॉधने का आविष्कार हुआ तव सारे ससार ने यह वात मजूर की।

तार-रस्सो की मदद के विना, वायरलेस से वेतार के सदेशो का लेन देन जव से शुरु हुआ तव से विज्ञान के क्षेत्र मे एक क्रान्तिकारी सशोधन युग प्रारम्भ हुआ। वम्वई मे हम जो शब्द वोले वे वायु की तरगो पर सवार होकर क्षण भर मे सारे ससार मे घूम जाते है, और वैज्ञानिक साधनो के द्वारा अन्य लोग उन्हे हजारो मील की दूरी पर सुन सकते है। इस वात के अनुभव के वाद सवने जैन दर्शन की यह वात मान्य रखी है कि शब्द मे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु-रूप पुद्गल विद्यमान है।

इसी प्रकार कर्म भी पुद्गलो का समूह है substance है। आज भले ही वैज्ञानिक वर्ग इस बात को स्वीकार न करे, पर यह एक प्रमाणित तथ्य है और विचारको के द्वारा इसका स्वीकार हुए बिना नही रहेगा, चाहे जल्दी हो चाहे देर मे।

जैन तत्त्वज्ञान मे विचार को भी पुद्गल Substance माना जाता है। शुद्ध तात्त्विक दृष्टि से 'विचार' मन के सूक्ष्म पुद्गलो की क्रिया है। जैसे भाषण-शब्द पुद्गल की क्रिया है वैसे ही विचारो द्वारा मन मे होने वाली क्रिया भी मनोवर्गणा के नाम से अभिहित पुद्गलो की क्रिया है।

भाव-क्रिया मन से होती है। उसमे विचारो की प्रधानता है। (जैन दर्शन मन की क्रिया आत्मा के अन्दर ही मानता है, इसलिए बाहर से तो उसका केवल अनुमान होता है।) मन के भी दो विभाग है—'भाव-मन' और 'द्रव्य-मन'। यहाँ विचार 'द्रव्य-मन' से सम्बन्ध रखते है, भाव-मन से नही। द्रव्य-मन पुद्गल-स्वरूप है, भाव-मन जीव का अध्यवसाय है, भावना है।

'पुद्गल' शब्द का सीधा-सादा अर्थ करना हो तो कह सकते है कि जो 'पूरण और गलन' अर्थात् इकट्ठे हो सकते है और अलग हो सकते है, और जिनके रूप, रस, गध, स्पर्श आदि गुण होते है वे 'पुद्गल' है।

यदि हम ऐसा मान ले कि जो केवल आँखो से दीख सके या प्रयोगशाला मे मानव कृत साधनो से जिसका निरीक्षण हो सके वही पुद्गल है, तो मानव की सशोधन वृत्ति ही समाप्त हो जाय; यह मानना पडे कि मनुष्य ने जो कुछ देखा है उसके सिवाय और कुछ भी नही है। हम ऐसा मानने को

तैयार नही है। कोई भी समझदार आदमी ऐसा मानने को तैयार नही होगा।

आज तक विज्ञान ने जो खोजे की है, जो नया नया सशोधन अभी हो रहा है, और जो नये ढग के प्रयोग चालू है, उन सबके फलस्वरूप एक तथ्य हमारे सामने दीपक की तरह प्रकाशमान् होता है कि "अभी तक बहुत बहुत जानना बाकी है।" हमे इन सब मे से यह स्पष्ट और निश्चित बात मालूम होती है।

आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगो से हमे ऐसी ही दूसरी एक अधिक महत्त्व की बात ज्ञात होती है। वह बात यह है कि "नये नये सशोधन के द्वारा हमारे सामने जो सब अनोखा परिणाम प्रस्तुत किया गया है उसमे 'कुछ भी नया नही है।' जगत् के स्वरूप के विषय मे हजारो लाखो वर्ष पहले आत्मज्ञानियो और केवली भगवन्तो ने जो कुछ कहा था, शास्त्र-ग्रन्थो मे लिखित हो हो कर जो कुछ हमारे पास आया था, उसमे न हो, ऐसी कोई नई बात हमे ज्ञात नही हुई। प्लास्टिक और बैकेलाइट जैसे पदार्थों से बनी हुई चीजे हजारो वर्ष पहले जमीन मे गडी हुई सस्कृति का परिचय देने वाले पिछले दिनो खोद कर निकाले हुए प्राचीन नगरो के अवशेषो मे देखने को मिलती हैं।

यह बात कहने मे हमारा उद्देश्य आधुनिक विज्ञान को उपालभ देना नही है। वर्तमान विश्व मे वैज्ञानिक सशोधन का महत्त्व साधारण नही है। उन्होने जो कुछ खोजा, बताया और अभी खोज रहे हैं उसके पीछे काम करने वाली बुद्धि-शक्ति के लिए वे हमारे अभिनन्दन के पात्र है। वैज्ञानिक लोग

भी अपने ढग से दुनियाँ के उच्च कोटि के उपकारक है। हाँ, मानव-सहार के साधनो का आविष्कार करने वाले पुरुषो के प्रति हम उपकारक-भाव से नही देख सकते। बीसवी सदी मे कहिये, या सर्वकाल के लिए कहिये, वैज्ञानिक सशोधन मानव की बुद्धिशक्ति के इतिहास मे देदीप्यमान नक्षत्रो के समान है, और इस बात से इनकार नही किया जा सकता। खेद मात्र इतना ही है कि मनुष्य की बुद्धि क्षणिक और नाशवान् सुख की खोज करने के बदले परम और शाश्वत सुख की खोज मे लगी होती तो मानव-समाज के अस्तित्व के लिए भय उपस्थित करने वाले भयानक साधनो के बदले परम-आनन्द प्रमोद-कारक दिव्य साधनो से यह दुनिया सुशोभित होती।

वैज्ञानिको की शोधपद्धति के विषय मे जानकारी प्राप्त करना बडा मनोरजक होगा। सामान्यतया दो प्रकार की धारणाएँ। (Assumption) बना कर काम का प्रारभ किया जा है। एक धारणा, 'अमुक वस्तु ऐसी है' ऐसा मान कर और दूसरी धारणा, 'यह वस्तु ऐसी नही है' ऐसा मान कर की जाती है।

इस मे एक मनोरजक बात तो यह है कि कई बाते 'है' ऐसी श्रद्धा मे से नही, बल्कि 'नही है' ऐसी अश्रद्धा मे से प्रकट हुई है। 'नही है' यह सिद्ध करने के प्रयत्न मे 'है' ऐसा सिद्ध हो गया है। 'नही है' ऐसा मान कर बैठ रहने के बदले 'नही ही है' ऐसा सिद्ध करने के प्रयत्न करने मे यह 'है' ऐसा निश्चित हो गया है।

सन् १४९२ ई० मे कोलम्बस ने अमेरिका महाद्वीप खोज निकाला, पर वह हिन्दुस्तान पहुँचने के जल मार्ग की

खोज मे निकला था। उस समय हिन्दुस्तान योरपवासियो के लिए अज्ञात देश नही था। उन्हे भारत आने के खुश्की के रास्ते की जानकारी तो थी ही, और उस समय भारत के साथ व्यापार-विनिमय भी चलता था, जब कि पश्चिम-गोलार्ध के विषय मे किसी को उस समय जानकारी न थी।

कोलम्बस निकला तो था हिन्दुस्तान की खोज मे पर उसने खोज निकाला अमेरिका। इन दोनो गोलार्धो मे बसने वाले लोगो के परस्पर सपर्क मे आने का प्रारब्ध (कर्म) जगा, काल परिपक्व बना, कोलम्बस को निमित्त बना कर पुरुषार्थ मनुष्य की शोधवृत्ति के भाव से सज्जित हुआ और भवितव्यता उसे पूर्व के बदले पश्चिम दिशा मे घसीट ले गई। यह पाँचो कारणो की सुभग फलदायकता का कितना सुन्दर उदाहरण है।

कोलबस के उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि सशोधन के लिए शुभ निष्ठा से प्रयास करने वाले पुरुषार्थी लोग अन्य चार कारणो की अपेक्षाओ के अधीन रह कर कुछ न कुछ प्राप्त तो अवश्य ही करते है। हिन्दुस्तान नही तो अमेरिका। कोयला ढूँढते ढूँढते कभी हीरा मिल जाने की भी संभावना तो है ही।

मानव की जिज्ञासा-वृत्ति भी कितनी अद्भुत है! कुछ है, या होना चाहिए यह मान कर वह पुरुषार्थ करता है, कोई एक वस्तु नही है, ऐसा मानकर 'वह ऐसा नही ही है' यह सिद्ध करने के लिए भी वह पुरुषार्थ करता है।

विज्ञान (Science) के सभी विद्यार्थी यह बात जानते है। वे 'नही है' ऐसा मान कर अपनी प्रयोगशाला मे कुछ

प्रयोग करते है, और फिर वे इस निर्णय पर पहुँचते है कि वह 'है'। जब विज्ञान के विद्यार्थी अपनी प्रयोगशाला (Laboratory मे प्रयोग—Practicals करते है, तब वे जो भिन्न भिन्न पद्धतियाँ आजमाते है उनका एक नमूना यह रहा —

"एक विद्यार्थी हाथ मे 'कागज' लेता है। फिर वह यह मान कर कि 'यह कागज नही है' प्रयोग शुरु करता है। विश्लेषण (Analysis) करते करते जब यह प्रयोग पूरा होता है तब उसका निर्णय (conclusion) यह आता है कि 'यह कागज है।' प्रारम्भ मे 'नही है' ऐसी धारणा (assumption) करते है। प्रयोग के अन्त मे वे ऐसा निश्चय करते है कि यह धारणा गलत थी। यहाँ जो 'कागज' की बात लिखी है सो केवल उदाहरण के लिए ही।

इस तरह 'है' या 'नही है' ऐसा मानकर प्रयोग करने वाला कुछ न कुछ परिणाम तो लाता ही है। निष्फलता भी एक परिणाम है, और परम पुरुषार्थियो के लिए यह सफलता की जननी (पुरोगामी) है।

अत हम अवश्य चाहेगे कि वैज्ञानिक सशोधन जारी रहे। केवल हमारी यह इच्छा मानव कल्याण की भावना के अनुरूप होगी, क्या यह स्पष्टता करने की कोई आवश्यकता है ?

इस विश्व मे जो अरूपी, अतीन्द्रिय, सूक्ष्म (Invisible) पदार्थ है, उन सबकी जानकारी भौतिक प्रयोगशालाओ द्वारा प्राप्त होगी या नही, यह तो एक प्रश्न ही है। इसके लिए तो 'आत्मिक-अनुभव' को छोडकर और कोई प्रयोगशाला नही है। परन्तु जो रूपी-इन्द्रियगोचर (Visible) पदार्थ है, उनका प्रयोगात्मक ज्ञान भौतिक प्रयोगशालाओ द्वारा प्राप्त करने के

लिए अथाह प्रयत्न हो रहे है। आज जिन्हे सूक्ष्म कह सके ऐसे अणु-परमाणुओ तक विज्ञान पहुँचा है। ये सब रूपी (साकार) पदार्थ ही है। इन रूपी पदार्थो मे जो अति सूक्ष्म-सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल है उन्हे प्रयोगात्मक ढग से सिद्ध करने की बात कुछ असभव नही है।

कर्म मे और मन के विचारो मे सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल है, यह बात केवल शास्त्र-प्रमाण से नही, अनुभव प्रमाण से भी सिद्ध हो चुकी है। आधुनिक वैज्ञानिक यह मानकर कि 'पुद्गल है' उन्हे खोज निकालने का प्रयत्न करे अथवा 'पुद्गल नही ही है' ऐसा प्रमाणित करने के लिए प्रयत्न करे तो इससे मानव जाति को लाभ ही होगा, ऐसा मानना अनुचित नही है। सामान्यतया ये पुद्गल अत्यत सूक्ष्म होने के कारण और वे इन्द्रियो के विषय नही बन सकते, यह देखते हुए, ऐसे प्रयास पूर्णतया फलीभूत होने की सभावना नही है, फिर भी ऐसी आशा रखना अनुचित न होगा कि यदि आधुनिक वैज्ञानिक इसके लिए प्रयत्न करे तो उसमे से कुछ न कुछ प्राप्त तो होगा। विज्ञान ने शरीर के पुद्गलो को स्वीकार किया है तो फिर कर्म के पुद्गलो के विषय मे किया गया सशोधन बिल्कुल निष्फल नही होगा, और कुछ नही तो अन्त मे ये सशोधन करने वाले आत्मिक प्रयोगशाला की ओर आकर्षित तो होगे ही।

आज इस बात पर तो कोई मतभेद नही रहा है कि ससार की समस्त प्रवृत्तियो का, विचित्रताओ का, विषमताओ का और उन्नति-अवनति का एक महत्त्वपूर्ण कारण 'कर्म' है। कर्म-शास्त्र पर अनेक बडे बडे ग्रन्थ लिखे गये है। कई लोग तो कर्म के खेल पर इतने मुग्ध है कि ससार की सारी प्रवृत्तियो

के लिए वे एक मात्र कर्म को ही कारण मानते है। इस विषय पर अनादि काल से लिखा गया है, लिखा जा रहा है और लिखा जाता रहेगा।

ऐसा होते हुए भी कर्म के विषय मे जो साहित्य उपलब्ध है, उसमे से जैन दार्शनिको द्वारा प्रस्तुत साहित्य के समान गहन-गभीर और विशाल साहित्य दुनिया भर मे कही नही है। जैन विद्वानो के लिखे हुए 'कर्मग्रन्थ' पढ कर हम दग रह जाते है, चकित हो जाते है, उनमे हमे इतना विस्तृत विवरण मिलता है। आज दुनिया भर मे यह तथ्य स्वीकृत हो चुका है कि कर्म के विषय मे सूक्ष्म से सूक्ष्म छानबीन केवल जैन साहित्य मे ही मिलती है। कर्म-विज्ञान के विषय मे सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण और समस्त तथ्य जैन साहित्य मे ही है।

कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध एव कर्म के पुद्गलो की अगम्य और अपार लीला—यह एक ऐसा विराट विषय है कि उसमे मात्र चचुपात करने के लिए भी विशिष्ट योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है। हमारा और दुनिया का महान सौभाग्य है कि आज भी इस विषय को पूर्णतया समझा सकने वाला साहित्य और उसे बहुत बहुत अच्छी तरह समझे हुए जैन विद्वान मौजूद है।

आज यह तथ्य तो सर्वथा मान्य हो चुका है कि 'कर्म' जैसा कुछ है सही, और कर्म के ही कारण सुख दु ख, समानता, असमानता आदि का बहुत बडा आलम चल रहा है। ईश्वरवादी महापुरुष जब कहते हैं कि 'राम झरोखे बैठि कै सबका मुजरा लेत, जैसी जिनकी चाकरी तैसा तिनको देत।' तब वे भी कर्म की ही बात कहते है। इस दोहे मे 'चाकरी' शब्द कर्म का ही सूचक है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध एक 'सनातन सघर्ष' है। अग्रेजी मे जिसे 'Tug of war'—विपरीत दिशाओ मे रस्सा खीचने की स्पर्धा कहते है। उस प्रकार का एक खेल आत्मा और कर्म के बीच अनादि काल से खेला जा रहा है। जब आत्मा मोक्ष मार्ग के लिए पुरुषार्थ शुरु करता है, तब से इस खेल का असली प्रारम्भ अमल मे आता है, तभी ध्यान मे आता है।

आत्मा स्वय ही कर्म का कर्ता और भोक्ता है। कर्म से मुक्त होने की शक्ति भी आत्मा की अपनी ही शक्ति है। आत्मा स्वय ही सुख और दु ख के सभी सवेदन अनुभव करता है। आत्मा इनके कारण भी जान सकता है, परन्तु यह जानने की शक्ति आत्मा के अपने कर्मो के द्वारा कु ठित हो जाती है। जिन्हे जैन तत्त्वज्ञानी 'आवरणीय कर्म' कहते है, उन कर्मो से आत्मा स्वय ही अपने लिए कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। आत्मा खुद ही अपने विकास मे, अपने शुद्ध स्वरूप के प्रकटीकरण मे अन्तराय-भूत कर्म करता है, उसके अपने कर्म ही उसके लिए बाधक होते है।

किसी बालक को या जानवर को सुई चुभोने पर दु ख की जो चीख निकलती है वह केवल शरीर से नही अपितु आत्मा से सम्बन्ध रखती है। क्योकि यदि उसका सम्बन्ध आत्मा से न होकर केवल शरीर से ही हो तो निष्प्राण शरीर मे से भी ऐसे सवेदन उत्पन्न होने चाहिए, लेकिन नही उत्पन्न होते। साधारण दियासलाई लग जाने से मनुष्य चिल्ला उठता है, जब कि श्मशान मे सारा शरीर जल कर भस्म हो जाता है, तब वह जरा सा भी नही हिलता डुलता, मामूली

चीख भी उसगे से नही निकलती । सुख दु ख के सभी सवेदन शरीर से नही, बल्कि आत्मा से सम्बन्ध रखते है—जड शरीर मे रहे हुए चेतन आत्मा से—यह बात समझने और समझ कर स्वीकार करने के लिए यह एक उदाहरण ही काफी है । इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए अनेक उदाहरण दिये जा सकते है, परन्तु आज तो यह बात सर्व-स्वीकृत होने के कारण अधिक विस्तार करना अनावश्यक है ।

आत्मा चेतन्य स्वरूप है और शरीर जडस्वरूप है । कर्म भी पुद्गल होने के कारण, शरीर के पुद्गलो की तरह 'जड' है । ये जड कर्म-पुद्गल शरीर मे रहे हुए चेतन आत्मा को बाँध कर, घेर कर बैठे है । ये कर्म-पुद्गल—कर्म आत्मा की बाजी बिगाडने का-उलटने का कार्य अनादिकाल से करते आये है ।

यह एक अच्छा तमाशा है । 'हमारी बिल्ली, हमसे ही म्याऊँ' जैसी यह बात है । अग्रेजी मे 'Frankenstein' 'फ्रेकेन्स्टीन' एक शब्द है । एक कल्पित कथा मे इस नाम के एक यन्त्र मानव का पात्र आता है । एक महान् वैज्ञानिक ने एक यत्र मानव (Robot) बनाया । उसने विनाश करने की अद्भुत शक्ति से इस यन्त्र मानव को सुसज्जित किया । उसने अपने सभी शत्रुओ को धराशायी करने की आशा से यह यत्र-सचालित मानव-मूर्ति बनाई थी । परन्तु बाद मे इसका यह अजाम हुआ कि अपने ही बनाये हुए उस यत्र-मानव को अपने वश मे रखने का कार्य उस वेज्ञानिक के लिए असभव हो गया । अन्त मे उस यत्र मानव ने अपने निर्माता उक्त वैज्ञानिक को ही मार डाला ।

आत्मा और कर्म के वीच का सम्वन्ध भी लगभग उक्त वैज्ञानिक ओर फ्रेकेन्स्टीन के सम्वन्ध के समान है। आत्मा स्वय राग द्वेप आदि कपायो के कारण, खुद सुखी वनने और दूसरो को दुखी वनाकर आनन्द पाने के लिए कर्म के जड पुद्गलो को अपनी ओर खीचता है। परन्तु वाद मे चल कर ये ही पुद्गल, आत्मा के खुद के ये ही कर्म उपर्युक्त यत्र-मानव फ्रेकेन्स्टीन की तरह आत्मा की शक्तियो को नष्ट कर देते है, कुठित कर देते है। व्यवहार मे ऐसा जो कहा जाता है कि 'हाथ का किया, हृदय मे लगा' सो ऐसी ही वात है।

उक्त वैज्ञानिक मे और आत्मा मे वडा अन्तर यह है कि वैज्ञानिक (उसका शरीर) मर गया, जव कि आत्मा मरता नही। वैज्ञानिक तो मरने के वाद फ्रेकेन्स्टीन के त्रास से मुक्त हो गया, परन्तु आत्मा कर्म-रूपी फ्रेकेन्स्टीन से नही छूटता। वह जहाँ भी जाता है, कर्म उसके साथ ही जाते है। अथवा यो भी कह सकते है कि कर्म आत्मा को जहाँ जाने की इच्छा हो वहाँ उसे जाने देने के वदले दूसरी ही जगह घसीट कर ले जाता है।

परन्तु उक्त वैज्ञानिक मे और आत्मा मे एक दूसरा वडा अन्तर है। यत्र-मानव वनाने के वाद उससे कैसे वचना, यह वात वैज्ञानिक को मालूम नही थी, जवकि, आत्मा यह जान सकता है कि कर्म से कैसे मुक्त हुआ जाय। यह उसका स्वभाव गत ज्ञान (Inherent Knowledge) है।

आत्मा जव कर्म के प्रावल्य के कारण उससे मुक्त नही हो पाता उस समय भी यह जान सकता है कि 'उससे छूटा जा सकता है।' कर्म की प्रवलता के कारण कभी ऐसा भी

होता है कि आत्मा यह बात भूल जाता है कि 'इसमे से छूटना चाहिये और छूटा जा सकता है।' किये हुए कर्मों को भोगते भोगते उसकी छिपी हुई स्मृति अवश्य वापस आती है, आने बाद फिर चली भी जाती है, फिर लौट आती है। यह क्रम आत्मा और कर्म के बीच चलते हुए अनादि संघर्ष मे गोल-गोल घूमता ही रहता है।

कभी कभी आत्मा जो चाहता है सो नही पा सकता, प्रयत्न करने पर भी नही पा सकता। उदाहरणार्थ, एक ही गुरु के दो शिष्य एक सा परिश्रम करने पर भी एक विद्वान् बन जाता है और दूसरा मूर्ख बना रहता है। दूसरे का परिश्रम कम नही है, फिर भी वह ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। यहाँ उसे ज्ञान प्राप्त करने मे जो कर्म बाधा डालता है उसे जैन-तत्त्ववेत्ताओ ने 'ज्ञानावरणीय कर्म' नाम दिया है। फिर भी ऐसा नही होता कि यह कर्म सदा-सर्वदा बाधा डालता ही रहे। उसकी समय मर्यादा का आधार आत्मा के पुरुषार्थ पर है।

कर्म का जो वर्गीकरण—(Classification)—जैनतत्त्व-वेत्ताओ ने किया है उसमे कर्म के मूल आठ भेद बताये है। उसके उपभेद १५८ है, और उपभेदो के उपभेद असख्य है।

कर्म के इन आठ मुख्य प्रकारो मे से 'ज्ञानावरणीय कर्म' आत्मा के ज्ञान गुण को ढकता है, प्रकट नही होने देता। सूर्य की अनुपस्थिति मे जिस प्रकार अमावस्या की अधेरी रात पृथ्वी पर काजल-सी काली चादर बिछा कर बैठ जाती है, उसी तरह यह ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को चारो ओर से ढक कर बैठ जाता है। इस कर्म की मात्रा न्यूनाधिक होती है। कभी वह आत्मा को बिल्कुल अज्ञान और मूढ बना

देता है, कभी आत्मा की ज्ञान-स्वरूप दशा को प्रकट करने की—ज्ञान प्राप्त करने की—इच्छा मे न्यूनाधिक प्रमाण मे वाधक होता है।

इस कर्म के—कर्म के प्रभाव के—अश और प्रमाण—Degree and ratio—कम ज्यादा होते है। अश और प्रमाण के अनुसार वह आत्मा के ज्ञान गुण का अवरोध करता है।

कर्म का दूसरा मुख्य भेद 'दर्शनावरणीय कर्म' के नाम से अभिहित है। यह कर्म आत्मा की दर्शन-शक्ति का अवरोध करता है, आत्मा की जाग्रत अवस्था का भी अवरोध करता है। इसमे भी अश और प्रमाण होते है।

कर्म का तीसरा मुख्य भेद 'मोहनीय कर्म' कहलाता है। मोह आत्मा का एक जवरदस्त दुश्मन है। वह आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उलट पुलट देता है। दुःख का कारण हो तो भी वह आत्मा को सुख की भ्रान्ति मे डाल देता है। इसके दो भेद है—दर्शन मोहनीय और चारित्र्य मोहनीय।

दर्शन मोहनीय कर्म आत्मा की तत्त्वरुचि को रोकता है, तत्त्व-अतत्त्व के सम्बन्ध मे भ्रम पैदा करता है। चारित्र्य मोहनीय कर्म वीतरागता को रोक कर राग, द्वेष, ईर्षा, वैर आदि उत्पन्न कराता है। यह कर्म तृष्णा एव कलुषितता उत्पन्न करता है।

कर्म का चौथा भेद अन्तराय कहलाता है। इस कर्म के द्वारा शुभ कार्यों मे वाधा उपस्थित होती है। दान धर्म, वस्तु की प्राप्ति और भोगोपभोग मे यह कर्म वाधा डालता है। इस कर्म के कारण होने वाली वाधाओ से छूटने के लिए 'अन्तराय कर्म-निवारण की पूजा' करवाना जैनो मे साधारण-

तया प्रचलित (customary) है। अन्तराय कर्म-निवारण की पूजा करवाने के पीछे आत्मा का एक सकल्प रहता है। इस संकल्प के द्वारा मनोभाव को शुद्ध बनाने की विधि-सहित क्रिया जैन शास्त्रकारो ने बनाई है। मनोभावो का विशुद्धीकरण अपने आप मे एक प्रकार का शुभ कर्म होने से वह अन्तराय कर्म की विपरीत—प्रबलता को छिन्न-भिन्न करने मे सहायक होता है। इसके उपरान्त, अर्हद्भक्ति—वीतराग परमात्मा की भक्ति और तपस्या के द्वारा भी इस कर्म से छुटकारा हो सकता है।

ये चारो कर्म 'घाती कर्म' कहलाते है। इन कर्मो मे आत्मा के स्वभाव-भूत मुख्य गुणो का नाश करने की 'घातक शक्ति' होने के कारण इन्हे 'घाती कर्म' कहते है।

कर्म के पाँचवे मुख्य भेद को आयुष्य कर्म कहते है। चार गति और चौरासी-लाख-योनि मे, प्रत्येक शरीर परिवर्तन के समय भिन्न भिन्न शरीरो मे आत्मा को कितना काल व्यतीत करना है, सो इस 'आयुष्य कर्म' के द्वारा निश्चित होता है।

कर्म का छठा मुख्य भेद 'नाम कर्म' कहलाता है। आत्मा को कौन कौन से शरीर मे, कैसी आकृति मे कैसे रूप मे और कैसे रग मे जाना है, सो बाते इस कर्म के द्वारा निश्चित होती है। आत्मा को जो भिन्न-भिन्न 'वस्त्र परिधान—शरीर ग्रहण' करने पडते है सो इसके कारण। आत्मा को शरीर, रूप, रंग, इन्द्रियाँ, चाल, यश, अपयश, सौभाग्य, दुर्भाग्य, सूक्ष्मता, स्थूलता आदि जो प्राप्त होते है सो 'नाम कर्म' के आधार पर प्राप्त होते है।

कर्म का सातवाँ मुख्य भेद 'गोत्र कर्म' कहलाता है। उच्च,

नीच, मध्यम आदि कुलो मे जन्म लेने की क्रिया इस कर्म के कारण होती है।

कर्म का आठवा मुख्य भेद 'वेदनीय कर्म' कहलाता है। यह कर्म आत्मा को सुख दु ख आदि दिलवाता है। इसके दो भेद है—शाता वेदनीय और अशाता वेदनीय। यह कर्म भी अपने अश तथा प्रमाण के अनुसार आत्मा को सवेदन पहुँचाता है। सुख के लिए 'शाता' और दु ख, रोग, वेदना के लिए 'अशाता', ये दोनो जैन तत्त्वज्ञान के परिभाषक शब्द है। जिसे हम भूख, तृषा आदि कहते है वह भी आत्मा की एक अशाता वेदना ही है।

इन अतिम चार कर्मो को 'अघाती कर्म' कहते है। ये कर्म आत्मा के मुख्य गुणो का घात नही करते, उसको गति का नियमन करते है। आत्मा कौन से क्षेत्र मे जाएगा, मर्कट देह धारी बनेगा या मानव देह धारी, कगाल वा चडाल के यहाँ जन्म लेगा या धनवान वा विद्वान् के यहाँ, और आत्मा को सुख दु ख के कैसे कैसे अनुभव होगे, कब शाता मे रहेगा और कब अशाता मे, आदि आदि बाते इन चार कर्मो द्वारा नियन्त्रित होती है। इन कर्मो का आत्मा के मुख्य गुणो या स्वभाव के साथ विरोध नही है, ये कर्म उन गुणो के बाधक या घातक नही है। अत इन्हे 'अघाती कर्म' कहते है, यद्यपि इन कर्मो से घाती कर्मो का उत्तेजन देने का कार्य परोक्षत होता है।

जैन दार्शनिको ने कर्म के ये आठ प्रकार बताये है। कोई भी आत्मा जब कर्म के बधन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है, जन्म-मरण के फेरे मे से मुक्ति पाता है तब इन आठो कर्मो

का क्षय अनिवार्य गिना जाता है । इन आठो कर्मो के नाश (क्षय) के वाद ही आत्मा सिद्धत्व प्राप्त करता है ।

जैन तीर्थंकर जब केवलज्ञान प्राप्त करते हैं तब प्रथम चार घाती कर्मो का क्षय-नाश करने के वाद ही उस स्थिति पर पहुँचते है। जब आत्मा के मूल ज्ञान स्वरूप को अवरुद्ध करने वाले इन चार कर्मो का पूर्णत क्षय होता है, तभी आत्मा 'परमात्मा' वनता है, और तभी 'सर्वज्ञता-केवलज्ञान' प्रकट होता है। केवलज्ञान प्राप्त करने के वाद तीर्थकर त्रिलोक के जीवो को वोध देने के लिए और सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र-रूप मोक्ष-मार्ग का उपदेश देने के लिए जो आयुष्य भोगते है उसमे उनके चार अघाती कर्म उन्हे लगे हुए होते है।

ये अघाती कर्म आत्मा के मूल स्वरूप (Basic quality) मे वाधक नही होते। तीर्थकरो का आत्मा जिस शरीर मे होता है, उस शरीर को छोडने का समय वे भगवान जानते होते है। जब वह समय आता है, तब तक मे वाकी वचे हुए चार अघाती कर्म भोग कर तथा छेदन करके वे सिद्धत्व प्राप्त करते है।

जब तीर्थकरो को केवलज्ञान प्राप्त होता है तब वे रूपी अरूपी, सूक्ष्म और स्थूल—समस्त पदार्थो को और प्रत्येक पदार्थ के अनेक परस्पर विरोधी गुण धर्मो को आत्मा से प्रत्यक्ष देखते है और समझते है। इस विषय का ज्ञान अपने उपदेश (देशना) के द्वारा वे दुनिया को देते है। उनका यह ज्ञान 'सकल प्रत्यक्ष' ज्ञान होता है। वे जिस स्तर पर पहुँचे हैं उस स्तर पर पहुँचे विना अन्य किसी को यह प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो

सकता, यह बात वे जानते हैं। वे उपकारकभाव से दुनिया को ऐसा मार्ग बताते जाते हैं जिससे उसका परोक्ष ज्ञान हो सके। यह मार्ग है—'स्याद्वाद'।

जो ज्ञान तीर्थंकरों को प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त हुआ, वह ज्ञान दुनिया के मनुष्यों को, मुझे, आपको, जिन्हें चाहिये उन सबको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की अपेक्षा से योग्यतानुसार प्राप्त हो सकता है। 'स्याद्वाद' के द्वारा यह ज्ञान अवश्य प्राप्त किया जा सकता है। यह स्याद्वाद का विशेष महत्त्व है। कहा गया है कि.—

"केवलज्ञानी आत्मा प्रत्यक्ष स्वरूप में जो जानते हैं, वह सब 'स्याद्वाद' परोक्ष स्वरूप में जानता है। केवलज्ञान और स्याद्वाद दोनों सर्वतत्त्व प्रकाशक हैं, एक प्रत्यक्ष रूप में और दूसरा परोक्ष रूप में। अर्थात् स्याद्वाद से तत्त्व का जो परोक्ष ज्ञान होता है वह केवलज्ञान से प्रत्यक्ष होता है।"

यह बात सर्वथा सत्य है। अन्य दर्शनों में ज्ञानी माने जाने वाले महाशयों ने जो बात अपने अनुभव के अनुसार—अनुभव करके लिखी है, उसे मानने के लिए केवल श्रद्धा के सिवाय और कोई साधन नहीं है। केवलज्ञानी भगवन्तों ने अपने प्रत्यक्ष अनुभवों के द्वारा देखे हुए जिन तत्त्वों का लाभ—बोध—जगत को दिया है, उसे बुद्धिगम्य रीति से, परोक्षतः समझने के लिए उन्होंने जगत को एक शास्त्र की—एक वैज्ञानिक पद्धति की—भी भेंट दी है। यह पद्धति है 'स्याद्वाद'। हम उसे देखने, जानने और समझने के लिये सब लोगों को किसी शंका या सकोच के बिना आमन्त्रण दे सकते हैं। निस्सन्देह, श्रद्धा से बुद्धि को विभूषित करके ही आना होगा।

अब कर्म के विषय पर पुन आते है। हमने देखा कि फ्रेकेन्स्टीन को पैदा करने वाला उक्त वैज्ञानिक तो मर गया, पर अपने ही बनाये हुए 'यन्त्र-मानव' का तो वह नाश नही कर सका। आत्मा के लिए ऐसी बात नही है। कर्म रूपी जिस फ्रेकेन्स्टीन को स्वय आत्मा ने अपने कर्मो द्वारा पैदा किया है उसका विनाश-क्षय भी आत्मा कर सकता है। एक खास गौर करने और याद रखने जैसी बात यह है कि आत्मा जब मनुष्य शरीर मे हो तभी कर सकता है। एकेन्द्रिय से लगाकर तिर्यच-पचेन्द्रिय तक के शरीरो मे आत्मा की यह शक्ति पूर्णतया प्रकट नही होती। मानव-भव को छोड कर आत्मा के अन्य भवो मे कर्म के आवरण आत्मा की इस शक्ति को प्रकट नही होने देते।

अत एव जहाँ तक मानवभव का, मनुष्य-शरीर का, सम्बन्ध है, आत्मा के परिभ्रमण मे प्राप्त होने वाली अवस्थाओ मे यह सर्वोच्च स्थिति है। स्वर्गलोक मे या वैमानिक-लोक मे देव बन कर गया हुआ आत्मा वहाँ अपनी मुक्ति के लिए उत्कृष्ट उद्यम नही कर सकता। उस आत्मा को जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिए मानव-शरीर मे आना ही पडता है। मनुष्य-देह के बिना आत्मा का उद्धार नही हो सकता।

यह मानव-देह का-मनुष्य-भव का-उज्जवल पक्ष है, परन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। जिस तरह मानव-शरीर कर्मो को छोडने के लिए आत्मा का उत्तमोत्तम साधन है, उसी तरह दूसरी ओर आत्मा को नरक मे ले जाने वाली प्रवृत्तियाँ भी इसी मानवभव मे अधिक होती है। अधिक से अधिक कर्म-छेदन की तरह अधिक से अधिक कर्म-बन्धन, और उसकी

दीर्घ परम्पराएँ भी मनुष्य-भव मे ही निर्मित होती है। आत्मा जब मनुष्य-देह मे हो तभी आत्मा और कर्म के बीच बडा भारी कहा जा सके ऐसा मुकाबला होता हे।

यहाँ शायद कोई पूछे कि "ऐसा क्यो ? मुक्ति की प्राप्ति मनुष्य-भव मे ही सभव है और अन्य किसी भव मे क्यो नही ?"

इसका उत्तर तो सीधा और सरल हे। विवेक, विचार, त्याग तथा वाचा की शक्ति आदि जो समस्त सामग्री मानव-देह मे आत्मा के पास होती है, वह अन्य कौन से शरीर मे हे ? मनुष्य-शरीर मे जितनी सृजन-शक्ति creative energy है उतनी दूसरे कौन से शरीर मे है। जहाँ तक आत्मा और शरीर का सबध है, आत्मा के लिए मोक्ष प्राप्त करने का सर्वोच्च वाहन (Supreme medium) मानव-शरीर है।

हवाई जहाज हमे बहुत ऊपर आकाश मे ले जाता है, परन्तु यदि वहाँ वह टूट जाए तो ऐसी दशा हो कि हमारी हड्डियो के टुकडे भी शायद ही हाथ लगे। उसी तरह इस मनुष्य भव का सदुपयोग करके आत्मा अपने सर्वोच्च गुणो को प्रकट कर सकता है, उसका दुरुपयोग करके अपने लिए बुरी से बुरी (Extreme worst) स्थिति भी पैदा कर सकता है। आत्मा के लिए मानव भव के सिवा और किसी भव मे दोनो ओर के सिरो की स्थिति (Poles apart) उपलब्ध नही है।

जो कर्म आत्मा की इस सारी दौड धूप मे महत्त्व का भाग लेते है उन्हे साधारण बुद्धि से पुण्य और पाप ये दो नाम दिये गये है।

एक बार एक आत्मार्थी मनुष्य एक सत पुरुष के पास गया। उसने सन्त पुरुष से पाप और पुण्य की ऐसी व्याख्या

माँगी जो सक्षिप्त हो, फिर भी अचूक हो। उक्त सत पुरुष ने उसे दो वाक्यो मे, केवल दो ही वाक्यो मे और छह शब्दो मे ही यह बात समझा दी —

परोपकार पुण्याय, पापाय परपीडनम्।

इसी अर्थ के और भी सुभाषित है—

परेषा पीडन पापम्। परेषा सुचितन पुण्यम्।

अर्थात् "परोपकार से पुण्य होता है, दूसरो को दु ख देने से पाप होता है। दूसरो को पीडा—दु ख—हो ऐसा कुछ भी करना पाप है और दूसरो की भलाई सोचना—जीव मात्र के कल्याण की भावना रखना पुण्य है।" इन दो वाक्यो मे कैसी महान् बुद्धि मूर्त हुई है।

पुण्य कर्म से आत्मा को भौतिक साधन सामग्री तथा आध्यात्मिक जानकारी के साधन—ये दो लाभ होते है। पाप कर्म से आत्मा के लिए भौतिक दु ख तथा आध्यात्मिक समझ से दूरत्व उत्पन्न होते है। जैन तत्त्ववेत्ताओ ने पुण्य और पाप के क्षेत्रो मे आने वाले कर्मो की भी विशद समीक्षा की है।

पुण्यानुवधी पुण्य, पुण्यानुवधी पाप, पापानुवधी पुण्य, पापानुवधी पाप आदि कर्मो के विषय मे अधिक से अधिक जानकारी जैनदर्शन मे है। (पुण्यानुवधी पुण्य अर्थात् नया पुण्य उत्पन्न करने वाला पुण्योदय जैसे ऐश्वर्य होते हुए भी धर्म की इच्छा हो। इसी तरह वाकी तीन भी समझ ले।)

कर्मो के वन्धन तथा छेदन मे द्रव्य की अपेक्षा भाव का महत्त्व अधिक है। मनुष्य के शरीर मे जो मन है, उसके वाह्य स्वरूप के विषय मे हमे थोडा सा ज्ञान है, उसके आन्तरिक स्वरूप का ध्यान तो लाख मे दस बीस को भी होगा या नही, यह भी एक प्रश्न है।

आत्मा जिन कर्मो को शरीर अर्थात् इन्द्रियो से बाँधता है वे तो मनके द्वारा बधने वाले कर्मो के सामने ऐसे है जैसे पहाड के सामने पताशा। आत्मा का कर्मो के बन्धन और छेदन का महान साधन मन है। उसमे भी जो अन्तर्मन है, जिसे अग्रेजी मे Sub conscious mind कहते है उसमे चलता हुआ उपद्रव तो अपरपार है। अग्रेजी मे बाह्यमन को Conscious mind (जाग्रत चेतन मन) और अन्तर्मन को Sub conscious mind (अर्ध जाग्रत मन उपचेतन मन) कहते है। पाश्चात्य मानस-शास्त्री 'Unconscious mind' (अजाग्रत—अचेतन मन) ऐसा मन भी एक शब्द प्रयोग करते है। अर्धजाग्रतता या अजाग्रतता जाग्रत मन की अपेक्षा से है। जहाँ तक आत्मा का सबध है, मानसिक वृत्तियो से भी आत्मा के आन्तरिक आशय और झुकाव आदि का ही विशेष महत्त्व है। आत्मा के जो आन्तरिक शुभ—अशुभ भाव, भावनादि होते है उन्हे जैनतत्त्वज्ञानियो ने 'अध्यवसाय' नाम दिया है।

एक सट्टाखोर जैसे अपने घर मे एक कमरा बन्द करके बैठे बैठे ही टेलीफोन के द्वारा लाखो के वारे न्यारे करता है, वैसे ही आत्मा अन्त करण मे अपार उथल-पुथल करता है। कहते है कि एक 'समय' जितने काल मे अनन्त कर्म बधते है और अनन्त कर्म छूटते है। 'समय' काल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाग है और हम जिसे 'एक सेकड' कहते है उसका असख्यातवाँ भाग 'एक समय' कहलाता है। 'एक समय' जितने काल मे कर्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल—अनन्त पुद्गल—बधते (जुडते)-तथा छूटते होते है।

कर्म के पुद्गलो की समग्र सृष्टि अति अति अति गहन गूढ और विराट है। इसका सपूर्ण सर्वदर्शी और प्रत्यक्षज्ञान तो आत्मा को तभी होता है जब उसका ज्ञान गुण खिलता है, पूर्ण कलाओ से खिलता है, केवलज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु परोक्षत इसका मनोगत जानकारी प्राप्त करनी हो तो इस ज्ञान का विपुल भण्डार जैन शास्त्रकारो के पास है। उसकी जानकारी मिल सकती है।

जैसे हम दुनियाँ मे रोग, विष, बाघ, भेडिये, सर्प, छल-कपट, खजर, तलवार, पिस्तोल, मशीनगन और बम आदि से डर कर, सम्हल कर चलते है, उसी तरह कर्म के पुद्गलो से भी चेत कर चलना चाहिए। आत्मा के लिए पाप कर्म के पुद्गलो मे जो भयानकता है, वैसी दुखदायकता तो अन्य किसी वस्तु मे नही है।

परन्तु कर्मो से निराश होने की भी आवश्यकता नही है। जैन दार्शनिको ने इन से छूटने और बचने का राजमार्ग—Right Royal Highway—समस्त ससार के सम्मुख खोल ही रखा है। इस मार्ग को समझने का तत्त्वविज्ञान 'अनेकान्त-वाद' है, पद्धति 'स्याद्वाद' है और आचरण करने के लिए सम्यग् दर्शन (Right vision) सम्यक् ज्ञान (Right Knowledge) और सम्यक् चारित्र (Right conduct) रूप धर्म है।

कर्म के विषय मे इतना समझने के बाद हमे एक नई बात भी समझ मे आएगी। यह कर्म रूपी क्रिया द्विपक्षी है। एक ओर आत्मा अर्थात् हम क्रिया करते है, उसी समय दूसरी ओर कर्म के पुद्गल भी जुडने और अलग होने की क्रिया करते होते है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारी और कर्म के पुद्गलो

की क्रिया एक साथ ही चलती है। यह तो हम जानते ही हैं कि जब हम भाषण देते है। तब हमारी बोलने की क्रिया और श्रोताजनो की सुनने की क्रिया—यो द्विपक्षी क्रिया चलती है। उस समय ही बोलने वाले की भावक्रिया कर्म के पुद्गलो को अपनी ओर खीचती होती है, और सुनने वाले के मन पर पडने वाला प्रभाव रूपी क्रिया भी कर्म के पुद्गलो को अपनी ओर आकर्षित करती है। अतः बोलने वाले और सुनने वाले इन दोनो पक्षो के लिए फिर कर्म के पुद्गलो की क्रिया की अपेक्षा से द्विपक्षी क्रिया चलती रहती है।

यहाँ विशेषतः समझने योग्य बात यह है कि एक ही व्याख्यान मे एक ही बात करते हुए जो वाक्य बोले जाते हैं, उनके द्वारा सुनने वाले की सुनने की क्रिया से कर्म के जो पुद्गल खिच कर आते है वे एक ही प्रकार के नही होते। उदाहरणार्थ—किसी सभा मे जब वक्ता किसी समाज-विरोधी तत्त्व के विषय मे बात करता है तब एक श्रोता उससे दुःखित होकर ऐसी भावना रखता है कि 'हे प्रभु इसे सद्बुद्धि दे, और दूसरा उस बात मे तमतमा उठता है और ऐसा विचार करता है कि 'इसका सत्यानाश कर देना चाहिए, इसे जडमूल से उखाड़ लेना चाहिए।' उन दोनो श्रोताओ के मन मे उठने वाले ये दोनो प्रकार के भाव कर्म के भिन्न-भिन्न प्रकार के पुद्गलो को खीच लाते है, और उन दोनो की कर्म पुद्गल रूप जो क्रिया होती है वह अलग अलग तरह की होती है। इसमे ऐसा भी होता है कि एक ही वाक्य सुन कर एक मनुष्य के कर्म पुद्गलो का 'बध' होता हो, जब कि दूसरे के कर्म पुद्गलो का क्षय भी होता हो।

जैन दार्शनिकों ने यह बात भली भाँति समझाने के लिए क्रिया के दो भेद बताए हैं। एक 'सम्यक्' (अर्थात् सच्ची) क्रिया और दूसरी मिथ्या (अर्थात् झूठी) क्रिया। सच्ची आत्म-दृष्टि की बुद्धि-पूर्वक जो क्रिया होती है उसे सम्यक् क्रिया कहते हैं, और उससे विपरीत क्रिया को मिथ्या क्रिया।

यहाँ भी ज्ञान और क्रिया एक दूसरे के पूरक हैं। क्रिया रहित ज्ञान जमीन में गड़े हुए खजाने की तरह निरर्थक है, फिर वह चाहे कितना ही मूल्यवान् क्यों न हो। बिना ज्ञान के बिना सच्ची समझ के—क्रिया भी निष्फल है। कोई घर के आँगन में गमले में तुलसी का पौधा लगा कर गमले की मिट्टी में पानी डालने के बदले घी डाला करे तो क्या होगा? यह मान कर कि पानी से घी बहुत अधिक पोषक है, और आर्थिक दृष्टि से स्वयं बहुत धनवान होने के कारण इस तरह घी का व्यय करने में समर्थ है, तुलसी के पौधे को पानी के बदले घी पिलाने लगे तो उसमें से क्या उगेगा? ज्ञान रहित क्रिया भी इसी तरह की समझिये।

सम्यक् क्रिया में पवित्र ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार तपाचार और वीर्याचार आदि आचारों के पालन का समावेश होता है। इस क्रिया के दो भेद हैं—द्रव्य-क्रिया और भाव-क्रिया। इनमें से द्रव्य-क्रिया आचार स्वरूप है, और भाव-क्रिया आचार तथा विचार—उभय स्वरूप है। यद्यपि दोनों का महत्त्व एक सा है तथापि सापेक्ष दृष्टि से भाव-क्रिया का जो फल है वही मुख्य है।

तत्त्वज्ञान को जानने वाला व्यक्ति आचार में—धर्म के आचरण में—शून्य मात्र को लेकर घूमता हो तो उसका ज्ञान

मात्र 'तथ्य-संग्रह या जानकारी का भडार' ही बन जाता है। वह शायद दूसरे को भले उपयोगी हो, उसके खुद के लिए निरर्थक है, वृथा है। जब इस ज्ञान को आचरण मे रखा जाय तब भी द्रव्य (बाह्य) और भाव (आन्तरिक) का परस्पर सम्बन्ध रहता है। भाव से सुक्रिया के लिए प्रेरणा मिलती है, द्रव्य क्रिया से भाव-क्रिया जाग्रत होती है। द्रव्य-क्रिया के बिना भाव क्रिया पैदा नही होती, और भाव-क्रिया के बिना द्रव्य-क्रिया फलदायक नही होती।

यदि बाह्य क्रिया शुष्क, जड, नासमझ और केवल भाव शून्य आदत के समान ही हो तो वह मुक्ति-मार्ग के लिए निरर्थक सिद्ध होती है। व्यवहार मे भी यही बात है। जिस काम मे मन नही लगता उस काम से कोई लाभ नही होता। सामाजिक, प्रतिक्रमण, पूजा, पाठ, अध्ययन, भक्ति करते समय स्तवन (भजन) गाना आदि सब द्रव्य-क्रिया है।' इनका प्रयोजन भाव जाग्रत करके चित्तवृत्ति को व्यवस्थित एव समभावशील बनाना है। ये सब द्रव्य क्रियाएँ करते समय यदि इस बात की समझ न हो कि "मै यह क्या कर रहा हूँ, किस लिए कर रहा हूँ," और इसके अतिरिक्त मन भी अन्यत्र भटकता हो, तो ऐसी क्रियाएँ निरर्थक सिद्ध होती है।

इसीलिए कहा गया है कि कोई भी कार्य, चाहे वह मोक्ष-प्राप्ति का हो चाहे केले की पकौडियाँ तलने का हो, ज्ञान और क्रिया के सामजस्य के बिना सिद्ध नही होता।

यदि बाह्य क्रिया करते समय भाव जाग्रत न होता हो तो इस कारण से क्रिया छोड देने की जरूरत नही है। यदि छोड दे तो उसका भयानक परिणाम होता है, क्योकि द्रव्य-

क्रिया छूट जाने के बाद तो हिंसादि मिथ्या क्रियाएँ ही हाथ मे रहती है, और इन मिथ्या क्रियाओ मे शुभ परिणाम वाले भाव जाग्रत करने की कोई शक्ति नही है।

भाव का जाग्रत होना कोई साधारण या छोटी सी बात नही है। इसके लिए बहुत समझदारी के साथ सम्यक् क्रियाओ के बहुत बहुत प्रयत्न करने पडते है। अत यदि द्रव्य-क्रिया के समय भाव जाग्रत न होता हो तो उस 'अजाग्रति' के प्रति 'जाग्रत' रह कर और भाव जगाने के उद्देश्य को जीवित रख कर क्रियाएँ जारी रखने मे ही फायदा है। इससे किसी सुभग क्षण मे भाव जाग्रत हो जाएगा। यदि अपूर्व भाव प्राप्त हो जाएगा तो हमे अपनी की हुई असख्य द्रव्य-क्रियाओ की निरर्थकता के बाद अपूर्व सार्थकता अवश्य मिलेगी। इसके लिए इतनी ही शर्त है कि हमे आवश्यक समझ और भाव का सवेदन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। हम मे भाव जाग्रत नही होता, इस तथ्य को अपने प्रयत्न की त्रुटि मान कर हमे अपनी समस्त शक्तियो को इसके लिए प्रयुक्त करना चाहिए। यदि हम इस बात की उपेक्षा करेगे तो इस प्रकार की शुष्क क्रियाएँ सदा के लिए वध्या ही रहेगी।

हमे इस कार्य के लिए अनेक आलम्बनो की आवश्यकता होती है। उनमे मुख्य आलम्बन 'सद्गुरु' का है। हमे सुदेव और सुगुरु-इन दोनो को परमात्मा मानना है। एक दृष्टि से सापेक्षभाव से, सद्गुरु तो 'प्रत्यक्ष परमात्मा' है। समुद्र मे अगाध-अपार जल है, परन्तु जब आग लगती है तब हमारे आँगन का कुआँ या हमारे गाँव या शहर का वॉटर वर्क्स काम आता है। अत यदि हम निरजन निराकार वीतराग

परमात्मा के एक साकार स्वरूप के तौर पर सद्गुरु का आलम्बन ग्रहण करेंगे तो उससे अवश्य हमें बड़ा भारी लाभ होगा। हम अपने को उच्च भूमिका पर चढ़ाने का और नीचे गिरने से अटकाने का कार्य योग्य गुरु की सहायता से ही कर सकते हैं।

यहाँ हमने कर्म, कर्म के स्वरूप तथा कर्म के परिणाम आदि का सामान्य परिचय प्राप्त कर लिया है। इस विषय में अधिक जिज्ञासा अवश्य जाग्रत होगी। इसके लिए भी सद्गुरु रूप तज्ज्ञ (विशेषज्ञ) एवं सत पुरुष का सत्संग साधना आवश्यक है। यदि हम ढूँढने निकलेंगे तो अवश्य प्राप्ति होगी।

इस विषय की गहराई में उतरने की बात अपने अन्त:करण मे अंकित करके अब हम आगे बढ़े।

आत्मा का विकास-क्रम

पिछले प्रकरण मे हम कर्म-विषयक विचार कर चुके है। कर्म और आत्मा के बीच का सम्बन्ध अनादि है, यह बात भी हम समझ गये है। अब हम आत्मा के विषय मे भी थोडा विचार करेगे।

'आत्मा' माने क्या ? कौन ?

एक मित्र से मिलने के लिए उनके घर जाकर देखा तो दरवाजा बन्द है। भीतर से मित्र तथा उसके परिवार के लोगो के आनन्दमय वार्तालाप की आवाज आती है। हम अपनी उपस्थिति की सूचना देने के लिए दरवाजा खटखटाते है।

"कौन है ?" अन्दर से प्रश्न पूछा जाता है।

"मै हूँ, चन्दुभाई" दरवाजा खटखटाने वाला उत्तर देता है।

इस उत्तर का अर्थ होता है, दरवाजा खटखटाने वाला "मै" हूँ, और यह 'मै' चन्दुभाई के नाम से पहचाना जाता है। इसमे 'चन्दुभाई' तो उक्त 'मै' का नाम निक्षेप है। इस प्रकार भिन्न भिन्न नामो से पुकारे जाने वाले सभी सज्जनो के जो नाम हैं उनमे से प्रत्येक एक 'मै' का नाम है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए 'मै' शब्द का प्रयोग करता है।

तो अब प्रश्न यह उठता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए जो शब्द प्रयुक्त करता है वह 'मै' कौन है ? बोलने का कार्य जीभ करती है, दरवाजा खटखटाने का कार्य हाथ करता है, प्रत्येक इन्द्रिय जब जब जो जो काम करती है तब प्रत्येक बार

'मै देखता हूँ' 'मै वोलता हूँ,' 'मै सुनता हूं,' 'मै साँस लेता हूँ,' 'मै जलता हूँ' 'मै चलता हूँ' आदि वाक्य वोले जाते है; इनमे जो 'मै' आता है' वह कौन है ?

जीभ ? आँख ? कान ? नाक ? हाथ ? पैर ? त्वचा ?

आप कहेगे, "नही ये सव तो शरीर के अवयव है। ये सव मिल कर जो सारा शरीर वना है सो 'मै'।

अव यदि हम शरीर को 'मै' याने तो फिर मृत शरीर मे से 'मै' की आवाज क्यो नही आती।

आप इसका उत्तर तुरन्त देगे कि "मृत शरीर मे जीव नही है, इसलिए कौन जवाव दे ?"

इस उत्तर का अर्थ यह हुआ कि 'मै' नामका जो जीव था वह शरीर मे से चला गया तव शरीर मे 'मै' जैसा कुछ नही रहा, परन्तु जव तक यह जीव शरीर मे था तव तक समस्त शरीर ही नही वल्कि शरीर के अगोपांगो के लिए भी 'मै' शव्द का प्रयोग करता था।

यह जीव 'मै' के अतिरिक्त 'मेरा' शव्द का भी प्रयोग करता था। मेरा शरीर मेरे हाथ, मेरी आँखे, मेरी नाक, मेरे कान, आदि शव्दो का वह जव प्रयोग करता था, तव उसके द्वारा वह एक दूसरी जानकारी भी हमे देता था कि, "जिसे मै 'मेरा' कहता हू वह 'मै' नही।"

'मेरा घर', 'मेरे वस्त्र' आदि शव्दो का जव हम प्रयोग करते है, तव यह वात तो आसानी से समझ मे आती है कि ये सव वस्तुएँ मेरी होते हुए भी मुझ से भिन्न है। इसी प्रकार शरीर मे रहा हुआ 'मै' जव 'मेरा शरीर' आदि शव्दो का प्रयोग करता है, तव वोलने वाला 'मैं' और उसके द्वारा

वर्णित शरीर आदि अग एक दूसरे से भिन्न है यह तो निश्चित है।

यह जो 'मै' है वही 'आत्मा' है। जड शरीर मे रहा हुआ जो चैतन्य स्वय को 'मै' नाम से पुकारता है वही आत्मा है। इसका यह अर्थ हुआ कि आत्मा माने 'मै'। इसी प्रकार आत्मा जिस जिस को 'मै' अथवा 'मेरा' कह कर पुकारता है, उसमे भी उक्त 'मै' रहा हुआ होने के कारण हमे उस शरीर को भी 'मै' अथवा 'आत्मा' कह सकते हैं। ध्यान मे रखना चाहिए कि यह एक सापेक्ष वात है।

आत्मा के विपय मे पहले जो थोडा सा वर्णन आ चुका है, उसमे हमे आत्मा के दो मुख्य स्वरूप जानने को मिले। एक मुक्त आत्मा, तथा दूसरा कर्म-वद्ध आत्मा। अव आत्मा जव तक जड पुद्गलो के समूहरूप शरीर मे वधा हुआ है तव तक वह कर्म-वद्ध आत्मा ही है, यह स्पष्ट हो गया। जो आत्मा अपने सभी कर्मो का क्षय करके 'मुक्त' हो गया, उसे तो 'मै' 'मेरा' जैसा कुछ नही रहता। अतः जव हम आत्मा के विपय मे विचार करते है तव शरीर मे वन्द कर्म-वद्ध आत्मा का ही विचार करना होता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि जव आत्मा 'मै' कहता है, तव, वह मुक्त आत्मा नही अपितु कर्म-वद्ध आत्मा है।

इन कर्मो ने आत्मा को किस प्रकार और किस जगह वाँधा है ?

तत्त्वज्ञानिओ ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है, "कर्म का आत्मा के साथ सम्वन्ध दूध और पानी जैसा है।" जव कर्म का वध (वंधन) होता है, इस वध के कारण आत्मा

के साथ कर्म का जो सगम होता है, वह दूध और पानी के संगम के समान है। अर्थात् दूध और पानी मिल जाने से दोनो मे जैसा एकत्व प्रकट होता है वैसा ही एकत्व 'वध' होने के बाद आत्मा और कर्म का भी होता है।

यह वात वहुत ध्यान देने योग्य है। आत्मा मूल द्रव्य के रूप मे शुद्ध है। कर्म का सयोग होने से वह अशुद्ध वना है। अव यहाँ शुद्धि और अशुद्धि का अलग अस्तित्व नही रहा। ये दोनो मिल कर एक स्वतन्त्र अस्तित्व प्रकट करते है। अर्थात् स्वतन्त्र आत्मा तथा स्वतन्त्र कर्म पुद्गलो का सयोग होने से जो तीसरा स्वतन्त्र अस्तित्व प्रकट होता है उसे तत्त्वज्ञानियो की भापा मे 'कर्म वद्ध ससारी आत्मा' कहते है। हम उसे 'शरीर—जीवित शरीर' के अर्थ मे पहचानते है।

यह आत्मा जव अपने शरीर को 'मेरा' कहता है, तव वह स्वय उसमे व्याप्त होने के कारण सापेक्ष दृष्टि या हम जीवित शरीर को भी 'आत्मा' कह सकते है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह कर्म-वद्ध आत्मा अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को पहचानता है, और इसीलिए वह स्वय को 'मै और उसके अतिरिक्त अपने शरीर को तथा शरीर के अगो को 'मेरा' कह कर पुकारता है। इस दृष्टि से आत्मा को अनादिकाल से लगे हुए जड पुद्गल भी 'मै' नाम से पुकारे जाने के कारण वे पुद्गल भी 'आत्मा' वनजाते है। याद रखिये कि यह बात भी सापेक्ष दृष्टि से होती है।

अव हम 'मै' और 'मेरा' का क्रमश. विस्तार करेगे, तो समझने मे वडा आनन्द प्राप्त होगा।

सव से पहले तो आत्मा के साथ जो शरीर सीधा-प्रत्यक्ष-

सम्बन्ध रखता है, उस शरीर के लिए भी आत्मा 'मैं' शब्द का जो प्रयोग करता है सो एक प्रकार के सम्बन्ध के कारण संस्कार के कारण—करता है। वास्तव में तो आत्मा और शरीर भिन्न ही हैं। दोनों के द्रव्य अलग अलग हैं, परन्तु कर्म के संयोग से दोनों एक बन जाते हैं, एक बनने का संस्कार मिलने से दो में से एक बन जाते हैं।

अब इस चर्चा को हम आगे बढ़ाएँगे।

"ये मेरे पिताजी हैं, ये मेरी माताजी हैं, यह मेरी पत्नी है, ये मेरे पुत्र-पुत्री हैं, ये मेरे मित्र हैं।" ऐसे ऐसे वाक्य बोलते समय हमारे चित्त में मेरेपन का एक संस्कार अथवा ध्वनि तो होती ही है।

शुद्ध तात्त्विक दृष्टि से शरीर तथा आत्मा भिन्न भिन्न होते हुए भी संस्कारवश एक बन जाने के कारण जब हम 'मैं' का प्रयोग करते हैं तब उसके द्वारा आत्मा और शरीर—दोनों का उल्लेख होता ही है।

ऐसी ही दृष्टि से जब हम परिवार के लोगों तथा मित्रों के लिए 'मेरे' शब्द का प्रयोग करते हैं तब चित्त में उठते हुए संस्कार के द्वारा हम उन सब के साथ एकत्व अनुभव करते हैं। इस दृष्टि से विचार करते हुए मन में यह भाव लाकर कि 'जो मेरा है वह मैं ही हूँ' हम यह भी कह सकते हैं कि मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष की भिन्नता रखने वाले वे सब 'मेरे' होने के कारण 'वे भी मैं ही हूँ' यहाँ यह न भूलना चाहिए कि यह भी एक सापेक्ष बात है।

चित्त के इस संस्कार के कारण जिस किसी के लिए हम 'मेरा' शब्द का प्रयोग करते हैं उन सब के साथ हमारा

संस्कार जनित एकत्व भी होता ही है। इस प्रकार विचार करते करते, "मेरा परिवार, मेरी ज्ञाति, मेरा समाज, मेरा घर, मेरा गाँव, मेरा जिला, प्रान्त, देश, मेरी पृथ्वी, मेरा आकाश और मेरा जगत," ऐसा जब हम कहेंगे तब उन सब के साथ 'मेरेपन का सस्कार' होने के कारण हम एकत्व का अनुभव कर सकेंगे, तथा यह सब भी 'मैं' ही हू,—ऐसा कह सकेंगे।

इस प्रकार जगत के समस्त जीवो के साथ जब सस्कार-जनित एकत्व उत्पन्न होगा तब ऐसा भाव अवश्य आएगा कि "इन सब जीवात्माओ मे 'मैं' हूँ।' उसी प्रकार जगत के जड पदार्थो के साथ का हमारा—आत्मा का सम्बन्ध देखते हुए 'यह सब भी मेरा है' ऐसे सस्कार चित्त मे पडने से यह सब भी 'मैं' (मैं—स्वरूप) बन जाएगा।

आत्मा के विषय मे इतनी बात सुन कर आप शीघ्र ही एक प्रश्न पूछेंगे—

"वेदान्तियो के जैसी ही यह बात हुई। अद्वैत के विषय मे श्री शंकराचार्य की ओर से जो बात कही गई है, वैसी ही बात आपने भी की।"

"नही, इसमे 'अद्वैत' आया तो सही किन्तु यह अद्वैत वेदान्त मत का नही है' क्योंकि वेदान्त का अभिप्राय ऐकान्तिक है। हमने जो बात की है सो सापेक्ष दृष्टि से और उसमे अनेकान्त की स्पष्ट छाया है, यह न भूलिये। सग्रह-नय की दृष्टि से हम समस्त विश्व के साथ एक 'सत्' नामक महासा-मान्यरूप मे है। इसमे जब हम जड़ को भी 'मैं' समझते हैं तब जड़ विषयो का भोग करने की आसक्ति विराम प्राप्त कर

लेती है, क्योकि "यदि 'जड' माने 'मै' तो 'मै' को भोगना क्या ? हम अपने आत्मा को नही भोगते।"—ऐसा ज्ञान होता है। तब जगत के सभी आत्माओ के साथ एकत्व अनुभव करने की जो बात जैन दार्शनिक कहते है, वह सापेक्ष है, और ऐकान्तिक नही है। 'आत्मसमदर्शिता' आत्मा के विकास का अनिवार्य साधन होने के कारण सभी आत्माओ मे अपनापन अनुभव करना निरपेक्ष अद्वैत नही है।

जिस जिस के विषय मे 'मेरेपन' के सस्कार उद्भूत होते है उन सब को 'मेरे' अर्थात् 'मै' मान कर चलने मे सापेक्ष दृष्टि से कोई उज्र नही है। 'ये सब मेरे नही है' ऐसा मान कर चलने की अपेक्षा 'ये सब मेरे ही है' ऐसा मान कर चलना मन का उच्च सस्कार है। कर्म के बन्धनो से मुक्त होने के लिये आत्मा के लिये आत्मा के पुरुषार्थ मे अपने आत्मा की तरह सब पर अपनेपन का—'आत्मसमदर्शिता' का भाव बडे महत्त्व का स्थान रखता है।

इस सापेक्ष अद्वैत की चर्चा को अब हम आगे बढाते है। एक बात निश्चित कर ले कि इस जगत मे जो चेतन-स्वरूप जीव है, वे सभी मेरे है अर्थात् वे सभी "मै"—"आत्मा" है।

'मेरा तेरा और उसका' इस भाव की अपेक्षा यदि हम 'सभी मेरा' अर्थात् 'सभी मै' ऐसा भाव प्रकट कर सके तो 'राग-द्वेष' नामक दो मुख्य आत्म-शत्रुओ मे से एक 'द्वेष' की पराजय तो हो ही जाएगी।

इसलिए सापेक्ष दृष्टि से आत्मा का परिचय प्राप्त करते हुए हम यहाँ इस नतीजे पर पहुँचते है कि 'आत्मा' माने 'मै' और 'मै' अर्थात् 'समग्र विश्व'।

अब हम 'मै' की ओर लौटते है। यह 'मै' सो हम ही है, यह वात समझ कर हम आगे बढे।

'हम क्या चाहते है ?'

यदि इस प्रश्न का हम संक्षिप्त और सही उत्तर चाहते है तो हमे दो अक्षर का एक शब्द उत्तर मे सुनने को मिलेगा—

"सुख।"

"शावाश, क्या ही सुन्दर वात कही है।"

"हमे सुख चाहिए। यह सुख हमे अपने लिए चाहिए। हम सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी अवश्य करेगे। हम जो चाहते हैं सो 'सुख' है, 'दुःख' नही। जिसमे जरा भी दुःख हो उसे हम 'सुख' नही मानेगे।

उपर्युक्त सापेक्ष अद्वैत अर्थात् 'आत्मसमदर्शिता' की वात यदि यहाँ पर झाँकती हुई न मालूम हो तो समझना चाहिए कि हम खाई मे गिरे है।

हम अपने सुख के लिए जो कुछ प्रयत्न करे उससे यदि अन्य किसी को कुछ भी जरा सा भी दुःख होता हो तो वह हमारे लिए भी 'दुःख' ही है। उसमे हमारे लिए सुख हो ही नही सकना।

हम आत्मा के स्वरूप को मेरेपन का भाव लेकर विकसित करते "समग्र विश्व 'मै' ही है" ऐसी भावना तक पहुँचा चुके थे। तो अब, यदि हम से ऐसा कुछ भी कार्य हो जाय जिससे समग्र विश्व मे विचरते हुए जड-चेतन्य-सयोग से रचित किसी भी शरीर, मन या जीव को कुछ भी दुःख प्राप्त हो तो उसको हमे अपना निजका दुःख मानना ही रहा। वास्तव मे है भी ऐसा ही। यदि हम स्वार्थ या मोह के वश होकर ऐसा

न माने तो भी आखिरकार ऐसा कोई भी प्रयत्न हमारे लिये 'दुख' मे ही परिणत होगा। यदि हम सुख ही चाहते हो तो इस तथ्य को स्वीकार किये बिना कोई चारा नही है। हमे यह बात हमारे एक परम कर्त्तव्य की याद दिलाती है। इस परम पुनीत कर्तव्य को जैन-शास्त्रकारो से चार वाक्यों मे प्रस्तुत किया है—

१ 'खामेमि सव्वजीवे'

२ 'सव्वे जीवा खमतु मे'

३ 'मित्ती मे सव्वभूएसु'

४ वेर मज्झ न केणई।

इन चार वाक्यो का अर्थ निम्नानुसार है—

१ मै सब जीवो से क्षमा माँगता हूँ, सब को क्षमा करता हूँ।

२ सब जीव मुझे क्षमा करे।

३ जीवमात्र के साथ मुझे मैत्री-भाव है।

४ मुझे किसी के साथ वैर-भाव नही है।

अपने विकास की इच्छा रखने वाले किसी भी आत्मा को इन चार वाक्यो से ही प्रारभ करना होगा, इन चारो वाक्यो के साथ एकत्व—समरसता—का अनुभव करना होगा।

समरसता प्रकट करने के लिए आवश्यक एक पूर्व भूमिका होती है जिसका नाम है 'कृतज्ञता भाव'। 'कृतज्ञता भाव' अर्थात्

जिन जिन लोगो ने हम पर उपकार किये हो उन सबके प्रति आभार की भावना। यह आभार प्रकट करने का साधन है, 'नमस्कार-भाव'।

'नमस्कार भाव' से तात्पर्य है नम्रता'।

'नम्रता' अर्थात् 'अहभाव का सपूर्ण विसर्जन।'

यदि अहभाव का विसर्जन न हो तो नम्रता नही आती। यदि नम्रता न जगे तो 'नमस्कार-भाव' प्रकट नही होता। 'नमस्कार-भाव' प्रकट हुए बिना क्षमा करने की तथा क्षमा माँगने की वृत्ति उत्पन्न नही होती। क्षमा करने और क्षमा माँगने की वृत्ति उत्पन्न हुए बिना प्राणीमात्र के प्रति मैत्री-भाव पैदा नहीं होता, प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव के बिना यह भावना नही आ सकती कि 'मुझे किसी से वैर-भाव नही है।' इसमे से यदि कुछ भी हम से न हो सके तो हमारे—आत्मा के—विकास की दिशा मे एक कदम भी आगे नही बढा जा सकता। यदि आगे न बढा जा सके तो कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

यहाँ हम सुख की जो बाते कर रहे है सो 'आत्म-समदर्शिताभाव' को लक्ष्य मे रखकर कर रहे हैं। हमने देखा कि जिससे अन्य किसी को जरा भी दु ख पहुँचे वह हमारे लिये सुख का कारण कभी बन ही नही सकता। इसलिए स्वभावत हमारा अपने लिए सुख प्राप्त करने का प्रयत्न हमे जीव-मात्र का—समस्त जगत का—कल्याण चाहने की ओर खीच ले जाएगा।

यदि अहभाव का विसर्जन हो जाय, नम्रता जगे, नमस्कार भाव प्रकट हो, क्षमा वृत्ति उत्पन्न हो, मैत्रीभाव प्रकट हो, वैर भाव नष्ट हो जाय तो उसके सहजफल-स्वरूप हमारे हृदय मे 'शिवमस्तु सर्वजगत' (समस्त विश्व का कल्याण हो) की भावना अवश्य जाग्रत होगी। यदि यह भावना जाग्रत न हो तो हमे समझना चाहिए कि ऊपर बताये हुये मे से कुछ भी

हमारे भीतर विकसित नही हुआ है और यदि हमे ऐसा लगता हो कि इसमे से कुछ हममे है तो वह केवल भ्राति ही होनी चाहिए।

यहाँ कोई पूछेगा कि "उस शिवमस्तु सर्वजगत' की क्या आवश्यकता है? प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव रखे, और किसी के प्रति वैर भाव न रखे-क्या इतना काफी नही है? इन दो वस्तुओ से हमारे भीतर तटस्थ भाव तो प्रकट होती ही है। तटस्थ भाव धारण करके हम अपने कल्याण की आत्मलक्षी प्रवृत्ति मे मग्न रहे तो क्या हर्ज है?"

इसका उत्तर देना तो सरल है। सच्चा और वास्तविक तटस्थ भाव तो जीव मात्र के कल्याण की भावना मे है। इस बात को भूल कर यदि हम केवल अपना-अपने आत्मा का कल्याण-साधन करने की प्रवृत्ति लेकर ही बैठ जायँ तो हम इससे एक ओर स्वार्थ और दूसरी ओर 'उपेक्षा भाव' इस तरह दो प्रकार के दोषो मे पड जाँय, ऐसी सम्भावना है। इस प्रकार की उपेक्षा भावयुक्त तटस्थता मे से द्वेष का आविर्भाव होने की भी सभावना है।

उदाहरणत हम जिस मकान मे रहते हो उसके बाहर के आँगन को अपने मे समानेवाले गली के चौगान मे भावुक लोगो को एक समुदाय श्रावणमास मे भजन कीर्तन के हेतु प्रति दिन शामको एकत्र बैठता हो और उस समय हमारे बाहर जाने या घर आने का योग हो तब यदि हम कल्याण कामना के बदले केवल तटस्थ भाव लिये फिरते हो तो चूकि ये लोग हमारे मार्ग के अवरोधक होने से हमे बाधा पहुँचाते है, इसलिये उनके प्रति रोष या द्वेषभाव उत्पन्न होते देर नही लगेगी।

हाथी और खरगोश का उदाहरण लीजिए। साथ ही पैरो तले आती हुई चींटी की बात भी ध्यान में रखिये। उस खरगोश और चींटी को पैरो तले कुचले जाने से बचाने के लिए यदि केवल 'मुझे कर्मबधन होगा' ऐसा भाव ही मन मे हो तो उस समय पैर को ऊपर अधर मे उठाये रखने मे पडने वाला कष्ट सभवत हमें दुर्ध्यान मे धकेल देगा। इसके बदले उक्त दोनो प्राणियो के कल्याण की तथा उन्हे कष्ट न पहुँचाने की भावना से हम जो तकलीफ सहेगे वह हमें शुभध्यान की ओर ले जाएगी। कष्ट जन्य भयभीतता में कभी शुभध्यान नही आ सकता।

यह बात बहुत ध्यान मे रखने योग्य है। आत्मा के विकास-पथ मे यह एक अत्यन्त आवश्यक ज्ञान है। अत यदि हम सुखी होना चाहते हो, अपने आत्मा को कल्याण मार्ग की पग-डण्डी पर चढाना चाहते हो, तो उसका प्रारम्भ जीव मात्र का शिव-कल्याण चाहने से हो सकेगा। यह आत्मा के विकास-क्रम की एक परमावश्यक पगडण्डी है।

इतनी प्रास्ताविक विवेचना के पश्चात् 'सारे जगत का कल्याण हो' ऐसी मंगल भावना को अपने हृदय मे प्रतिष्ठित करके अब हम आत्मा के विषय में तात्त्विक विवेचना की ओर मुडते है।

इस विषय मे जैन दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित 'नवतत्त्व' के विषय मे जानकारी प्राप्त करना बहुत ही आनन्द प्रद एव उपयोगी होगा। इन नौ तत्त्वो के नाम निम्नानुसार है।

१ जीव
२ अजीव
३ पुण्य

४ पाप

५ आस्रव

६ सवर

७ बन्ध

८ निर्जरा

९ मोक्ष

इन नवो तत्त्वो का आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध होने के कारण आत्मा तथा उसके विकासक्रम को समझने मे इन नौ तत्त्वो की विवेचना हमारे सम्मुख एक नयी दुनिया प्रस्तुत करेगी । अब हम इन नौ तत्त्वो की क्रमश परीक्षा करेगे ।

१ जीव —

पहले हम निगोद तथा निगोद मे बसते हुए जीवो के विषय मे कह आये हैं । उस तथ्य को लक्ष्य मे लेते हुए यह बात तो स्वीकृत हो चुकी है कि इस विश्व मे अनादिकाल से अगनित असख्य, अनन्त जीवो का अस्तित्व है । यहाँ हमें निगोद से बाहर निकल कर इस ससार मे परिभ्रमण करने वाले जीवो के विषय मे विचार करना है ।

जीव अर्थात् जिसमे चैतन्य है—ऐसा आत्मा । जैन तत्त्ववेत्ताओ ने आत्मा के आठ मूल स्वरूप बताये है । वे आठ स्वरूप निम्नलिखित है —

(१) द्रव्य-आत्मा, (२) कषाय-आत्मा, (३) योग-आत्मा (४) उपयोग-आत्मा, (५) ज्ञान-आत्मा, (६) दर्शन-आत्मा (७) चारित्र-आत्मा (८) वीर्य-आत्मा ।

आत्मा के इन आठ स्वरूपो मे से दो 'हेय', दो 'उपादेय', तथा चार 'ज्ञेय' स्वरूप माने जाते है ।

जैन दार्शनिको ने आत्मा के मुख्य दो भेद कहे है —

१—ससारी

२—मुक्त

'ससारी' आत्मा अर्थात् कर्म के पुद्गलो से बँध कर इस संसार मे ससरण—परिभ्रमण करने वाले आत्मा। मुक्त अर्थात् सभी कर्मो का क्षय करके जो मुक्त हो गये है, मोक्ष मे गये है, वे आत्मा।

ससार मे परिभ्रमण करते हुए कर्मबद्ध आत्माओ के मुख्य दो भेद है, एक 'स्थावर' और दूमरे 'त्रस।'

जो जीव अपने आप गति नही कर सकते, जिन्हे नियत—आयुष्यकाल तक स्थिर रहना पडता है, और जो सुखप्राप्ति के या दु खनिवारण के प्रयत्न नही कर सकते, उन्हे 'स्थावर' जीव कहते है। इस विभाग मे 'पृथ्वीकाय' वनस्पतिकाय, वायुकाय, जलकाय तथा तेजस्काय' जीवो का समावेश होता है।

इन स्थावर जीवो के पुन दो प्रकार है, सूक्ष्म तथा स्थूल। स्थूल जीवो के लिए जैन पारिभाषिक नाम 'वादर जीव' है। इनमे से सूक्ष्म जीव अगणित एकत्रित हो तो भी चर्मचक्षुओ से दिखाई नही देते। वादर अथवा स्थूल जीवो को हम नङ्गी आँखो से देख सकते है। ये सव जीव केवल स्पर्शन-इन्द्रिय के द्वारा ही सवेदनो का अनुभव करने वाले एकेन्द्रिय जीव है। इसके सिवा उनके और कोई इन्द्रिय नही है।

जो जीव स्वेच्छापूर्वक चल फिर सकते है, उन्हे 'त्रसजीव' कहते है। दो, तीन, चार और पॉच इन्द्रियो वाले सभी जीवो का इनमे समावेश होता है।

जिनके त्वचा और जीभ, ये दो इन्द्रियाँ हो वे 'द्वीन्द्रिय जीव,'

जिनके त्वचा, जीभ, और नाक हो वे त्रीन्द्रिय जीव,

जिनके त्वचा, जीभ, नाक और आँख हो वे 'चतुरिन्द्रिय' जीव,

जिनके त्वचा, जीभ, नाक, आँख और कान हो वे पचेन्द्रिय जीव।

पचेन्द्रिय जीवो के चार प्रकार बतलाए गये है —

(१) मनुष्य, (२) तिर्यच, अर्थात् पशु-पक्षी आदि, (३) देवलोक मे बसनेवाले देवता और (४) नरकभूमि मे रहने वाले नारकीय जीव।

जीव के लिए 'आत्मा' शब्द का प्रयोग होता है। जो जीता था, जीता है, जिएगा सो जीव। 'अतति'—भिन्न-भिन्न गतियो मे गमन करे सो 'आत्मा'। चैतन्य—ज्ञान दर्शन, का स्फुरण जिसमे हो वह चेतन। जीव कहिये, चेतन कहिये, या आत्मा कहिये, मूल स्वरूप मे ये सब एक ही द्रव्य के अलग अलग सज्ञावाचक नाम है।

हम 'परिचय' प्रकरण मे इस जगत के आधारभूत जिन छ द्रव्यो का वर्णन कर आये है, उनमे से जीव—यह एक द्रव्य-(Substance) चैतन्यशाली (Living Substance) है।

यह स्थावर तथा त्रस कहलाने वाले ससारी अर्थात् कर्मबद्ध जीवो का वर्णन हुआ। मुक्त जीवो का वर्णन अन्तिम मोक्ष तत्त्व के अन्तर्गत किया जायगा।

२) अजीव.

'जड' कहलाने वाले उन सब पदार्थो का समावेश 'अजीव

तत्त्व' मे होता है, जिनमे जीवत्व–चैतन्य नही होता।

पहले हम जिन छ द्रव्यो का वर्णन कर चुके हैं उनमे से जीव द्रव्य उपर्युक्त जीव तत्त्व मे आ गया। बाकी के पाँचो द्रव्य-धर्म, अधर्म, पुद्गल, आकाश तथा काल अजीव तत्त्व के अन्तर्गत है। जीव-का-आत्मा का—इन पाँचो द्रव्यो के साथ सम्बन्ध है, और जीव समेत छहो द्रव्य ही विश्व है। ये छः द्रव्य विश्व की रचनाओ के आधारभूत है। जीव और अजीव के—चेतन तथा जड़ के सयोग से ही जगत चल रहा है। दूसरे शब्दो मे यो कह सकते है कि जीव और अजीव का सयोग ही ससार है।

३) पुण्य ४) पाप.

तात्त्विक अर्थ मे जिन्हे 'धर्म' और 'अधर्म' नामक दो द्रव्य कहा गया है वे पुण्य और पाप नही है। वे दो तो पदार्थ है और वस्तुओ को गति करने मे सहायक द्रव्य को 'धर्म' तथा स्थिति करने मे सहायक द्रव्य को 'अधर्म' नाम दिया गया है।

व्यावहारिक अर्थ मे हम पुण्य और पाप को क्रमश 'धर्माचरण तथा अधर्माचरण' कह सकते है। परन्तु जब 'नवतत्त्व' के सिलसिले मे तीसरे और चौथे तत्त्वो को 'पुण्य और पाप' के नाम से पुकारा जाता है तब उसका तात्पर्य हमे कर्म के पुद्गलो से बनने वाले पुण्य कर्म और पाप कर्म समझना चाहिये।

हम जो शुभ कर्म करते हैं वे 'पुण्य' और बुरे कर्म करते है वे 'पाप' है। पुण्य कर्म हमे सुख के साधन प्राप्त कराने मे कारणभूत है, और पाप कर्म हमारे लिये दुःख की सामग्री लेकर उपस्थित होते है।

कर्मविषयक पिछले प्रकरण मे हम मुख्य आठ कर्मो के विषय मे कह आये है। इनमे से पहले चार कर्म ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय-अशुभ परिणाम वाले होने से सभी पाप कर्म है। अन्तिम चार कर्म–नाम, आयुष्य, गोत्र और वेदनीय–'शुभाशुभ' है अर्थात् इनमे से हर एक मे कोई शुभ तो कोई अशुभ कर्म है, अर्थात् प्रत्येक मे पुण्य याने शुभ, तथा पाप याने अशुभ–ऐसे दोनो प्रकार के कर्म परिणाम होते है। भौतिक सुख और दुख के आधार क्रमश सत्कर्म तथा दुष्कृत्य है।

पुण्य और पाप रूपी कर्म कर्मबद्ध आत्मा के लिये उन्नति और अधोगति की दो विरुद्ध दिशाओ मे जाने वाली पगडडियो के समान है। आत्मा मध्यवर्ती स्थल (Centre) पर है। वह पाप-पुण्य की पगडडियो के द्वारा अवनति-उन्नति की ओर प्रयाण करता है। पापकर्मो से आत्मा अधोगति की ओर ढकेला जाता है, और पुण्यकर्म से आत्मा अपनी मुक्ति के पथ पर प्रयाण शुरु करता है। तात्त्विक दृष्टि से पुण्य और पाप दोनो आत्मा के ससार मे परिभ्रमण के कारण है, परन्तु आत्मा को मोक्षमार्ग की ओर गति करने के लिये आवश्यक योग्य सामग्री प्राप्त करने के हेतु पुण्य कर्मो का आश्रय लेकर ही प्रारम्भ करना पडता है।

५) आस्रव

ऊपर हम पुण्य और पापरूप कर्मो की वात कर रहे थे, उनमे पुण्य तथा पाप के उपार्जन का मुख्य प्रयोजक आत्मा का मनोव्यापार है। मन के इस व्यापार को वचन और कार्यो के द्वारा होने वाले कर्म पुष्ट करते है। इस प्रकार मन वचन

और काया के द्वारा बँधने वाले कर्मो का आत्मा के साथ सयोग होता है—इसे आस्रव कहते है। आत्मा के अध्यवसाय से कर्म के पुद्गलो का प्रवाह आत्मा मे प्रविष्ट होता है—यह क्रिया आस्रवण-रूप है इसलिये इसके प्रयोजक मन, वचन, काया के व्यापार को 'आस्रव' कहा जाता है।

मन से भला या बुरा चिंतन होता है। इस भले या बुरे चिंतन को वाणी कल्याणप्रद अथवा दुष्ट भाषा मे व्यक्त करती है तथा काया अर्थात् शरीर के अन्य अवयवो के द्वारा जो भला या बुरा आचरण किया जाता है उससे कर्मपुद्गलो का प्रवाह आत्मा मे खिच कर आता है, इसलिये इसे आस्रव या आश्रव कहते है। इसकी सक्षिप्त व्याख्या देनी हो तो हम आस्रव को आत्मा मे कर्मपुद्गलो के प्रविष्ट होने का द्वार भी कह सकते है।

आत्मा के विकासक्रम के साथ आस्रव का सीधा सम्बन्ध है। जैन दार्शनिको ने आत्मा के विकासक्रम की श्रेणी को 'गुण-स्थानक' नाम दिया है। कर्म के पुद्गलो का आत्मा मे प्रवेश करने का यह आस्रव-द्वार ज्यो-ज्यो छोटा होता जाता है त्यो-त्यो आत्मा का विकासस्तर उत्तरोत्तर ऊँचा होता जाता है। गुणस्थानको की सख्या चौदह है। 'नवतत्त्व' का निरूपण पूर्ण हो जाने के पश्चात् तुरन्त ही हम गुणस्थानको के विषय मे विचार करेगे। फिलहाल इतना समझ ले कि आस्रव अर्थात् आत्मा मे पुद्गलो के प्रविष्ट होने के लिए प्रवेशद्वार। कर्म-पुद्गलो को अन्दर आने का आमन्त्रण आत्मा स्वय अपने कर्मो तथा प्रवृत्तियो के द्वारा है देता।

६ संवर —

ऊपर हमने आस्रव को कर्मपुद्गलो के लिये आत्मा का प्रवेश-द्वार कहा है। अब, दरवाजा होता है तो उसे वन्द करने के लिये किवाड भी होते है। किवाड वन्द होने पर वाहर से भीतर जाने मे अटक या रुकावट होती है। आत्मा स्वय अपने मन, वचन और काया के व्यापारो से कर्म के पुद्गलो को अपने भीतर आने का आमत्रण भेजता है। उसी तरह वह अपने शुभ एव निर्मल परिणाम वाले व्यापारो से कर्मपुद्गलो को अन्दर आने से रोक भी सकता है। इस प्रकार जव कर्म के पुद्गल किवाड वन्द देख कर अन्दर आते अटक जाते है तव कर्म नही वधता। कर्म वधने से अटकने की क्रिया को एव आत्मा के जिस व्यापार से कर्म के पुद्गल आते हुए अटक जाते है उसे भी—दोनो को 'सवर' कहते है।

आज कल औद्योगिक योजना मे भाखरा नागल वाध जैसी सिचाई की जो योजनाएँ हुई है उनमे वहते हुए पानी को एक स्थान पर रोक कर उसका जमाव किया जाता है। उसे रोकने के लिए जो इमारती काम किया जाता है उसे डैम (Dam) अथवा वध कहते है। इस प्रकार इकट्ठी की हुई जलराशि को वध के दूसरी ओर जाने देने के लिए वन्ध के बीच-बीच मे सिमेंट और लोहे के द्वार वनाये जाते है। उन्हे खोलने और बन्द करने के लिए जो किवाड होते है उन्हे (Sluice gates) स्लुइस गेटस् कहते है। इन दरवाजो को जितनी हद तक खोलना आवश्यक हो उतनी हद तक कम या ज्यादह —खोल कर इस प्रकार कम या ज्यादह पानी दूसरी ओर जाने दिया जाता है।

यदि हम आत्मा को कर्म के वन्धन-रूपी जलाशयो के

बध—(Dam) की उपमा दे तो आस्रव को इस बध मे कर्म पुद्गल-रूपी जल के आने के प्रवेशद्वार वाली नहर कह सकते हैं और इस प्रवेशद्वार को बन्द करने वाले किवाड हम 'सवर' को कह सकते है। यह किवाड जितना भी ज्यादह या कम बन्द हो उतना कर्मप्रवाह कम या ज्यादह अन्दर आ सकता है और यदि बिल्कुल ही बन्द कर दिया जाय तो कर्म-प्रवाह बाहर ही अटक जाए।

आत्मा स्वय अपने निर्मल अध्यवसायो (व्यापारो) के द्वारा यह कार्य करता है, और उसके गुणस्थानक की श्रेणी ज्यो ज्यो ऊँची चढती जाती है त्यो त्यो सवर अर्थात् आस्रव-निरोध भी बढता जाता है। दूसरी ओर आत्मा सवर के द्वारा ज्यो-ज्यो आस्रव को बन्द करता जाता है त्यो-त्यो उसके गुण-स्थानको की श्रेणी ऊँची होती जाती है, उसका विकास (मोक्षमार्ग की दिशा मे) बढता है।

७ बंध —

सवर की अनुपस्थिति मे आस्रव के द्वारा आत्मा के प्रदेश मे प्रविष्ट कर्मपुद्गल आत्मा के साथ बध जाते है, जड जाते है, उनका स्वभाव, स्थितिकाल, रस और प्रदेशप्रमाण निश्चित हो जाता है और वे आत्मा के साथ ओतप्रोत हो जाते है। इस प्रक्रिया को 'बन्धतत्त्व' कहते है। कर्म की जो सारी थ्योरी (Theory)—कर्मशास्त्र—है उसका 'बधतत्त्व' के साथ सम्बन्ध है। कर्म-सम्बन्धी प्रकरण मे हमने जो मुख्य आठ प्रकार के कर्म बताये है, उनका आत्मा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध 'बन्धतत्त्व' कहलाता है। यह सम्बन्ध 'क्षीरनीरवत्' कहा जाता है, अर्थात् दूध मे जैसे पानी एकाकार हो जाता है, वैसे

ही कर्म का आत्मा से चिपकना और एकाकार हो जाना 'वध' के नाम से पहचाना जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कर्म के मुख्य आठ प्रकार है। तदुपरान्त उनके १५८ उपविभाग है, और उन उपविभागो के उपविभाग तो असख्य है। कर्मो की दुनिया भी विराट और अनेक आश्चर्यो से पूर्ण है।

कई कर्म जल की धारा की तरह वह जाने वाले होते है, क दूध की तरह चिकनापन अनुभव कराने वाले, कुछ दूध से अधिक गाढे, रेडी के तेल जैसे, कई कर्म कम चिपकने वाले ग ोद जैसे और कोई ऊँची किस्म के गोद की तरह चिपकने पर फिर न उखडने वाले होते है तो कई कर्म सिमेट-ककरीट की तरह पक्के चिपकने वाले होते है।

जिस प्रकार अदालत मे प्रस्तुत मुकदमो मे कई 'समरी सूट्स' अर्थात् तुरन्त निपटने वाले, कई स्मॉल-कॉज, अर्थात् छोटी रकम के और जरा अधिक समय मे निपटने वाले, होते है और कुछ लॉंग कॉज, अर्थात् वर्पो तक अदालत की सीढियो पर चढने वाले होते हैं, उसी प्रकार इन कर्मो मे से भी कई शीघ्र ही उदय मे आने वाले नकदी होते है, तो कई लम्बी अवधि के वाद उदय मे आने वाले होते है। कोई क ोई कर्म अनेक जन्मो के वाद भी उदय मे आते है।

जव किसी भी कर्म का वन्धन होता है तव उसकी समय-मर्यादा भी—(अर्थात् वह कर्म आत्मा के साथ कितने काल तक चिपका रहेगा) उसी समय निश्चित हो जाती है। जिस समय कर्म वँधता है, तव तुरन्त ही उसका फल-भला-बुरा परिणाम—मिल जाय, ऐसी वात भी नही है। वह अपने

नियम और विधान के अनुसार समय होने पर ही उदय में आता है।

दूसरी एक समझने योग्य तथा हमें आशा एव उत्साह प्रदान करने वाली बात यह है कि कर्म के उदय में आने का समय निश्चित होता है, किन्तु उसको भोगने का समय—केवल निकाचित कर्म को छोड कर—निश्चित नही होता। कर्म-बंधन के समय उसकी जो स्थितिमर्यादा निश्चित हुई हो, उसमें आत्मा अपने शुभाशुभ परिणामों वाले मनोव्यापारों—अध्यवसायों—के द्वारा परिवर्तन भी कर सकता है। इसे आप लोहे की थाली में सोने की कील कहिये या मरुभूमि में मीठे पानी का झरना कहिये, या घोर अधकार में रह कर चमक कर प्रकाश दे जाने वाली बिजली कहिये, ऐसा ही कुछ है। हम सब को मालूम है कि क्षण भर चमक कर पुन बादलों में छिप जाने वाली आकाश की बिजली जितना प्रकाश देती है उतना सूर्य, चन्द्र और असंख्य तारे मिल कर नही दे सकते।

यह तथ्य—कर्म के संविधान—Constitution—का यह अध्याय—प्रत्येक मोक्षार्थी आत्मा को अविरत उत्साह देने वाला है। कर्म के बँधने के प्रकारों में से कोई शिथिल, कोई मध्यम कोटि का, कोई गाढ, तो कोई अतिगाढ होता है। इनमें जो सब से अधिक—अत्यन्त गाढ—कर्म होता है, उसे जैन दार्शनिकों ने 'निकाचित कर्म' नाम दिया है। यह कर्म प्राय भोगना ही पडता है। उसके सिवा अन्य कर्मों का क्षय आत्मा अपनी भावना और साधना के पर्याप्त बल से—भोगे बिना भी कर सकता है।

हमने देखा कि आस्रव' के नाम से विदित मन, वचन

और काया के व्यापार से कर्म के पुद्गलो का आत्मा के साथ क्षीरनीरवत् घनिष्ठ सम्बन्ध से जुड जाना बध कहलाता है। 'बध' के चार प्रकार है, जिनके नाम इस प्रकार है, (१) प्रकृति (२) स्थिति, (३) अनुभाग (रस) (४) प्रदेश।

कर्म-रूप मे परिणत होने वाले 'कर्म पुद्गलो' मे आत्मा के ज्ञानादि गुणो को ढँकने की 'प्रकृति' अर्थात् स्वभाव का बन्धना—निश्चित होना 'प्रकृति-बन्ध' कहलाता है। अनेक प्रकार के परिणाम देने वाला यह स्वभाव आत्मा के गुण-रूपी प्रकाश पर बिछाये जाने वाले काजल के समान गहरे काले रग के परदो का काम करता है, और आत्मा के स्वभाव को ढँक लेता है। इसके मुख्य आठ प्रकार होने के कारण कर्म के भी मुख्य प्रकार आठ बताये गये हैं। आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी गुणो को अवरोध करने या उनके आव-रण बनने का काम करने वाले कर्मो को 'आवरणीय' कर्म कहा जाता है। ये कर्म अपनी कालावधि तक अथवा आत्मा के पुरुषार्थ से उसमे होने वाले परिवर्तन के अनुसार आत्मा से चिपके रहते है।

जिस समय कर्म बँधता है, उसी समय उसके बँधे रहने की जो कालावधि निश्चित हो जाती है, उसे 'स्थिति-बन्ध' कहते हैं।

जब कर्म बंधता है तब उसका मन्द, सामान्य, तीव्र, मध्यम या अति तीव्र—आदि जसा भी फल निश्चित हो जाता है उसे 'अनुभाग—बध' कहते है।

कर्म के पुद्गलो का समूह जिस न्यूनाधिक प्रमाण मे बँट कर आत्मा को चिपकता है उस प्रमाण को 'प्रदेशबध' कहते हैं।

कर्मबन्धन के मुख्य पाँच प्रकार के कारण बताये गये है —(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कपाय (४) प्रमाद तथा (५) योग।

आत्मभावना का अभाव, मोक्ष के विषय मे अश्रद्धा तथा सम्यग् ज्ञान—दर्शन—चारित्र के प्रति अरुचि को आत्मा की 'मिथ्यात्वदशा' कहते हैं। पाप कर्मो से प्रतिज्ञापूर्वक पीछे न हटना 'अविरति' कहलाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि विकारो को 'कपाय' कहते है। आचरण करने योग्य आचारो को भूल जाना अथवा शुभ कार्यो मे आलस्य करना 'प्रमाद' कहलाता है तथा मन, वचन, काया मे प्रवृत्ति करना 'योग' कहलाता है। ये सब संसार के हेतु या कारण हैं।

इनमे से मुक्त होने के लिए आत्मा जब 'संवर' के द्वारा 'आस्रव' को बन्द कर देता है, तब आत्मा का विकासक्रम प्रारम्भ होता है। सच्ची ज्ञान दृष्टि से 'मिथ्यात्व दशा' का निवारण होता है। अच्छे कर्म—धर्माचरण—करने से तथा पापाचरण बन्द करने से 'अविरति' का निवारण होता है। रागद्वेष से छुटकारा पाने की प्रवृत्ति के द्वारा 'कपायो' से मुक्ति मिलती है। आत्मा के लक्ष्य के विषय मे एव कर्त्तव्या-कर्त्तव्य के विषय मे सजग और सावधान रहने से 'प्रमाद' दूर होता है। मन-वचन-काया के शुभ परिणाम वाले उपयोग रूपी 'योग' से आत्मा के निर्मल परिणाम वाले स्वभाव को जाग्रत करके उसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति मे प्रयत्नशील बनाया जा सकता है। ये सब मोक्ष के

हेतु है। कर्म के बन्धनो को नष्ट करने वाले ये सब 'सवर' कहलाते है।

कर्म के पुद्‌गलो की रचना, उनका जुडना (पूरण) तथा अलग होना (गलन) आदि विपयक शास्त्र एक महान आश्चर्य-कारक तथा अति विशाल विपय है। कर्म के सिद्धान्त (थ्योरी) को पूर्णतया समझने मे अनन्त आनन्द तथा परम लाभ हो सकता है। इसकी विशेप जानकारी जैन साहित्य मे से ही प्राप्त होगी।

८) निर्जरा

'सवर' मे हमने कर्मवधन को रोकने की वात की है। 'वध' तत्त्व मे हमने आत्मा के साथ कर्म के जुडने की वात की, और इस 'निर्जरा' मे बँधे हुए कर्मों को छोडने की वात आती है। इसमे स्वभाव के अनुसार छूटने वाले तथा योजना के अनुसार छोडे जाने वाले कर्मो की वात आती है।

जैसे कर्म के दो भेद-सकाम कर्म और अकाम कर्म है, वैसे ही निर्जरा के भी दो भेद है—सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा।

हम जिन कार्यो को जानबूझ कर हेतुपुरस्सर करते है, वे 'सकाम कर्म' कहे जाते है, और अनायास होने वाले कर्म 'अकाम कर्म' कहलाते है। उसी तरह बँधे हुए कर्म अपनी कालावधि पूर्ण होने पर भुगते जाकर झड जाते है—सो 'अकाम निर्जरा' है, और शुभ हेतुपूर्वक तप, जप, व्रत, नियम आदि व्यापारो के द्वारा कर्मो का क्षय किया जाता है सो 'सकाम निर्जरा' है।

अग्रेजी का एक वाक्य है 'Prevention is better

than cure' जिसका अर्थ है," "(रोग का) इलाज करने की अपेक्षा उसे रोकना (न होने देना) बेहतर है।" यह उपदेश शारीरिक स्वास्थ्य के विषय मे है। बीमार होकर फिर दवाई आदि से इलाज करके अच्छे होने की अपेक्षा बीमारी को आने से रोक देना अधिक अच्छा है।

इसी प्रकार कर्मो को बाँधकर उसके बाद 'सकाम निर्जरा' के द्वारा उनका क्षय (नाश) करने की अपेक्षा उन्हे 'सवर' के द्वारा बँधने से रोक देना अत्यधिक उत्तम और श्रेष्ठ मार्ग है। फिर भी अज्ञानवश जो कर्म बाध लिये गये हो उन्हे भुगते जाने के लिए छोडने की अपेक्षा 'सकाम निर्जरा' के द्वारा उनका शीघ्र तथा दृढता के साथ क्षय करना भी उतना ही आवश्यक है।

९ मोक्ष

नौ तत्त्वो मे से अन्तिम नौवाँ तत्त्व 'मोक्ष' है। आत्मा को बाधकर बैठे हुए सभी कर्मो के क्षय का नाम 'मोक्ष' है। यह परम आनन्द और चरम सुख की स्थिति है। जन्म मरण का चक्कर मिट जाता है, अनन्त सुख का भोक्ता बना हुआ आत्मा मोक्ष तत्त्व को प्राप्त करके अपनी अनन्तानन्त—लाखो करोडो वर्षो की तथा अनन्त दुःखो की घटमाला के समान ससार यात्रा से मुक्त हो जाता है।

जब आत्मा अपने विकासक्रम की उच्च श्रेणी पर उच्चतम भूमिका पर पहुँचता है तब उसके आठो कर्मो का नाश हो जाता है। पहले चार घाती कर्मो के क्षय से केवलज्ञान प्राप्त होता है, और बाद मे वह चार अघाती कर्मो का नाश (क्षय) करके सिद्धत्व-मोक्ष प्राप्त करता है। वह ससार के गुरुत्वाकर्षण

में से छूट जाता है और लोकाकाश के अग्रस्थान पर अपना स्थान प्राप्त करके चिरजीव (शाश्वत) स्थिरता प्राप्त करता है।

मनुष्य की भोगोपभोग पर आसक्ति मे प्रायः 'स्त्री' का स्थान सबसे आगे है। आत्मा के इस भोग—स्वभाव को लक्ष्य मे रख कर कई धर्म—पन्थो ने आत्मा के अन्तिम ध्येय रूप मुक्ति को 'प्रियतमा' कहा है। पश्चिम एशिया मे सूफीवाद के नाम से प्रसिद्ध पथ मुक्ति को 'माशुक' मानता है। हमारे यहाँ भी श्रीकृष्ण के अनुयायीवर्ग मे श्रीकृष्ण की पत्नी 'राधा' को भजने वाला एक पथ है 'राधास्वामी' और दूसरा है 'श्री-राधे'। अपनी इच्छित प्रियतमा को प्राप्त करने के लिए भगीरथ पुरुषार्थ करना पुरुष का स्वभाव है—इस तथ्य को लक्ष्य मे रख कर ऐसे कुछ पन्थो के सस्थापको ने मुक्ति को 'माशुक' या 'प्रियतमा' बनाया है। लैला-मजनूँ तथा शीरी-फरहाद की प्रेमकथाएँ इस प्रकार के अनन्य प्रेम की प्रति-पादक है।

जैन धर्म मे भी आत्मा की अन्तिम मुक्ति को 'शिवरमणी' 'मोक्षललना' आदि नाम दिये गये है। प्रत्येक जैन आत्मा की आराध्य देवी यह 'मुक्ति' ही है। प्रत्येक मनुष्य की आराध्य देवी भी यही होनी चाहिए।

आराध्य देवी 'मुक्ति-रमणी' के प्रति जितना उत्कट प्रेम होगा, उसे प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ भी उतना ही तीव्र होगा।

कर्मबन्ध के कारणो के अभाव (सवर) के द्वारा तथा कर्मक्षय (निर्जरा) के द्वारा बचेखुचे कर्मो का नाश करने

पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। जब आत्मा मोक्ष मे जाता है और अपने अधिकार का स्थान प्राप्त कर लेता है तब कर्म-व्यापार के कोई कारण—शरीर इन्द्रियाँ और मन—उसके साथ नही होते। वहाँ उसका जो शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है, जो परमात्मस्वरूप है, केवल वही रहता है।

जो महात्मा मोक्ष प्राप्त करके परमात्मा वनते है, उनमे सिद्ध और तीर्थकर (अरिहत)—ये दो भेद है। सिद्ध परमात्मा अपने आठो कर्मो को क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते है, जब कि अरिहत परमात्मा प्रथम चार घाती कर्मो को क्षय कर केवल-ज्ञान प्राप्त करके तीर्थकर वनते हैं, और वाकी के चार अघाती कर्मो का क्षय होने से मोक्ष मे जाने का समय आवे, उससे पहले कुछ काल तक इस विश्व मे जगत के जीवो को सच्चा मार्ग वताने का असाधारण लोकोत्तर उपकार करते है।

अब हम ऐसे परम उपकारक श्रीतीर्थकर परमात्मा को वन्दन करके विकासक्रम की जिस श्रेणी के द्वारा उन्होने मोक्ष प्राप्त किया और हमे मार्ग वताया उन चौदह गुण-स्थानको का सक्षिप्त परिचय प्राप्त करेगे।

(१) मिथ्यात्व गुणस्थानक—

यह आत्मा के विकासक्रम की प्रथम श्रेणी है। जिन्हे सम्यग्दृष्टि प्राप्त नही हुई, आत्मकल्याण के सत्यमार्ग की तथा तत्सम्बन्धी सच्चे साधनो की जिन्हे जानकारी नही है, और जो अनेक प्रकार के अज्ञान तथा भ्रम लिए फिरते है, उन सब आत्माओ को गुणवत्ता की यह प्रथम कक्षा है। इस गुणस्थानक मे उन साधुसन्तो का भी समावेश होता है जो लौकिक दृष्टि से उच्च कोटि के आत्मा माने जाते है।

आत्मा, कर्म, धर्म और मोक्ष-मार्ग के विपय मे विपरीत खयाल लिये घूमने वाले भी इस स्थान पर आकर रुके होते है। उदाहरणार्थ कोई देवीभक्त यज्ञ करवाता हो, हिसादि का आचरण करता हो और फिर भी 'भगत' कहलाता हो तो उसका स्थान इस प्रथम भूमि पर ही है। इसी प्रकार आत्म-साधना करने वाला साधक भी यदि सत्य-मार्ग पर न हो तो उसका स्थान भी इस 'मिथ्यात्व गुणस्थानक' मे ही होता है। वडे वडे पडित, साधक, तपस्वी और धनवान दातागण भी इस श्रेणी मे हो सकते है। सामान्यतया कहा जाय तो कुछ भाग्यशालियो को छोड कर लगभग सभी आज गुणश्रेणी की इस प्राथमिक भूमिका पर ही है।

फिर भी हम यदि इस गुणस्थानक पर गुण लेकर आ खडे हो तो यह भी एक प्राथमिक सिद्धि ही है, क्योकि "मैत्री लक्षणा-मित्रा दृष्टि" प्राप्त करके हम इस गुणस्थानक पर आये है।

यह 'मित्रा' दृष्टि आत्मा को प्राप्त होने वाली आठ दृष्टियो मे से प्रथम सिद्धि है। आत्मा मे चित्त की मृदुता, तत्त्व के प्रति अद्वेपवृत्ति, अनुकम्पा, अशत भी अहिसा, सत्य आदि कल्याणदायक साधनो की अभिलाषा, आदि प्राथमिक सद्गुण 'मित्रा दृष्टि' से प्रकट होते है। आत्मा यह दृष्टि प्राप्त होने के फलस्वरूप इस प्रथम गुण-स्थानक मे आकर प्रवृत्ति करता है। परन्तु जब तक वह सम्यग्दृष्टि से वचित हो और मिथ्यादृष्टि को न छोडे तब तक उसका स्तर नही बढता। वह अनेक प्रकार के भ्रम तथा सभ्रम से पूर्ण प्रवृत्तियाँ करता रहता है। वह भौतिक क्षेत्र मे नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करता

रहता है, और 'मित्रा' दृष्टि से प्राप्त सद्गुणो का उपयोग भी करता रहता है, परन्तु जब तक उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नही होता अथवा मिथ्यादर्शन छोडा नही जाता तब तक उसकी गाडी प्रथम गुणस्थानक के स्टेशन से रवाना नही होती।

'मिथ्यात्वगुणस्थानक' को हम 'सभ्रम-सदन' का नाम भी दे सकते है।

प्रथम गुणस्थानक से आगे वढने के लिये 'सम्यक्त्व' एक साधन है। इस साधन को प्राप्त करने मे अनेकात दृष्टि तथा स्याद्वादतवत्त्वज्ञान की सहायता प्राप्त करने की प्रवृत्ति उपयोगी सिद्ध होती है।

२ सास्वादन गुणस्थानक —

यदि सम्यग् दृष्टि प्राप्त कर ली जाय तो फिर प्रथम गुण-स्थानक से चौथे गुणस्थानक को जाने की आत्मा की विकास-यात्रा तो शुरु हो जाती है परन्तु यह विकासयात्रा ऊर्ध्व-गामी—पर्वत के शिखर की ओर गति करने वाली—होने के कारण कदाचित् मार्ग मे अटक कर फिसल कर कुछ नीचे सरक कर 'सास्वादन' नामक दूसरे गुणस्थानक मे आ जाना पडता है। इसके लिए रागद्वेष की प्रवृत्ति जिम्मेदार होती है। यह गुणस्थानक चौथे गुणस्थानक पर पहुँचाने के वाद वापस गिरते समय का गुणस्थानक है, और अल्प समय का माना जाता है।

जैसे मनुष्य कोई सुन्दर, नाजुक चीज ले आता है और क्रोध, मोह आदि कषायो के कारण उसे तोड फोड देता है—या फेक भी देता है, उसी तरह सम्यग् दृष्टि रूपी सुन्दर सीढी प्राप्त करने के वाद अनन्तानुवधी (चिकने—चिपकने वाले)

कपायो का उदय होने से उसमे शिथिलता आजाती है और आडे या उलटे रास्ते चलकर पुन वह 'मिथ्यात्व' दशा की ओर गिरने लगता है। यह दूसरा गुणस्थानक बहुत ही अस्थिर होने के कारण ऊपर से गिरने पर यहाँ रुकने की प्रक्रिया अधिक देर टिक नही सकती—इस स्तर पर पतन-अवस्था इतनी तेज गति से चलती है। परन्तु एक बार आत्मा को सम्यग् दृष्टि प्राप्त होने के कारण उसके पुन जागत होने मे कोई सदेह नही है।

इस गुणस्थानक को यदि हम 'अवनतसदन' कहे तो भी ठीक ही होगा। पुन आगे बढने का मार्ग सम्यग् दृष्टि जाग्रत करना है, परन्तु वह यहाँ की पतन-अवस्था मे सभव नही है। वह तो अल्पकाल मे ही मिथ्या भाव मे अर्थात् प्रथम गुण-स्थानक पर जा गिरता है। अब वहाँ यदि मिथ्या भाव को दबा सके तो प्रयत्नजाग्रति पूर्वक उसकी गाडी यह दूसरा जक्शन लिये विना ही आगे बढ जाती है। और यदि न दबा सके, और मिथ्या भाव सहित तीव्र रागद्वेष मे भटक जाय तो वह प्रथम गुणस्थानक पर ही मग्न बना रहता है।

३ मिश्र गुणस्थानक —

यह अवस्था प्रथम दो गुणस्थानको से बढ कर होते हुए भी बडी विचित्र अवस्था है। यह आत्मा के विकासक्रम की मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के बीच झूलती हुई मिश्र अवस्था है।

एक मासाहारी मनुष्य मासाहार का त्याग करके शाका-हारी बनता है। इसके पश्चात् वह एक ऐसे भोजनगृह मे जाता है जहाँ दोनो तरह का भोजन बनाया और परोसा जाता है। उस समय उसकी पुरानी रुचि जाग्रत होती है। उसका मन

दूसरी ओर खिचता है और उसका नियम उसे शाकाहार की ओर खीच रखता है। उसी के समान यह स्थिति है।

तत्त्व के प्रति रुचि भी न हो ओर अरुचि भी न हो ऐसा सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिश्रण रूप—आत्मा की अत्यन्त विषम-अवस्था बनाने वाला यह अध्यवसाय है। 'यह सच है या वह सच है' ऐसी उलझन मे पड कर दोनो हाथो मे दोनो को रखने वाले मथनकाल की यह अवस्था है। आखिर तो दो मे से एक छूट जाता है। यदि मिथ्यात्व छूट जाय तो सम्यक् मार्ग की ओर उसकी विकासयात्रा आगे बढती है। यदि सम्यक्त्व छूट जाय तो फिर वह नीचे गिरता है, उसकी सारी मेहनत पर पानी फिर जाता है, और वह जहाँ था वही पुन लौट आता है। इस गुणस्थानक की मथनात्मक अवस्था अल्पकाल के लिये होती है।

हम इस गुणस्थानक को 'मथनसदन' कह सकते है। इस मथन से मुक्त हो कर विकासयात्रा को ऊर्ध्वगामी बनाने का साधन है 'विवेक' अर्थात् सारासार की पूर्ण समझ। यदि आत्मा इस मथनकाल मे विवेकबुद्धि का यथार्थ उपयोग करे तो वह नीचे गिरने से बच जाता है।

यहाँ पर मिश्र भाव स्पष्ट करने के लिये शास्त्रो मे नारियल—द्वीप के मनुष्य का दृष्टान्त आता है। यह मनुष्य अन्न को जानता ही नही, अत उस अन्न के प्रति रुचि या अरुचि-कुछ भी नही है। इसी तरह यहाँ पर सम्यक्त्व के प्रति रुचि या अरुचि नही होती।

४ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक—

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाय, निश्चय पूर्वक सत्य-मार्ग

पर दृष्टि स्थिर हो जाय, फिर भी मनुष्य भौतिक सुख के आकर्षण के कारण पापाचरण से मुक्त न हो सके, और स्वार्थ-वश पाप कर्म करता रहे उसे 'अवरति सम्यग्दृष्टि' कहते हैं।

इस स्तर पर आत्मा की आन्तरिक अवस्था सम्यग्दृष्टि होते हुए भी वाहर से वह 'मिथ्यादृष्टि' की तरह हिंसादि कर्म करता रहता है। फिर भी मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व मे जो भेद है वह यहाँ भी रहता ही है।

मिथ्यादृष्टि मे केवल स्वार्थ और भौतिक सुखो की प्राप्ति पर ही दृष्टि होती है, और इस तरह किये जाने वाले दुष्कृत्यो के प्रति ऐसे मनुष्य की सद्भावना होती है। मिथ्यादृष्टि आत्मा अपने अपकृत्यो का पश्चात्ताप करने के वदले प्रशसा करता है, अनुमोदन करता है, और इस प्रकार से प्राप्त की हुई सिद्धियो पर गर्व करता है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा आसक्तिवश, लाचार होकर दुष्कृत्य तो करता है, परन्तु उसे इसका दुःख सालता ही है। वह पश्चात्ताप करता रहता है और उसमे से छूटने मे प्रयत्नशील रहता है। मिथ्यादृष्टि को पुण्यपाप का अन्तर समझ मे नही आता, जब कि सम्यग्दृष्टि आत्मा यह अन्तर समझता है, और न करने योग्य कर्म करते हुए भी वह उनसे 'प्रतिक्रमण' करने मे—पीछे लौटने मे—प्रयत्नशील एव जाग्रत रहता है। एक ही प्रकार के कर्म करते हुए भी मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्दृष्टि मे यह वडा महत्त्वपूर्ण अन्तर है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा मे सात्त्विकता प्रकट हुई होती है, जब कि मिथ्यादृष्टि आत्मा कभी कभी सत्कार्य करता हो तो भी

उसकी स्थिति तामसिक होती है। सम्यग्दृष्टि आत्मा को अविरति मे से छूट कर विरति मे प्रयत्नशील होने की वडी प्रवल, ज्वलन्त अभिलाषा होती है। पाप कर्म मे से विरत (मुक्त) होना ही 'विरति' है और पापाचरण से विरत न होना 'अविरति' है। ये दोनो पारिभाषिक शब्द है।

इस गुणस्थानक मे सम्यग्दृष्टि के वावजूद 'अविरति' (अशुभ आचरणो की प्रवृत्ति भी) रहती है, अत इसे 'अविरत' सम्यग्दृष्टि नाम दिया गया है। वह स्तर आत्मविकास की मूल आधारभूमि है, इसलिए यदि हम इसे 'विकास-सदन' नाम दे तो उचित ही होगा।

उम स्थानक मे से आगे वढने का उपाय 'अणुव्रतपालन' है। यहाँ श्री नवकार मत्र की निष्ठा तथा रटन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। यह चतुर्थ गुणस्थानक प्राथमिक भूमिका वाले सभी आत्माओ का क्रमिक लक्ष्य-स्थान (Coneted place) है, और यह आत्मा के विकासक्रम की निश्चत ही एक आशास्पद भूमि है।

(५) देशविरति गुणस्थानक —

जैन तत्त्ववेत्ताओ ने आत्मविकास के अमूल्य साधनस्वरूप दो प्रकार के मार्ग वतलाये है—एक देशविरति और दूसरा सर्वविरति। निसदेह देशविरति मे से सर्वविरति मार्ग पर आना ही पडता है। इनमे से 'देशविरति' मार्ग ससार मे रहे हुए गृहस्थो के अनुसरण करने के लिये है और दूसरा सर्वविरति मार्ग वैराग्य प्राप्त कर साधु वनने वाले त्यागी वर्ग के अनुसरण के लिये है। ससार मे रहने वालो की सीमाओ को लक्ष्य मे रखकर 'देशविरति' मार्ग मे त्यागमार्गियो की अपेक्षा

कुछ विशेष छूट दी गई है जिससे ससारीआत्मा उसका निर्विघ्नता-पूर्वक पालन कर सके। इसमे 'त्रस' जीवो की हिंसा का त्याग आदि पाँच स्थूल व्रत (अणुव्रत), तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत—यो कुल बारह व्रतो की प्रक्रिया है। इस मार्ग का अनुसरण करने वाले ससारी जन पापयोग से सर्वथा विमुख नही हो सकते, परन्तु अशत पापविमुखता और पुण्यसम्मुखता उन्हे अवश्य प्राप्त होती है। 'देशविरति' तथा 'सर्वविरति' विषयक पूर्ण जानकारी के लिये श्री तीर्थंकर परमात्मा के द्वारा प्रतिपादित श्रावकधर्म और साधु-धर्म का अध्ययन करना चाहिए।

पचम गुणस्थानक पर पहुँचा हुआ आत्मा वीतरागता से बहुत दूर होते हुए भी अशत वीतरागता का मानसिक अनुभव कर सकता है, और इस दृष्टि से यह आत्मा के विकासक्रम की एक सुभग अवस्था है। देशविरति धर्म का पालन करते करते आत्मा सर्वविरति के प्रति रुचिमान्-इच्छुक बनता है और एक विशिष्ट प्रकार की उत्थान-वाछा का अधिकारी बनता है।

इस गुणस्थानक को 'उत्थान-सदन' कहना उचित ही होगा। इस पचम गुणस्थानक से आगे बढने का मार्ग 'सर्वविरति' धर्म की आराधना है।

(६) प्रमत्त गुणस्थानक —

साधक आत्मा देशविरति धर्म की आराधना करते करते जब 'सर्वविरति'—महाव्रत धारी साधुत्व—के स्थान पर आ पहुँचता है तब वह इस छठे गुणस्थानक पर आ गया होता है। वहाँ उसको सूक्ष्म हिंसा-असत्य आदि की भी त्रिविध

त्रिविध त्याग की आजीवन भीष्म प्रतिज्ञा होती है। परन्तु इस गुणस्थानक पर पहुँचने के बाद आत्मा को अल्प प्रमाद-दशा का विघ्न आ जाता है। वह कभी कभी आलसी तथा विकथा, विस्मृति आदि के वश हो जाता है, तब समभाव की सुदृढ आत्मजागृति मे कुछ भग पडता है। सर्वविरति धर्म के आराधक को उत्कृष्ट अवस्था पाने पर भी अनुचित आतुरता या असावधानी के कारण साधक मे प्रमादवशता प्रकट होती है। यहा मन्दकषाय को 'प्रमाद' नही माना गया है, बल्कि जब जरा भी आत्मलक्ष्य चूक जाय तब उस अवस्था को 'प्रमाद' माना गया है।

साधुजीवन मे भी 'प्रमाद' वश बनना अनादि कुसस्कारो के कारण सहज सभाव्य है। अत इस अवस्था को प्रमत्त-गुणस्थानक कहते है। फिर भी साधु स्वजागृति एव गुरु-नियन्त्रण के कारण अपने आचारो के प्रति चेतना अनुभव करता है, अत वह इस प्रमत्त अवस्था मे से मुक्त होने की पात्रता रखता है, और इस स्थिति मे से आगे बढता भी है। अप्रमत्त बनता है। परन्तु वह अवस्था बहुत नाजुक होने के कारण वहाँ से पुन यहाँ प्रमत्त अवस्था मे आ गिरता है। अप्रमत्त से भी आगे बढने की सभावना होती है, परन्तु वह किसी विरले को ही साध्य होती है।

फिर भी प्रमत्त गुणस्थानक पर आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे मग्न रहने के कारण लगभग आत्माराम बना होता है, इसलिए इस गुण-स्थानक को 'आरामसदन' कहा जाय तो उचित ही होगा। इस आरामसदन मे से ऊपर के सदन मे जाने का साधन है विशेष जाग्रतिवान् बन कर प्रमाद का

निश्चयपूर्वक त्याग करना ।

विश्व की वर्तमान साधुसस्थाओ मे जैन साधुसस्था को निस्सदेह सर्वोत्तम साधकमडल माना जाता है । जो कठिन आचार एव कठोर तपश्चर्याएँ जैन साधुओ के नित्य जीवन के समान है, उनकी बराबरी कर सके ऐसी अन्य कोई भी व्यवस्थित साधुसस्था विश्व भर मे नही है ।

(७) अप्रमत्त गुणस्थानक —

प्रमाद दशा का प्रयत्नपूर्वक त्याग करके प्रमादरहित कर्तव्यपरायणता मे प्रवर्तमान बन कर आत्मा सातवे 'अप्रमत्त गुणस्थानक' की उपकारक श्रेणी प्राप्त करता है । यहाँ विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि इस गुणस्थानक पर आने के बाद यहाँ स्थिर नही रहा जाता । या तो तेजी से ऊपर के गुणस्थानक की ओर प्रयाण होता है या बहुधा प्रमादवशता आजाने से साधक पुन नीचे 'आरामसदन' मे उतर जाता है । फिर से कर्तव्य-परायणता की रस्सी पकड कर अप्रमत्ता दशा मे पुन लौट आता है । इस प्रकार प्रमाद तथा अप्रमाद के बीच की कशमकश मे झोके खाता हुआ आत्मा जब अप्रमत्तता को दृढ बना देता है, और अपूर्व वीर्योल्लास प्रकट करता है तब उसके लिए वहाँ से आगे बढने का मार्ग खुलता है ।

इस गुणस्थानक मे साधक को अप्रमत्तता सहित सयम-योग मे अत्यत जागरूक रहने का परिश्रम करना पडता है । अत इसे यदि हम 'योगमदन' नाम दे तो उचित ही होगा ।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थानक —

जब साधक अप्रमत्त रह कर उत्कृष्ट चारित्र्य पालते पालते

चारित्र्य-मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करने का अपूर्व अध्यवसाय प्राप्त करता है, तब अब तक अप्राप्त-ऐसी एक अपूर्व भूमिका उसे प्राप्त होती है। यह आत्मिक उत्थान-काल का विशिष्ट भावोत्कर्ष है। यहाँ उसे कर्मों की स्थिति-रस का अपूर्व घात, अपूर्व सक्रमण, अपूर्व स्थितिबंध, और कर्म के उपशम या क्षय के लिये उसकी अपूर्व रचना (गुणश्रेणी) ये पाँच अपूर्व करने होते है, इसलिए इसे जैनागमो मे अपूर्व-करण गुणस्थानक कहा गया है।

यदि हम इस गुणस्थानक को 'अपूर्वसदन' कहे तो ठीक ही होगा।

(९) अनिवृत्तिकरण गुणस्थानक —

चारित्र्यमोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करते करते साधक को जो अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है वह उसे नौवे गुण-स्थानक मे ला देता है। यहाँ सर्व समान श्रेणी के आत्माओ के प्रति समानताभाव पूर्ण कलाओ से खिलता है, और साधक को अपूर्वकरण के विशिष्ट फल का निर्मल अनुभव कराता है।

इस गुणस्थानक को 'अनुभवसदन' कहना भी उचित होगा। वीतरागता की झाँकी इस गुणस्थानक से होने लगती है।

(१०) सूक्ष्मसपराय गुणस्थानक —

मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय होते होते अन्त मे केवल लोभ (राग) का सूक्ष्म अश बाकी रह जाता है। इस स्थिति को सूक्ष्मसपराय गुणस्थानक कहते है। साधक इस गुणस्थानक मे वीतरागता के बहुत निकट आ जाता है, और प्रयत्नशील जाग्रत दशा की पुष्टि करता हुआ परमात्मपद

प्राप्त करने के बिल्कुल करीब आ खडा होता है। यह वीतराग अवस्था की अपेक्षित 'मित्र अवस्था 'है, अत इसे हम 'मित्र-सदन' भी कह सकते है।

(११) उपशान्तमोह गुणस्थानक —

यह एक विशिष्ट प्रकार का गुणस्थानक है। सातवे से दशवे गुणस्थानक तक साधक मे सूक्ष्म राग द्वेषादि रहते है। आठवे मे अपूर्वकरण करके नौवे और दसवे मे साधक 'उपशम' या 'क्षय' की प्रवृत्ति करता है। इनमे से यदि उपशम की क्रिया प्रारभ की हो तो दसवे गुणस्थानक पर वह पूर्ण हो जाने पर आत्मा इस गुणस्थानक पर आता है। यहाँ पर मोह सर्वथा उपशात होने से इसे 'उपशातमोह' कहते है।

हमे 'उपशम' और 'क्षय' का अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। 'उपशम' अर्थात् बाह्य उपचारो से रोग को शात करना, और 'क्षय' अर्थात् रोग को जड से निकाल देना। जब डॉक्टर किसी रोग को कुछ समय के लिये दूर करने के लिए (Temporary relief देने के लिए) जो दवाई देता है उससे वह पीडा उस समय के लिए तो दूर हो जाती है। यह रोग का उपशम कहलाता है। परन्तु उस रोग के फिर लौट आने की (उथला देने की) सभावना दूर करनी हो तो अस्थायी उपचार से ऐसा नही किया जा सकता।

अग्नि को शात करने के लिए हम दो प्रकार के उपाय करते है। एक तो उस पर राख ढँक देते है। राख ढँक देने से अग्नि को प्रज्वलित होने के लिए वायु रूपी साधन नही मिलता, जिससे अग्नि धीरे धीरे शात हो जाती है, बुझ जाती है। परन्तु हवा का एकाध झोका आने से या अन्य किसी

कारण से यदि राख उड जाय तो उसका ज्वलन पुन शुरु हो जाता है। अग्नि को इस प्रकार शान्त करने के मार्ग को उपशम कहते है। इस उपशम मे जिस प्रकार अग्नि के पुनर्जीवित होने की सभावना रही हुई है उसी तरह कर्मो के उपशम मे-जब कर्म होते है तो-उनके फिर से भभक उठने की सभावना गुप्त रूप मे होती ही है।

इसके विपरीत यदि पानी से आग बुझा दी जाय तो उसका फिर से उद्दीपन नही होता। इस प्रकार जो परिणाम लाया गया, वह 'उपशम' से नही बल्कि 'क्षय' से लाया जा सका। उसी तरह जिन कर्मों का क्षय किया जाता है, वे पुन उदय मे नही आते।

तात्पर्य यह है कि यदि साधक ऐसा अपूर्वकरण करके उत्तरोत्तर सबधित कर्मो का क्षय करता हुआ आगे बढा हो तब तो उसके लिए कोई खास चिता करने का कारण नही रहता। परन्तु यदि वह कर्मो का उपशम करता हुआ आगे बढा हो तो ढँकी हुई अग्नि के समान कर्मो की लीला के कारण वहाँ से वापस फिसल पडने की निर्धारित स्थिति इस गुणस्थानक मे रही हुई है।

इस ग्यारहवे गुणस्थानक मे इस प्रकार का फिसलना निश्चित होने के कारण इसे हम 'फिसलन-सदन' कह सकते हैं। सामान्यतया साधक लोग, इस गुणस्थानक मे प्रवेश ही न हो--इस हेतु से, पहले से ही कर्म-क्षय करते हुए आना और इस गुणस्थानक को फाँद जाना अधिक पसन्द करते है।

(१२) क्षीणमोह गुणस्थानक —

जिन्होने कषाय स्वरूप चारित्र्य मोहनीय कर्म का क्षय

करने का पुरुषार्थ आरम्भ किया हो, ऐसे साधको के मोह का पूर्णत क्षीण होना—खत्म हो जाना—'क्षीणमोह गुणस्थानक' कहलाता है। इस गुणस्थानक मे चित्तयोग की पराकाष्ठा स्वरूप शुक्ल ध्यान-समाधि को प्राप्त करके अन्त मे ज्ञान-दर्शनावरण तथा समग्र अन्तरायचक्र का दलन करके साधक केवलज्ञान प्राप्त करता है। ग्यारहवाँ और बारहवाँ गुणस्थानक लगभग एक से है, फिर भी उनमे यह अन्तर है कि ग्यारहवे मे वीतरागता—समभाव—का स्थायित्व नही है, जब कि इस गुणस्थानक मे आने के बाद वह पूर्णतया स्थायी है।

अत यदि हम इस गुणस्थानक को 'वीतराग-सदन' नाम दे तो उचित ही होगा।

(१३) सयोगकेवली गुणस्थानक —

बारहवे गुणस्थानक को पार कर तेरहवे गुणस्थानक मे प्रवेश करने पर केवलज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु यहाँ 'सयोग' अवस्था होती है, इसलिए इसे 'सयोगकेवली गुणस्थानक' कहते है।

यहाँ 'सयोग' शब्द का जो प्रयोग हुआ है, उसका कारण यह है कि इस सयोगकेवली गुणस्थानक मे केवलज्ञानी आत्मा को अघाती कर्म भोगने के जब तक बाकी रहते है तब तक 'योग' अर्थात् शरीरादि के व्यापार बाकी रहते है। आना, जाना, बोलना आदि शारीरिक व्यापार केवली भगवत को बाकी रहते है इसलिए इस गुणस्थानक को 'सयोगकेवली' नाम दिया गया है।

यहाँ केवलज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश मे समस्त लोकालोक के तीनो कालो के सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष होते है। अत तेरहवे

गुणस्थानक को 'ज्ञानसदन' कहना उचित ही होगा।

(१४) अयोगीकेवली गुणस्थानक —

जब सयोगकेवली वीतराग परमात्मा ससारकाल पूर्ण होने पर तेरहवे गुणस्थानक के अन्त मे अपने शरीरादि के व्यापारो को समेट लेते है, तब वे अयोगी केवली बनते है। यहाँ पर तुरन्त ही सर्व कर्म नष्ट हो जाने से और शरीर छूट जाने से तुरन्त ही यह परम आत्मा अपनी आखिरी मजिल पूर्ण करके मुक्त बन कर ऊपर लोक के अन्त भाग पर पहुँच जाते है। मिथ्यात्व दशा के प्रथम गुणस्थानक से प्रारभ कर आत्मा का जो विकासक्रम चलता है वह चौदहवे गुणस्थानक मे पूर्णता प्राप्त करके चरम विराम पाता है, सिद्ध अवस्था के अतिम स्टेशन पर पहुँचा देता है।

इस अन्तिम एव सर्वोच्च गुणस्थानक को यदि हम 'सिद्ध-सदन' नाम दे तो अनुचित न होगा।

इस सिद्धत्व को प्राप्त करने के आत्मा के पुरुषार्थ का जबरदस्त वेगवान् समारोह—एक दिव्य नाटक—सातवे गुण-स्थानक से शुरु होता है। समग्र कर्मचक्र मे प्रधान सेनानी के समान मोहनीय कर्म के विरुद्ध वहाँ विराट युद्ध छिड जाता है। इस अभूतपूर्व सग्राम मे अकेला जूझता हुआ साधक एक महावीर नायक (A great Hero) का जो अद्भुत पार्ट अदा करता है उसका विवरण हमे आश्चर्य-चकित करने वाला, हमारे पुरुषार्थ को वेग देने वाला तथा इस दिव्य नाटक के नायक (Hero) का स्थान लेने की पवित्र प्रेरणा देने वाला है।

हमे ऐसा अपूर्व अवसर कब मिलेगा ?

卐 卐 卐

जीवन-झंझट

शीर्षक देख कर भडकियेगा नही। जीवन एक झंझट है और झंझट नही है। हमे यदि जीवन को झंझट के समान बना देना हो तो वह एक झंझट है, यदि उसे झंझट के समान न बनाना हो तो वह झंझट नही है।

जीवन के विषय मे, जीवन के ध्येय के विषय मे, जीवन जीने के मार्ग के विषय मे भाँति भाँति के मत प्रचलित है।

यदि आप किसी साधु सन्यासी से मिले तो वह कहेगा-"जीवन एक बडा झंझट है, ससार मे कुछ सार नही है। छोड दो भैया, इस ससार को छोड दो, सन्यासी बन जाओ, साधु बन के आत्मा का कल्याण करो।"

यदि आप किसी लोकनेता Public leader से मिले तो वह कहेगा—"ऐसी प्रवृत्ति मे लग जाओ जिससे समाज और देश का कल्याण हो। त्याग करो, बलिदान दो, मानवता की, दीन दु खी की, दरिद्रनारायण की सेवा करो।"

यदि आप दोनो मतो को लेकर अपने पिताजी से मिले तो वे कहेगे, " छोडो यह सब झंझट। चार पैसे कमाने मे मन लगाओ, ये सब तो अमीरो या फकीरो के काम है। हमे तो सब से पहले अपना घर सम्हालना है। देखो भाई, इन सब झंझटो मे न पडना।"

फिर यदि आप विवाहित है और अपनी पत्नी से पूछते है तो वह क्या कहेगी? वह कुछ इस तरह की बात कहेगी—"उस गुणवन्ती बहन के पति के पास क्या था? पहले तो

उनके पति बिल्कुल खुक्क थे । आज उनका अपना बगला है, मोटर कार है, नोकर चाकर है, सोने के जेवर तो सब के पास होते है, उनके पास तो हीरे और मोती के कैसे सुन्दर जेवर है कि देख कर मुँह मे और आँख मे भी पानी आजाय। इस गुणवन्ती बहन के रोब की तो कोई हद नही है। कुछ ऐसा करो कि मै उन्हे नीचा दिखा सकूँ।"

यह बात आगे बटाने से पहले विलायत के एक अमीर और एक मजदूर कुटुम्ब की बात मुझे याद आ रही है। बात बहुत ही रसमय एव अर्थपूर्ण है, इसलिए उसे यहाँ प्रस्तुत करने की इच्छा होती है।

दो सखियाँ साथ पढती थी। उनमे गाढ मित्रता थी। एक का नाम था 'फ्रेनी' और दूसरी का 'ल्युसी'। फ्रेनी ने एक अमीर से शादी की और ल्युसी ने एक मजदूर से।

फ्रेनी के पास हीरे माणिक के जेवरो का ढेर था, जब कि ल्युसी इमिटेशन, नकली—सस्ते गहने लाकर पहनती।

उक्त गुणवन्ती बहन की तरह फ्रेनी का रोब भी बेहद था। वह जहाँ तहाँ अपनी अमीरी की डीग हाँकती थी। अपना वैभव बताकर अपनी सखियो को चकाचौध करने का उसे बडा शौक था। इस हेतु से वह जब तब अपने आलीशान महल मे दावते देती, सखियो को भोजन का निमन्त्रण भेजती, अपने यहाँ सब को एकत्रित करती, और सब के बीच अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन किया करती थी। जब उसकी अन्य सखियाँ यह सब देख कर अपनी लघुता अनुभव करती और उसके वैभव की तथा उसकी प्रशसा करती तो फ्रेनी गर्व से फूली न समाती। उसे बडा गढ जीतने का आनन्द होता।

एक बार उसने ऐसी ही एक दावत दी । इस बार उसने वडा भारी समारोह तथा ठाट बाट किया । उसने अपनी 'श्रमिक पत्नी—सखी' ल्युसी को भी बुलाया ।

फ्रेनी हीरे माणिक और नीलम के चमकते गहने पहन कर सबके बीच बैठी । फिर उसने सब को सुनाते हुए ल्युसी से पूछा—

"माई डियर ल्युसी, ये सब जेवर तुमने देखे ? मेरे ये हीरे जब धुंधले पड जाते है या मैले हो जाते है तो उन्हे साफ करने के लिए मै पेरिस से केमिकल मँगाती हूँ। माणिक साफ करने के लिए स्पेशल सोल्युशन वेनिस से आता है। नीलम की सफाई के लिए 'डिलक्स लिक्विड' ठेठ न्यूयार्क (अमेरिका)से मॅगाती हूँ। हा-तो बहन, तुम अपने गहनो की सफाई कैसे करती हो ?"

वहाँ बैठे हुए सब लोग समझ गये कि सब के बीच नकली गहने पहन कर ठाट से बैठी हुई ल्युसी को शर्मिन्दा करने के लिए ही फ्रेनी ने यह प्रश्न पूछा था । परन्तु ल्युसी बडी चतुर थी । उसके चेहरे पर शर्मिन्दगी बिल्कुल नही आई । उसने हँसते हँसते वडे मजे मे ऐसा जवाब दिया कि सुन कर फ्रेनी की जवान बन्द हो गई। वह जवाब इस प्रकार है—

"ओ माई डियर फ्रेनी, मै तो ऐसे धोने वोने के झझट मे पडती ही नही । मले होने पर फेक ही देती हू ! I just thiow them out"

यह एक विनोदपूर्ण व्यग है । पहली निगाह मे हमे इसमे ल्युसी की बुद्धिमत्ता तथा हाजिर जवाबी के दर्शन होते है। परन्तु इसमे इतना ही नही है । हम जीवनविषयक जो चर्चा

यहाँ कर रहे है उसका एक सुन्दर जवाब भी इसमे है।

फ़ेनी एक करोडपति की अर्धाङ्गिनी है। उसके पास धन-दौलत की कोई कमी नही है। फिर भी उसे इतने से ही सन्तोष नही है। ऐसी दावतो मे, दूसरो को चकाचौंध करने मे तथा नीचा दिखाने मे वह अपना सन्तोष ढूँढती है।

ल्युसी के पास धन-दौलत नही है। उसका पति एक मामूली मजूर है। परन्तु उसे इस बात का दुःख नही है। नकली गहने पहन कर भी वह आनन्द प्राप्त कर लेती है। वह धनवान फ़ेनी से भी अधिक शान और रोब रख सकती है। इन सबके पीछे कौनसा तत्त्व काम करता है ?

विचार करने पर प्रतीत होगा कि ल्युसी के ऐसे मस्त व्यवहार के मूल मे 'सन्तोष' है। वह अपने पास जो वस्तु नही है उसके खेद या तृष्णा मे दुःखी होने के बदले, अपने पास जो कुछ है उसका अच्छे से अच्छा उपयोग करके मस्त और सन्तुष्ट रह सकती है। यह सन्तोष सुखी जीवन जीने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

मनुष्य को स्थिति और संयोग तो कर्मो के कारण मिलते हैं। कैसे भी संयोग हो, आनंदित रहना या उदास रहना, मस्त बने रहना या अपना रोना रोते रहना, आलसी बन कर बैठे रहना या उत्साहपूर्वक काम करना, प्रायः मनुष्य के मन की स्थिति पर निर्भर है। मन की स्थिति को मस्त बनाने के लिये 'स्याद्वाद' की पर्याप्त जानकारी जैसा उपयोगी अन्य कोई उपाय नही है।

संसार को असार मानना, तथा साथ ही साथ अपने चारो ओर जो सार है उसे ग्रहण करते रह कर मस्त जीवन जीना

इसके समान उत्कृष्ट मार्ग ससारी आत्माओ के लिये अन्य कोई नही है। 'स्याद्‌वाद' हमे इस ससार मे रहे हुए असार और सार का यथार्थ दर्शन कराता है।

दु ख से त्रस्त हुए कई ससारी महानुभाव भी ऐसा कहते हुये पाये जाते हैं कि 'ससार असार है।' कई एकान्तवादी सज्जनो को ऐसा कहते सुना है कि 'इस ससार मे कोई सुख नही रहा, सन्यस्त अगीकार करने के सिवा अब अन्य कोई मार्ग हमारे लिये नही है।

ऐसी बात सुनकर पूज्य श्रीहरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज रचित कुछ श्लोक याद आए विना नही रहते।

श्रीहरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज फरमाते है—

'वैराग्य तीन प्रकार के होते है—

(१) आर्तध्यान गर्भित (दु खगर्भित)

(२) मोहगर्भित

(३) ज्ञानगर्भित

दु.ख, उद्वेग और रोप जिसके मूल मे हो उसे आर्तध्यान कहते है। इष्टवियोग तथा अनिष्ट-सयोग आदि निमित्त असह्य लगने के कारण उनसे छूटने के लिए जो वैराग्य होता है वह आर्तध्यानगर्भित वैराग्य माना जाता है। उसमें अपनी शक्ति के अनुसार भी हेय (त्यागने योग्य) पदार्थ का त्याग तथा उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थ का ग्रहण नही होता। इस प्रकार का वैराग्य 'आर्तध्यान' की प्रधानता के कारण उद्वेग करने वाला, विपाद से पूर्ण तथा आत्मघातकला आदि का कारण होता है। उसे मात्र लोकदृष्टि से ही वैराग्य कहा जाता है।

'मोहगर्भित' वैराग्य मे जो 'मोह' शब्द है वह सासारिक मोह के अर्थ मे नही बल्कि ऐकातिक मूढ दृष्टि के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। ऐसे एकातवादी तत्त्वज्ञान से सम्पन्न सत्य वैराग्य भी भ्रातिजनक होने के कारण उसे छोड कर ज्ञानगर्भित वैराग्य ही स्वीकार करना चाहिये, ऐसा जैनशास्त्रकारो ने माना है। ज्ञानगर्भ वैराग्य अर्थात् जिसमे अनेकातवादी तत्त्वो का अनुसरण करने वाला निर्मल ज्ञान हो ऐसा वैराग्य।

मोहगर्भित वैराग्य किसे कहते है और ज्ञानगर्भित वैराग्य क्या है? ये दोनो बाते श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज ने समझाई है। उन्होने फरमाया है कि,

"आत्मा एक (ही) है, आत्मा नित्य (ही) है, आत्मा अबद्ध (ही) है, आत्मा क्षण-क्षयी (ही) है या आत्मा असत् (ही) है—इस प्रकार के एकान्तनिर्णय से ससार की निर्गुणता को बार बार जानने के बावजूद, और उसके त्याग के लिये उपशम तथा सदाचार का भावपूर्वक सेवन करने पर भी ऐसे लोगो का वैराग्य ज्ञानगर्भित नही, अपितु मोहगर्भित ही है।

उन्ही का वैराग्य सद्ज्ञानगर्भित होता है, जो स्याद्वाद की समझ का अवलबन कर आत्मा को समष्टि चैतन्य रूप मे एक परन्तु व्यष्टि चैतन्य रूप मे अनेक, द्रव्य रूप मे नित्य परन्तु पर्याय रूप मे क्षणिक, निश्चयनय से अबद्ध पर व्यवहार नय से बद्ध, पर स्वरूप मे असत् परन्तु स्वरूप में सत् इस प्रकार दोनो बाते यथास्थित मानते है, तथा ससार-दशा मे बाह्य पौद्गलिक कर्मो के सम्बन्ध से, इच्छा द्वेषादि कषायो के अधीन-पराधीन बन कर भयकर भवससार में भटकते हुए अपने आत्मा को उनमें से मुक्त करने के लिये जो विधिपूर्वक

ससार का त्याग करते है। उनका वैराग्य ही ज्ञानगर्भित तथा सिद्धि का अनन्य साधन बनता है।

अब साधु, बावा, सत, महन्त, ओझा, स्वामी आदि आज कल के वैरागी वर्ग की ओर दृष्टि फिराइए। इनमे से ऐसे कितने होगे जिन्होने ज्ञानगर्भित वैराग्य से प्रेरित होकर ससार का त्याग किया हो ?

यहाँ आलोचना करने का हमारा आशय नही है। इसमे सदेह नही कि त्यागमार्ग उत्तम है। किसी भी त्यागी वैरागी को देख कर मस्तक अपने आप झुक जाता है। सर्व विरति मार्ग का पालन करने वाले जैन साधुओ तथा आत्मा की समस्त विश्व के साथ 'आत्मसमदर्शिता' के हेतु अपूर्व ध्यान धरने वाले वेदान्ती सन्यासियो के समागम से जानी हुई और देखी हुई उनकी त्यागभावना एव आत्माभिलाषा के सामने सदा मस्तक झुकता ही रहा है। जैन साधु जो कठिन आचार पालते है उसे देखकर दुनिया भर के समझदार लोगो ने आश्चर्य व्यक्त किया है। जैन साधुओ के आचार, उनकी दिन चर्या, और उन्हे जिन मर्यादाओ का पालन करना पडता है, उनका अध्ययन करने वाले किसी भी सज्जन को अवश्य इस बात की प्रतीति हो जाएगी कि "यह ससार की सर्वोच्च साधु-सस्था है।"

यहाँ यह बात कहने का उद्देश्य इतना ही है कि केवल ससार मे कुछ कठिनाइयो की परपरा देख कर उनका सामना करने की अशक्ति के कारण ही वस्त्र बदल लेने मात्र से कोई अर्थ नही निकलता। साधुत्व का मार्ग तो अति कठिन है। ससार की कठिनाइयाँ देख कर उनसे घबराने वाला व्यक्ति साधु बन कर कितनी प्रगति कर सकेगा, यह सोचने की बात

है। विशेषत संन्यस्त मार्ग ग्रहण करने के इच्छुक संसारी मित्रों को तो इस मार्ग पर कदम रखने के पहले आत्मवृत्तियो का पूरा पूरा विश्लेषण कर लेना चाहिए, और खुद को जो वैराग्य उत्पन्न हुआ है उसके कारणो का पूर्ण पृथक्करण करना चाहिए।

इस जीवन को झझट मानने वालो की मान्यता मे अधिकतर तो ससार के झझट भरे झझावात नही, वल्कि मुसीवतो का मुकावला करने की अशक्ति, दुर्वलता आदि ही कारणभूत है। अपने कर्त्तव्य का पालन करने की अशक्ति, नित्यकर्म की उपासना के मार्ग मे अवरोध करने वाली विडवनाएँ और इन सव के प्रति मानसिक क्रोध हमें दूसरी दिशा के विचारो की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार की विचारधारा मे पलायनवृत्ति escape tendency —होती है और यदि ऐसा ही है तो यह कोई सद्गुण नही है, यह आत्मा की दुर्वलता है। जव कि एक मात्र मानव भव मे ही सुलभ, सर्वथा निष्पाप जीवन जीने की इच्छा से ही यदि त्यागमार्ग की ओर अग्रसर हुआ जाय तो वह सच्ची ज्ञानदशा है।

कई लोग जीवन मे प्राप्त करने की भौतिक सिद्धियो के विषय मे वडे वडे स्वप्न रखते हैं। वे इन स्वप्नो को सिद्ध नही कर सकते। जो चाहिये सो नही मिलता, जो मिलता है सो पसन्द नही आता। ऐसे लोगो को यदि जीवन झझट प्रतीत हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या ?

जीवन मे सिद्धि प्राप्त करने के लिये सव से अधिक महत्त्व अपनी स्थिति, सयोग और शक्तिमर्यादा निश्चित करने का है। यह सव समझ लेने के वाद हमे यह निश्चित कर लेना

चाहिए कि विद्यमान साधन-सामग्री तथा शक्ति की सीमित उपलब्धता का आधार हमे कहाँ तक पहुँचा सकेगे। हमारे स्वप्नो की रचना इन सीमाओ के भीतर होनी चाहिए।

अहमदाबाद से बम्बई जाने का टिकट पाँच रुपये के एक नोट मे नही मिलता। उसी तरह हमारे सजाये हुए स्वप्न भी आवश्यक सामग्री एव योग्यता के अभाव मे सिद्ध नही होते। जब हम स्वप्नो की रचना करते है तब उनकी सिद्धि की कल्पना से हमे जो आनन्द होता है, वह भ्रान्ति साबित होने पर-अभीष्ट ध्येय की प्राप्ति न होने पर हमारा प्रारभ का आनद असीम दु ख मे परिणत हो जाता है। हमारे अवास्तविक स्वप्न ही हमारे असीम दु ख के कारण बन जाते है।

अतएव, जीवन का ध्येय निश्चित करते समय सर्व-प्रथम हमे अपनी योग्यता और अपने साधनो की सीमाओ का निश्चय कर लेना चाहिए। यदि हमारी अभिलाषा और हमारी क्षमता मे मेल न बैठता हो तो उससे निराश होने की आवश्यकता नही है। ऐसी परिस्थिति मे हम 'दो बातें' अवश्य कर सकते हैं।

एक तो यह कि हम अपने ध्येय को अपनी क्षमतानुसार सीमित रखे, दूसरे अपनी योग्यता बढाने मे प्रयत्नशील हो। ज्यो ज्यो हमारी क्षमता मे वृद्धि हो त्यो त्यो हम अपने ध्येय का भी विस्तार करते जायँ। इस पद्धति का अवलम्बन कर यदि हम अपने जीवन का ध्येय तथा उस ध्येय तक पहुँचने का मार्ग निर्धारित करे तो जीवन एक झझट के समान नही बल्कि परम-आनन्द प्रमोदकारी नन्दनवन के समान बन जाएगा। हमारे जीवन की इस प्रकार की रचना मे 'स्याद्वाद'

हमे बहुत सहायता दे सकता है। इस शब्द का आत्मा जो 'स्यात्' है, वह हमारे जीवन के, हमारी शक्ति के एव हमारी योग्यता–अयोग्यता की सीमा के सभी पहलुओ का भान कराता है, और हमे क्रमश आगे बढने का मार्ग दिखाता है। यह श'क्त 'स्याद्वाद' मे ही है।

जीवन मे जब दु.ख आ पडे तब उसमे घबरा कर रोने नही लगना चाहिए। सर्व प्रथम तो हमे इस बात की जाँच करनी चाहिए कि जीवन मे इस दु ख के सामने हमारे पास अन्य सुख कितने पडे है। इससे हमे आये हुए दु ख मे एक प्रबल आश्वासन अवश्य मिलेगा। उसके बाद हमे अपनी विवेक बुद्धि को यह जानने के लिए उपयोग मे लेना चाहिए कि वह दु ख क्या है, उसका स्वरूप कैसा है, उसका कारण क्या है, और उसको दूर करने का उपाय क्या है? दु.ख के सामने के सुखो का विचार हमारे मन को शान्त और सुव्यवस्थित करेगा और इस तरह शान्त बने हुए चित्त से अपनी विवेक बुद्धि से काम लेकर यदि हम विचार करने लगेगे तो हमे स्पष्ट प्रतीत होगा कि आये हुए या माने हुए उस दु ख की छाया दूर की जा सकती है। दु ख के पीछे सुख रहा ही हुआ है। इस प्रकार विचार करने से हम दु ख के कारणो को अवश्य जान सकेगे। जानने के बाद उन्हे दूर करने का पुरुषार्थ हम उत्साह-पूर्वक कर सकेगे। 'स्याद्वाद' के द्वारा हमे यह सब समझने और विचार करने का मार्ग अवश्य प्राप्त होगा।

इसी प्रकार जब जीवन मे अतिशय सुख आ पड़े तब 'यह सुख क्या है, कहाँ से आया, कैसे आया, उसका कारण क्या है, इसकी कालावधि कितनी रहेगी, उसके बीच अन्य कोई

विडम्बनाएँ आ पड़ेगी या नही,—इन सब बातो का भी हमे विचार करना ही चाहिए। इस प्रकार विचार करने से उसके दो परिणाम निकलगे।

एक तो यह कि मिले हुए सुख से उन्मत्त होने के बदले हम उसका विवेक-पूर्वक उपभोग कर सकेगे। दूसरा यह कि हम इस सुख के बाद आने वाले दु ख को या तो दूर हटा सकेगे या उसे हँसते-हँसते झेलने के लिए अपने आपको कटिबद्ध कर सकेगे। इसके अतिरिक्त हमारे भीतर अपने सुख मे से दूसरे को हिस्सा देने की परम उपकारक वृत्ति भी उत्पन्न होगी। इस प्रकार से विचार करने की राह भी हमे 'स्याद्वाद' मे से मिलेगी।

कई बार हम परिवार के लोगो, मित्रो तथा स्नेही जनो के वर्ताव से रज का अनुभव करते है, उदास हो जाते हैं। उस समय यदि हम उनकी और अपनी धारणा के अन्तर की जाँच करे, उक्त स्थिति उत्पन्न होने के कारणो की खोज करे, और उन्हे दूर करने के उपाय सोचे तो हम मतभेद की इस मनोव्यथा से मुक्त हो सकते हैं। ऐसा विचार करने का मार्ग भी हमे 'स्याद्वाद', बतलाता है।

'स्याद्वाद' सिद्धान्त का स्थापित अर्थ यह है कि किसी भी वस्तु या विषय के एक से अधिक पहलू होते है। 'स्याद्-वाद' को शिक्षा का मध्य बिन्दु यह है कि किसी भी बात पर विचार करते समय उस एक ही पहलू पर सोच कर रुक जाना नही चाहिए।

एक के बदले दो पहलुओ का विचार करने के विषय मे एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त है। यह दृष्टान्त बडे मनोरजन के साथ-

साथ गंभीर ज्ञान देने वाला है —

द्वितीय विश्वयुद्ध के अरसे मे सेना मे भर्ती करने के काम के लिये एक कुशल अग्रेज अधिकारी नियुक्त किया गया। Recuiting officei-भर्ती अधिकारी कहलाने वाले ये महाशय गाँव गाँव घूम कर वहाँ के युवक वर्ग को एकत्रित कर सेना मे भर्ती होने के लिए भाषण देते थे। उन्होने एक स्थान पर जो भाषण दिया उसका थोडा सा उपयोगी और मनोरजक भाग नीचे दिया जाता है —

"नाम लिखा दो, फौज मे भर्ती हो जाओ। किसी भी चिन्ता का कोई कारण नही है।

"तुम फौज मे भर्ती हो जाओगे तो 'दो बाते' होगी। या तो तुम्हे यहाँ छावनी मे रखा जायगा, या युद्ध के मोर्चे पर भेजा जायगा।

"यदि यहाँ की छावनी मे रखा जाय तो कोई चिन्ता नही है—No worry. यदि युद्ध के मोर्चे पर जाना पडे तो 'दो बाते' होगी —

"या तो तुम्हे पीछे—Reai—रखा जायगा या आगे—Front—रखा जायगा। यदि पीछे रखा जाय तो फिकर नही–No woiiv—यदि आगे रखा जाय तो 'दो बाते' होगी—

"या तो तुम शत्रु पर हमला करोगे या शत्रु तुम पर हमला करेगा। यदि तुम हमला करोगे तो कोई चिन्ता की बात नही है—No woiry यदि शत्रु तुम पर आक्रमण करे तो 'दो बाते' होगी—

"या तो तुम कैद किये जाओगे या घायल हो जाओगे।

यदि कैद हुए तो 'नो वरी' (चिन्ता नही) यदि घायल हुए तो 'दो बाते होगी ।

(यह दो बातो वाला विवरण बहुत लम्बा है, अतः उसे सक्षिप्त कर हम यहाँ अन्तिम भाग प्रस्तुत करते है ।)

" दो बाते होगी । या तो तुम जिन्दा रहोगे या मर जाओगे । जीवित रहे तो 'नो वरी ।' मर गये तो 'दो बाते' होगी ।

"या तो तुम स्वर्ग मे जाओगे या नरक मे । यदि स्वर्ग मे गये तो 'नो वरी' ।

इस दृष्टान्त के आखिर मे नरक मे जाने का और वहाँ बहुत से मित्रो से मिलने का जो उल्लेख है उसमे वर्तमान जीवन पर बडा भारी व्यग्य है । इसके द्वारा उक्त अग्रेज अधिकारी यह कहना चाहते है कि हम मे से अधिकाश लोग जिस प्रकार का जीवन जीते है उससे नरक के अधिकारी है । 'अधिकाश लोग नरक मे जाते है' इस व्यग्य को छोड़ भी दे तो भी 'दो तरह' से विचार करने का सुझाव तो सारे चुटकले मे है ही । केवल दो नही, बल्कि जितने हो सके और जितने मिल सके उतने सभी पहलुओ से विचार करने की आदत डालने मे लाभ ही है । 'स्याद्वाद' हमे इस प्रकार से विचार करना सिखाता है ।

इस प्रकार यदि हम स्याद्वाद पद्धति का विवेकपूर्वक उपयोग करेगे तो हमे ज्ञात होगा कि जीवन मे दीख पड़ने वाली विषमताओ तथा झझटो और उनके विपरीत हमे मिलने वाले सुखो तथा आनन्दो का केन्द्रस्थान हम स्वय ही है । ये सवेदन हमारे भीतर से ही आते है, बाहर से नही । अपनी

इच्छा के अनुसार सवेदन पैदा करना हमारे हाथ की बात है। 'स्याद्वाद' का सिद्धान्त हमे यह भी समझाता है।

'स्याद्वाद' सिद्धान्त का अनुसरण करके हम ज्यो ज्यो उसे पचाते जाएँ त्यो त्यो सुख और दु ख—दोनो प्रकार के परस्पर विरोधी सवेदनो पर हमारा काबू हो जायगा। समता, समभाव तथा सहिष्णुता अपने आप हमारे भीतर प्रकट होते जायेगे। हम क्षणिक सुख दु ख की जकड से धीरे धीरे मुक्त हो कर अनन्त आनन्द के भोक्ता बन सकेगे। इस आनन्द मे भी हमे स्व एवं पर का कल्याण करने की उदात्त भावना ही देखने को मिलेगी। 'स्याद्वाद' के बिना ऐसा परम कल्याणकारी परिस्थिति का सृजन कभी नही हो सकता।

स्याद्वाद हमे अन्याय या अनीति को सहन करने या चला लेने की शिक्षा नही देता। जहाँ जरूरत हो वहाँ लड़ लेने को भी वह मना नही करता। परन्तु ऐसी परिस्थिति मे जिसे हम अन्याय एवं अनीति मानते है वह सचमुच अन्याय या अनीति है या हमे अपने स्वार्थ एव मोह के कारण ऐसा यथार्थ दिखाई देता है—इस बात की स्पष्ट प्रतीति हमे स्याद्वाद कराएगा। फिर जब लड लेने की न्याययुक्त आवश्यकता होगी तब स्याद्वाद ही हमे लडने की न्याय-सगत बुद्धियुक्त एवं समभावपूर्ण पद्धति बताएगा। इस मार्ग पर हमारी सफलता एव विजय निश्चित है।

इस ससार मे सद्गुणो का जो समूह है उस सारे को हम कर्म की विचित्रता तथा उसके कारण आत्मा से चिपकी हुई अशुद्धता के कारण धारण नही कर सकते। सद्विचारो का सान्निध्य एव ज्ञान होते हुए भी हम असद् विचार तथा

अयोग्य कार्य करते ही रहते है। हमारी इच्छा न होते हुए भी केवल परिस्थितिवश हमारे हाथो दुष्कर्म हो जाते है। समस्त ससार की यह स्थिति है।

इसी तरह कुछ सत्कार्य हमारी इच्छा के विरुद्ध भी हो जाते है। हम किसी प्रकार की यथार्थ जानकारी के विना ही अच्छे कार्य भी करते है। प्रभु के दर्शन करके मन्दिर से बाहर निकलते समय रास्ते के दोनो ओर बैठे हुए भिखारियो को हम कभी कभी पाई-पैसा या लड्डू, चना भी बाँट देते है, तो कभी कभी रास्ते मे मिलने वाले किसी भिखारी पर क्रोध भी करते है। जगह जगह ऐसा देखने को मिलता है।

हमारे सभी कार्यो की पृष्ठ-भूमि मे कोई सुस्पष्ट विचार नही होता। हम रूढि, परपरा, स्वभाव, आदत एव परिस्थिति के अधीन हो कर अधिकाश बर्ताव करते है। हम इस बात का विचार करने भी नही रुकते कि हमारे हाथो जो हुआ है सो भला है या बुरा, खरा है या खोटा। अपने किसी कार्य के कारण बाद मे चलकर कोई कठिनाई पैदा होने पर विचार करने के लिए हम भले रुकते हो पर इस तरह रुकने का कारण हमारे हाथो हुए दुष्कृत्य का पश्चात्ताप कदाचित् ही होता है, अधिकतर तो हम इस विषय का ही विचार करते है कि उपस्थित परिस्थिति मे से कैसे मार्ग निकाला जाय ? उसमे से छुटकारा कैसे हो ? अजीब बात तो यह है कि इन विचारो के फलस्वरूप हम एक दुष्कृत्य के परिणाम से छूटने के लिए पुन दूसरे दुष्कृत्यो को अपनाने लगते है। हमे इस बात का खयाल नही होता कि अपने हाथ पैरो मे पड़ी हुई बेडियाँ तोड़ने के लिए हम जो मार्ग ग्रहण करते है उससे

आखिर हाथ पैरो मे से निकली हुई बेडियाँ फिर हमारे ही गले मे पडने वाली हैं। यह सब भी इस ससार मे सामान्यतया देखने को मिलता है।

असली मजा तो तब आता है जब हम किसी विषम परिस्थिति मे फँस जाते हैं।

यदि कोई पूछे—"अरे चन्दु, यह तूने क्या किया ?"

तब चन्दु जवाब देगा, "नही, मैने नही किया। स्थिति ही ऐसी थी, सयोग इस प्रकार के थे, परिस्थिति वैसी थी, फला आदमी बीच मे आया और फला आदमी इसमे विघ्न बना। यो हुआ और त्यो हुआ।" ऐसी बहुत सी अप्रस्तुत बाते कह कर आखिर चन्दु कहेगा कि, "मै इसके लिए जिम्मेदार नही हूँ।"

चन्दु जो बात करता है ऐसी बात वह अकेला ही करता है, ऐसा न माने। अधिकाश लोग इसी प्रकार की बाते किया करते है। अपनी कठिनाइयो तथा उपाधियो की जिम्मेदारी का टोकरा दूसरो के सिर पर रख देने की मनोवृत्ति सर्व-सामान्य है। इसके अपवाद थोडे ही होते है।

जीवन मे ऐसे अनेक झझटो का अनुभव होने का मुख्य कारण यह है कि हमे जीवन का, जीवन के उद्देश्य का, जीवन जीने की पद्धति का सुस्पष्ट ज्ञान नही होता।

यदि हमे यह ज्ञान हो जाय तो फिर यह जीवन एक झझट न रहे। यदि हम यह ज्ञान प्राप्त कर ले तो जीवन स्वर्ग बन जाय। यह जानना बहुत आनन्ददायक होगा कि इस विषय मे जैन दार्शनिको ने कौन सा मार्ग बताया है।

आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—इन पाँच इन्द्रियो

से मनुष्य का मन काम करता है। इन पाँचो मे से यदि एक इन्द्रिय भी काम न करती हो तो ऐसे शरीर को 'खडित अंग' कहते है। शरीर के ये पाँच मुख्य अग है। ससारी आत्माओ के लिए पाँच मुख्य आचार वताये गये है।

इन पाँच आचारो के नाम निम्नानुसार है,—

१) अहिंसा
२) सत्य
३) अस्तेय
४) ब्रह्मचर्य
५) अपरिग्रह

इन पाँचो पर पाँच अलग-अलग ग्रन्थो की रचना हो सकती है, ये सिद्धान्त इतने महान्, अर्थगभीर तथा परम कल्याणकारी है।

ये पाँचो आचार अच्छा जीवन जीने के राजमार्ग (High ways) है। जब हम मोटर मे बैठकर वाहर जाते है तब मोटर को सडक पर ही चलाते है। यदि हम सड़क के एक ओर या दूसरी ओर नीचे उतर जाँय तो अवश्य दुर्घटना हो जाती है। इसी तरह जीवन जीने के लिए यदि हम इन पाँच आचाररूपी सडक पर ही चले तो कोई झझट उपस्थित नही होता। यदि हम उसके वाहर निकल जाँय तो अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती है।

'अहिंसा' शब्द का अर्थ मात्र मानव की हिंसा न करने तक या मात्र काया से जीव हिंसा न करने तक सीमित नही है। हमारे किसी भी विचार, वचन या कार्य से किसी को दुःख पहुँचे तो उसे भी हिंसा माना जाता है। किसी भी स्थूल

या सूक्ष्म प्राणी के शरीर को पीडा या दु ख हो तो वह तो हिसा है ही, अपितु किसी के मन को जरा सा दु ख पहुँचे ऐसे सभी कर्म भी हिसा मे समाविष्ट है। फिर वे काया से हो, वचन से हो, चाहे विचारो से हुए हो।

कर्म के सम्बन्ध मे 'मनसा, वाचा, कर्मणा' इन तीनो प्रकारो का समावेश हो जाता है। मन, वचन या काया से होने वाले सभी कार्य (कर्म) आत्मा के लिए बन्धन पैदा करते है।

आज 'अहिसा' शब्द तो विश्वव्यापक (Universal) समझ का विषय है। पहले के २३ तीर्थंकरो द्वारा एव चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर स्वामी और भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवहमान रखे हुए इस शब्द का-मानव-अहिसा का-राजनीति मे एव समाज-जीवन मे व्यापक उपयोग करने का भगीरथ पुरुषार्थ करके स्वर्गीय महात्मा गाँधी ने दुनिया के सभी लोगो को 'अहिसा' शब्द से परिचित बना दिया है।

फिर भी अहिसा का बहुत स्थूल अर्थ ही दुनिया के बडे हिस्से तक पहुँच पाया है। पर अर्थात् अन्य मानव को दु ख पहुँचाने वाला कोई कार्य नही करना, यही अहिसा है, ऐसा सीमित अर्थ ही अधिकाश लोग समझते है। परन्तु जिस कार्य से पशु पक्षी, यहाँ तक कि किसी भी सूक्ष्म जीव को भी दु ख हो, और 'स्व' अर्थात् हमारा अपना अहित हो, वह कार्य करना भी हिसा है। अहिसा का ऐसा पारमार्थिक अर्थ अभी तक अधिक लोग समझे हो ऐसा नही मालूम होता।

अहिसा के सच्चे अर्थ मे तो मनुष्य ही नही, अपितु पशु-पक्षी, कीडे-मकोडे आदि निराधार जीवो की हिसा भी वर्ज्य

हैं, क्यो कि उनकी हिंसा करने से भी हमारा हृदय कठोर तथा क्रूर वनता है। ऐसे हृदय मे सात्त्विक भावो का उदय नही हो सकता। अत आजकल 'परहिंसा' के विषय मे विश्व के छोटे वडे जीवो मे से केवल मानव तक सीमित अर्थ जो प्रचलित है वह तो अत्यन्त अपूर्ण है। जव कि 'स्वहिंसा' शब्द का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का कार्य तो अभी तक लगभग सारा बाकी है।

यहाँ 'हमारा अहित' यह शब्दावलि भौतिक या स्वार्थी अर्थ मे प्रयुक्त नही है। यह तो निश्चित ही है कि हमसे जो कुछ पर-अहित होता है, उससे हमारा अपना भी आखिर तो अहित ही होता है। ध्यान से देखने पर मालूम होगा कि आजकल 'परहित' करने का जो व्यापक अर्थ है उसके पीछे 'स्वहित' का वास्तविक विचार नही होता। हमारे प्रत्येक कार्य से जो कर्मबधन होता है, उसका सामान्यतया 'स्व' को अपेक्षा से बहुत कम विचार किया जाता है। इसका फल यह हुआ है कि 'स्व' और 'पर' अलग अलग विषय वन गये है। अपने हित के लिए चाहे जैसा आचरण करके उसके बाद यदि सभव हो तो 'पर'-हित का विचार कर लेने की मनोवृत्त व्यापक वन गई है। इसका कारण यह है कि हमने अहिंसा का 'पर' स्वरूप समझा है, स्व-स्वरूप नही समझा।

हमारे जो जो कार्य दूसरो के लिए कष्टदायक हो वे सब-उनसे हमे जो कर्मवन्धन होता है उसके कारण-हमे भी आगे पीछे कभी न कभी दु खदायक होगे। इस बात का ज्ञान न होने के कारण ही हम अहिंसा का स्वलक्षी स्वरूप नही समझ सके हैं। इस ज्ञान के अभाव के कारण हम 'विश्वकल्याण' की

जो बातें करते हैं उनमें से हमारी अपनी बात को अर्थात् हमारे अपने वास्तविक एवं आत्मिक कल्याण की बात को छोड़कर करते हैं। और जब हमारे निजी स्वार्थ की कोई बात आती है तब हम पर-कल्याण को भूलकर हमें जैसा अनुकूल और सुविधाजनक प्रतीत हो वैसा व्यवहार कर लेते है।

'स्व' और 'पर'-अहिंसा के ये दोनों स्वरूप परस्पर जुड़े हुए हैं। इन दोनों को एक साथ रख कर अच्छा जीवन जीने का विचार करना ही श्रेयस्कर है। 'पर' को अलग करके 'स्व' का विचार नहीं हो सकता। इसी तरह 'स्व' को पृथक् करके 'पर' का विचार भी एकान्तत हानिकारक है।

यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। उदाहरणार्थ—मुसीबत में फँसे हुए एक अंधे मुसाफिर को हम सीधे रास्ते पर—राजमार्ग पहुँचाना चाहते है। गाँव के बाहर सीधी सड़क पर ले जाकर उसके बाद कुछ मोड पार कर उसे राजमार्ग पर पहुँचाना है। गाँव से बाहर पहुँचने पर हमें विचार आता है कि अब गाँव से बाहर तो निकल आये, आगे जाने का कष्ट क्यों उठाएँ ? यह सोचकर हम उस अंधे मुसाफिर से कहते हैं—

"भाई, अब लकड़ी के सहारे चले चलो। दाहिनी ओर दो जगह मोड आएँगे। इसके बाद दो जगह बाईं ओर मोड आएँगे। इसके बाद एक बार दाहिनी ओर मुडने के बाद मुख्य रास्ता—राजमार्ग आ जाएगा। सीधे चले जाना।"

उस अंधे मुसाफिर को हम इतनी सूचना देते है। वह भला आदमी इतनी दूर तक पहुँचाने के लिये हमें धन्यवाद

देकर लकडी ठोकता ठोकता आगे बढता है। हम गाँव और घर की ओर लौटते है।

वह मुसाफिर तो चला जायगा, परन्तु हमारे हृदय मे एक कसक जरूर रह जाएगी कि 'उसे राजमार्ग तक पहुँचाया होता तो अच्छा होता।' यह कसक रह जाय तो फिर भी ठीक है, परन्तु यदि हमारे हृदय मे ऐसा कोई भाव जाग्रत ही न हो तो उससे लापरवाही के कारण हमारा अपना भी अहित होगा क्योकि वहाँ हम दया भाव के साथ साथ कर्तव्य मे भी चूके है।

इसी तरह जब जब हम अपने कर्तव्य से चूकते है तब तब उससे दूसरे का नुकसान भले न भी होता हो, हम अपना तो अहित ही करते है। यहाँ हमे 'स्व' और 'पर' का अन्तर समझ मे आएगा। 'कानून की परिभाषा मे Ignorance of law is no excuse 'कानून का अज्ञान कोई बहाना—क्षम्य कारण—नही है। हमारी कानून की दलील वहाँ नही चलती। परिणाम भोगना ही पडता है।

उसी तरह कर्म और आत्मा के नियम भी दृढ है। हम अनजान मे भी जो अपराध करते है उसका फल अवश्य मिलता है। हेतु के अस्तित्व पर, अनस्तित्व पर, मन्दता या तीव्रता पर उसके परिणाम के न्यूनाधिक प्रमाण का आधार रहता है, इतना जरूर है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि जब जब हम अधर्म य अनिच्छनीय आचरण करते है, तब उसके द्वारा हमारे अपने ऊपर जिसका प्रभाव पडे ऐसा हिंसात्मक कार्य ही हमारे हाथो होता है।

हमे रास्ते मे कोई अच्छी कहानी की किताब मिली। किसी की गिर पडी थी हमने ले ली। इसके बाद वह पुस्तक

उसके मालिक को वापस मिल जाय ऐसा प्रयत्न हमे करना ही चाहिये। यदि न करे तो परायी वस्तु उठाकर हम अपना ही अहित करते है। 'स्व' और 'पर' हिंसा का यह सारा विषय भली भाँति समझने योग्य है। इसकी जानकारी जैन साहित्य मे मिलेगी। खास कर 'जीवविचार' 'नवतत्त्व' और 'कर्मग्रन्थ' पढ लेने से बहुत लाभ होगा।

इस प्रकार हम देखते है कि पूर्णतया 'अहिंसक' जीवन व्यतीत करने मे प्रयत्नशील रहना ही जीवन को नीव मे से सुन्दर बनाने का प्रथम उपाय है।

दूसरी बात सत्य से सम्बन्धित है। सत्य का अर्थ है, असत्य या अयोग्य कथन या विचार न करना। असत्य मे भी हिंसा की बात आती है। हमारे असत्य वचन अथवा असत्य आचरण से किसी अन्य को दुःख अवश्य होगा। यह तो हुई परहिंसा और इसमे हमे जो कर्मबन्धन होगा वह है 'स्वहिंसा।'

'अस्तेय' अर्थात् चोरी न करना। यह 'चोरी' शब्द कानूनी भाषा मे जिसे 'चोरी' कहते है, उसी तक सीमित नही है। इसका विशेष अर्थ यह कि, जो हमारा नही है, न्यायपूर्वक हमारा नही है, उसे स्वीकार न करना। जो न्यायपूर्वक हमारे अधिकार का हो उसके अतिरिक्त कुछ भी लेना 'स्तेय' (चोरी) माना गया है। यहा भी हिंसा-अहिंसा की बात आती है। दूसरे के हक का लेने मे दूसरे को जो दुःख पहुँचता है सो हिंसा—परहिंसा। इस प्रकार लेने मे हमे जो कर्मबन्धन होता है सो 'स्वहिंसा' है।

'ब्रह्मचर्य' शब्द का अर्थ तो बहुत विशाल है। इस आचार का पालन संसारी मनुष्यो के लिये संभव नही है। परन्तु

व्यवहार मे इसे दो प्रकार से लागू किया गया है। एक तो परस्त्री के प्रति कुदृष्टि या कुविचार न करना, क्योंकि विचारो से सेवन किया जाने वाला अब्रह्मचर्य भी हानिकारक तथा सर्वथा वर्ज्य है। दूसरा, स्वपत्नी के साथ अपने व्यवहार मे भी अब्रह्मचर्य का सेवन सीमित रखना। इस कलियुग मे जो लोग परस्त्री को माता तुल्य गिनते हैं, और पत्नी के साथ अब्रह्म-सेवन को सीमित रखते है, वे महानुभाव भी एक प्रकार के ब्रह्मचारी ही है। मन, वचन और काया-इन तीनो पर अकुश आवश्यक माने गये हैं। मन मे परस्त्री के विषय मे अयोग्य विचार करना भी एक महा-अब्रह्मचर्य है। यहाँ भी उपर्युक्त 'स्व' तथा 'पर' हिंसा की बात तो आती है। यह बात आसानी से समझी जा सकती है।

पाचवाँ जो अपरिग्रह का आचार बताया गया है, वह तो बहुत बड़ी समझने योग्य और अवश्य पालन करने योग्य बात है। इसका सीधा सादा अर्थ है- अपनी आवश्यकताओ से अधिक सग्रह न करना।' इसमे आवश्यकता शब्द बडे महत्त्व का है। गुजराती मे एक लोकोक्ति है जिसका अर्थ है,—"चीटी को कन और हाथी को मन।" (कीडीने कण ने हाथीने मण) मनुष्य को कितना अपने पास रखना चाहिये और कितना नही, इसका भी स्पष्ट मार्गदर्शन शास्त्रकारो ने किया है। फिर भी प्रत्येक मनुष्य को अपना आवश्यकताओ की सीमा स्वय विवेक-पूर्वक निर्धारित करके उससे अधिक जो कुछ मिले, सो या तो लेना ही नही चाहिये या उसका सदुपयोग करना चाहिये। दूसरो के लिये—जिन्हे उसकी आवश्यकता हो उनके लिये उसका उपयोग करना चाहिये। ऐसा करने से अपरिग्रह के

आचार का अशत पालन अवश्य होता है।

अपरिग्रह के विषय मे जैन शास्त्रकारो ने जो कहा है वह बहुत ही ध्यान देने योग्य है। आज इस भौतिक जगत् में हमारे चारो ओर जो सामाजिक तथा राजनैतिक दुर्दशा दिखाई पडती है उसके लिये इस (अपरिग्रह के) आचार का अभाव भी जिम्मेदार है।

धनवान तथा गरीब वर्ग के बीच करुण असमानता और धनवानो एव सत्ताधारियो की शोषणनीति देखकर कार्ल मार्क्स नामक जर्मन विचारक ने एक नये प्रकार का अर्थशास्त्र लिखा। उसमे से प्रेरणा प्राप्त कर लेनिन ने रूस मे एक जबरदस्त क्रान्ति उपस्थिति की। उसमे से साम्यवाद तथा समाजवाद के नाम से परिचित विचारधाराओ का उद्भव हुआ। उसमे से रक्तमय (हिंसक) क्रान्तियाँ हुई।

कार्ल मार्क्स तथा उसके समान अन्य विचारको को ऐसे विचार क्यो सूझे? हजारो-लाखो वर्षो पहले जैन समाज-शास्त्रियो ने अपरिग्रह का जो अर्थशास्त्र बनाया था यदि विश्व भर मे उसका पालन हुआ होता तो द्वेष, विद्वेप, तिरस्कार, मारकाट, और व्यापक हत्या से पूर्ण घटनाएँ विश्व मे न होती। विना हक के जो छीन कर लिया गया था और सग्रह किया गया था वह उसी प्रकार छिन गया। वहाँ कर्म-सिद्धान्त अपना काम तो कर गया। परन्तु कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्टेलिन, चाऊ एन लाइ, आदि साम्यवादियो द्वारा अपनाई गई विचारधाराएँ तथा कार्यप्रणालियाँ भी विघातक ही है, क्योकि इनके पीछे अहिसा की कोई भावना नही है। खूब हिंसा और द्वेष की मात्रा तथा परमात्मा एव धर्म से

अश्रद्धा इस विचारधारा की पृष्ठभूमि है। इससे अन्ततोगत्वा मानवजाति का भयानक अहित ही होने वाला है।

यह बात बहुत ध्यान देने योग्य है। आज का जीवनस्तर अत्यन्त खर्चीला बन गया है। सादगी का स्थान ठाटबाट ने ले लिया है। नम्रता का स्थान अहता ने लिया है, विवेक के स्थान पर बडप्पन और आडम्बर आ बैठे है। सब को और और अधिक की जरूरत है। इस 'अधिक' के पीछे दूसरो से विशेष' का भाव छिपा हुआ है। फलत स्वार्थ—केवल स्वार्थ—के सिवा दूसरा कुछ नही दिखाई देता। आज अपरिग्रह की विश्व-कल्याणकारी भावना की छाया भी नही दिखाई देती। यह सब हमे कहाँ ले जाएगा ?

शोषको की हिसा के विरुद्ध साम्यवादियो की हिसा आई। हिसा तो बनी ही रही। हिंसा से हिसा का नाश कभी नही हो सकेगा, फिर चाहे वह साम्यवाद-छाप हिसा या लोकशासन-छाप हिसा। हिसा से हिंसा नही मिटती, हिंसा से दुख खत्म नही होता, हिसा से सुख प्रकट हो हो नही सकता। यह तो एक बडा विषचक्र (Vicious circle) है। अपरिग्रह का अभाव इसके मूल मे है।

मानव जाति सुख और शान्ति चाहती है। इसका असली और सफल उपाय अपरिग्रह के पालन तथा सादगी मे सन्तोष मानने मे है। विश्व के इतिहास मे जो अनेक युद्ध हुए है उनके मूल मे परिग्रह की लालसा ही रही है।

दुनियाँ को आज—सर्वदा—शान्ति चाहिए। शान्ति की स्थापना और उसकी रक्षा का सही उपाय क्या है ? सैनिक बल ?

नही, नही, नही   यदि युद्ध से शान्ति और सुख प्राप्त होते हो तो विश्व के प्रथम युद्ध के बाद युद्धो की परपरा इतिहास के पृष्ठो को भयकर बनाने के लिए उपस्थित न होती।

आज जो परिस्थिति है वह तो वहती हुई स्थिति है। सभवत रूस, अमेरिका तथा अन्य देशो के एकत्र किये हुए सहार के साधन काम मे आजाएँगे। एक महा विनाश की सृष्टि कर जाएँगे। उसके बाद ?

बाद मे क्या होगा ? यह बात यदि आज ही समझ मे आजाय तो मानव-जाति महाविनाश से बच जाय। यदि न समझा गया तो ऐसे विनाश की परम्परा जारी रहेगी। वैर से वेर शान्त नही होता। असत्याचरण से शान्ति स्थापित नही हो सकती। चोरी से सस्कार नही बनाये जा सकते। अब्रह्मचर्य से कभी सन्तोष होता ही नही। परिग्रह से कभी सुख नही मिलता। हिसा से कभी हिसा शान्त नही होती।

आज विश्व मे चारो ओर दृष्टि डाले तो हृदय मे एक आघातजनक करुण भाव पैदा होता है। विचार आता है कि कही हम किसी बडे पागलखाने मे तो नही बस रहे हैं ?

किसी स्थान पर आग लगने पर उसे बुझाने के लिए हम पानी लेकर दौडते है। इसके बदले यदि हम घासलेट, पेट्रोल, पटाखे, तथा अन्य स्फोटक पदार्थ लेकर दौडे तो नतीजा क्या हो ?

आज दुनियाँ मे कुछ ऐसा ही हो रहा है। आज की राजनीति तथा अर्थनीति युद्ध को रोकने के लिए युद्ध के घोर विनाशक शस्त्र बनाने के पीछे दौड रही है—आखे मूँद कर

दौड रही है। क्या यह सब पेट्रोल आदि स्फोटक पदार्थ लेकर आग बुझाने को जाते हुए पागल आदमी का सा व्यवहार नही मालूम होता ?

आत्मा की मुक्ति की बात तो बहुत बडी है। यहाँ तो हम केवल भौतिक सुख की ही बात कर रहे है। जैन तीर्थकर भगवन्तो ने गृहस्थो—ससारी मनुष्यो के पालन करने के जो पाँच आचार बताये है, उन्हे पालन किये बिना मनुष्य जाति के लिए कोई चारा नही दिखाई देता—कोई उद्धार नही दिखाई देता। यदि इन पाँचो आचारो का पालन होने लगे तो युद्ध की आवश्यकता ही न रहे। परमाणु बम की आवश्यकता न रहे, और सेना की भी आवश्यकता न रहे।

इस बात पर पूर्ण गभीरता से विचार कीजियेगा।

ये पाँचो पालने योग्य अक्षत सिद्धान्त है। ये सब एक दूसरे से जुडे हुए है। एक को छोडो तो दूसरा छूटने लगेगा एक को पकडने से दूसरा खिच कर आएगा। इनका अनुक्रम ऊपर से ले चाहे नीचे से, ये पाँचो सिद्धान्त अविभक्त एव एक है।

पहले ऊपर से लेते है। हिंसा छोडिए। फिर असत्य आचरण अपने आप छूटेगा। असत्य आचरण छूटने से चोरी छूट जाएगी। चोरी छूटने से अब्रह्म का आधार चला जाने से वह भी जाएगा। और यदि अब्रह्म छूट गया तो परिग्रह भी छूटेगा ही।

अब नीचे से लेते है। परिग्रह छोडिये। इस कारण उत्पन्न होने वाली सादगी के कारण अब्रह्म के प्रति भी अरुचि होगी ही। अब्रह्म छूटने से चौर कर्म को अवकाश ही नही

रहेगा। चोर कर्म जाने से असत्य की आवश्यकता ही मिट गई। इतना होने पर पूर्ण अहिंसा प्रकट होगी ही।

अब उलटी वस्तुओ का क्रम लीजिए। हिंसा करो, तो फिर झूठ तो आएगा ही। झूठ के आने से अनधिकार की वस्तु हस्तगत करने के प्रति अरुचि न रह कर इच्छा प्रकट होगी। उसमे से अब्रह्म भी प्रकट होगा। और तब परिग्रह की तो कोई सीमा ही न रहेगी।

परिग्रह बढाने लगो तो उससे अब्रह्मचर्य आएगा ही। फिर अनधिकार की वस्तु प्राप्त करने का उत्साह भी आएगा। इसके आने पर असत्य के बिना चारा ही नही रहेगा। ये सब इकट्ठे होकर जिस महा अनर्थ का सृजन करेगे उसके परिणाम मे हिंसा ही होगी।

जो बात विश्व के लिए सही है वही व्यक्ति के लिए भी सही है। हम विश्व से भिन्न नही है। एक मनुष्य, इक्का, दुक्का मनुष्य भी यदि इन पाँचो आचारो का पालन करने लगे—कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रसिद्ध काव्यपक्ति (एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे, तोमार डाक शुनि कोई ना आशे तो एकला चलो रे)[1] के अनुसार एक ही मनुष्य निश्चयपूर्वक इन पाँचो आचारो का पालन करने लगे तो उसके आस-पास चारो तरफ उसकी सौरभ जरूर फैलेगी। अन्य लोग विपरीत व्यवहार करते हो तो भी प्रत्येक समझदार मनुष्य को इन पाँचो आचारो का सपूर्णत पालन न हो सके तो-अशत पालन करने से प्रारभ करना ही चाहिए। क्योकि इसमे व्यक्ति का हित तो है ही, समस्त विश्व के कल्याण का

---

१ तुम्हारी पुकार सुन कोई न आवे तो तुम अकेले ही चलो—अनुवादक।

बीज भी इसी मे है। रूस और अमेरिका अपनी भौतिक वैज्ञानिक सिद्धियो का प्रदर्शन करके एक दूसरे को भयभीत कर सकते है परन्तु इसमे से जो प्रकट होगा वह विस्फोट ही होगा, सुख और शांति नही।

हम अपनी मूल छोटी सी बात पर वापस आते है। यदि मनुष्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह-इन पाँचो आचारो का पालन करने का प्रयत्न करना निश्चित करके अपने जीवन की व्यवस्था करे और कार्य करे तो वह अपना हित तो करेगा ही। उसके उपरात दुनिया के हित मे भी बडा योग दे सकेगा। यहाँ हमने 'आचारो का पालन करने का प्रयत्न करने की' बात ही कही है, पालन करने की बात नही की। इसको ध्यान मे रख कर प्रारभ अवश्य करना। यदि पालन हो सके तो खुद तो तर ही जाएँगे, सुखी हो जाएँगे, साथ ही साथ जगत् के कल्याणरथ को भी गति दे सकेगे।

इस भौतिक जगत् मे, केवल आध्यात्मिक हेतु को लक्ष्य मे रख कर ही जीवन का ध्येय निश्चित करना चाहिए, परन्तु पूर्णतया इस तरह बरतना सबके लिये सभव नही है, क्योकि इसमे तो तुरन्त ही सर्व त्याग की बात आ खडी होती है। भौतिक सुख-सामग्री से मुँह फिरा लेना सबके लिए सभव नही है। जिनके लिए सभव है उन्हे तो इस दिशा मे कदम बढाने मे एक क्षण का भी विलम्ब न करना चाहिए। परन्तु हम जानते है कि इसके लिए भी हममे विशिष्ट प्रकार की योग्यता होनी चाहिए। यदि वह होती तो फिर क्या चाहिए था ? वह नही है इसी से तो सारा बखेडा है।

जैन शास्त्रकार भी यह बात समझते है। उनका स्याद्वाद

उन्हे यह बात बताता है। अतएव उन्होने जीवन के विकास-मार्ग के दो भेद किये है —'साधुधर्म' और गृहस्थधर्म। वैराग्य उत्पन्न होने पर, आत्मज्ञान जाग्रत होने पर साधुत्व अगीकार करने वाले महानुभावो को पालने के आचारो का एक विशाल सूचीपत्र उन्होने बनाया है। इसी तरह ससारी मनुष्यो की सीमाओ को ध्यान मे रख कर गृहस्थधर्म के अनुसरण करने का भी सुलभ निरूपण उन्होने किया है। यह सब इतना सुन्दर तथा सुव्यवस्थित (So well planned) है कि उसे देखकर बडा आनन्दमिश्रित आश्चर्य होता है।

ऊपर जो पाँच मुख्य आचार बताये गये है, वे गृहस्थधर्म का पालन करने के केवल धार्मिक नही अपितु सर्व क्षेत्रीय एव सर्व देशीय मूलभूत सिद्धान्त है। It is a great code of conduct, absolutely essential for every human being-यह प्रत्येक मनुष्य के लिए सर्व काल एव सर्व स्थलो पर अत्यन्त आवश्यक महान जीवन-सहिता है। व्यक्ति और समष्टि का कल्याण भिन्न भिन्न नही है। अत समस्त मानव जाति के लिए यह परम कल्याणकारी विज्ञान है।

इन पाँचो आचारो को पालने से जो लाभ होते है उनका भी जैन शास्त्रकारो ने बडा सुन्दर विवेचन किया है। मन, वचन तथा काया के त्रिवेणीसंगम से जो इन आचारो का पूर्णतया पालन करता है उसका तो उद्धार हो ही जाता है, जो लोग इनका अशत. पालन करते हैं, और सपूर्णत पालन करने के मार्ग पर आगे बढने मे सतत प्रयत्नशील रहते हैं उन्हे भी इससे असीम लाभ होता है।

जैन तत्त्वज्ञान इस ससार को सर्वथा माया या भ्रम नही

मानता। यह ससार भी एक वास्तविकता Reality है। केवल इसके स्वरूपो को सावधानी से ध्यान मे रखकर यदि मनुष्य अपना जीवनपथ निर्धारित करे तो वह उस सुख का भोक्ता अवश्य बन सकता है जिसे आन्तरिक सुख माना गया है। आत्मा का विकास करने मे यह ससार या ससार के झझट कोई रोडे नही अटकाते। जैन शास्त्रकार ऐसा नही कहते कि ससार मे रह कर आत्मा का जरा भी विकास नही हो सकता। उसकी अन्तिम मुक्ति के लिये उन्होने जिस सर्वविरति धर्म की आवश्यकता को अनिवार्य माना है उसकी पीठिका का निर्माण देशविरति धर्म की आराधना से ही हो सकता है। जैन तत्त्वज्ञो ने इस बात की यथार्थता को जान कर आत्मा के विकास मे अनुकूलता प्राप्त करने की दृष्टि से गृहस्थधर्म का-सच्चे जीवनमार्ग का-अद्भुत उत्कर्ष-साधन करने मे सहायक मार्ग-का बहुत ही बारीकी से प्रतिपादन किया है।

भौतिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र अपने हिंसा-अहिंसा के साथ कार्यकारण भाव की दृष्टि से भले ही भिन्न माने जाते हो, फिर भी आध्यात्मिक ध्येय, उसकी सिद्धि की अनुकूलता आदि समग्र दृष्टि से विचार करने पर ऐसा कोई एकान्त भेद नही हो सकता। बडे नगरो मे एक ही नाम वाले किसी किसी बडे लम्बे मार्ग को उत्तर और दक्षिण-यो दो विभागो के नाम से भी पहचाना जाता है। उदाहरणत बम्बई मे लेमिंगटन रोड बहुत लम्बा है, उसे दो पोस्टल विभागो मे बाटा गया है—'लेमिंगटन रोड-नॉर्थ' और 'लेमिंगटन रोड-साउथ'। उसी तरह जहा तक जीवन के तथा जीव के विकास का तअल्लुक है, हम भौतिक क्षेत्र को 'मुक्तिमार्ग-दक्षिण' और आध्यात्मिक क्षेत्र

को 'मुक्तिमार्ग— उत्तर' (Salvation Road-South and Salvation Road-North) ऐसे नाम दे सकते है।

ऐसा न माने कि जो आत्मा के शत्रु है वे शरीर के शत्रु नही है। जब तक आत्मा से जुडा हुआ शरीर अपने कार्य (Function) मे प्रवृत्तिमान है तब तक-सापेक्ष दृष्टिसे-आत्मा और शरीर भिन्न नही है। अत शरीर के द्वारा जो भी प्रवृत्ति होती है वह आत्मा की अपनी प्रवृत्ति है। विचार मे जो वस्तु बुरी हे वह आचार मे कभी भली नही हो सकती। उसी तरह जो कुछ भी आध्यात्मिक दृष्टि से अच्छा हो, वह भौतिक दृष्टि से कभी अनिच्छनीय हो ही नही सकता।

इसी प्रकार जो सिद्धान्त भौतिक क्षेत्र मे व्यवहृत होने के लिये निश्चित किये जायँ, वे यदि आध्यात्मिक विकास के पूरक तथा सहायक न हो तो उनसे कुछ भी भौतिक हित हो ही नही सकता। ऐसा यदि कुछ निश्चित किया जाय तो वह सन्मार्ग नही, उन्मार्ग है। व्यवहार और निश्चय, दोनो एक ही मार्ग के 'पूर्वार्ध' और 'उत्तरार्ध' के समान दो भाग है। इन दोनो का लक्ष्य एक ही है।

इस बात को लक्ष्य मे रखकर जैन तत्त्ववेत्ताओ ने जीवन जीने के लिये सामान्य गृहस्थ धर्म से सुशोभित विशेष गृहस्थ धर्म-स्वरूप एक विकास—मार्ग बताया है। एक ही आत्मोत्थान के राजमार्ग की पगडडी जैसा यह मार्ग हमारे सामने जीवन जीने की एक विकासश्रेणी (Ladder of evolution) पेश करता है। वह भौतिक क्षेत्र मे आध्यात्मिक रग भरता है, और धीरे धीरे आत्मा के पूर्ण विकास की दिशा मे ले जाता है। उन्होने इस विकासक्रम के जो सोपान

(सीढियाँ) बताये है उन चौदह गुणस्थानको का परिचय हम पिछले पृष्ठो मे प्राप्त कर चुके है। इन सोपानो को एक के बाद एक पार करने की समयावधि पाँच कारणो के अधीन रह कर मनुष्य के अपने पुरुषार्थ पर निर्भर है। ये सब बाते बुद्धिगम्य है, तर्कसिद्ध है और आचार-सिद्ध भी है। (It is completely rational, there is nothing abstract in it)

इन सब का मूल, जीवन जीने के मुख्य सन्मार्ग का मध्य विन्दु 'स्याद्वाद' है। आत्मा की मुक्ति के मार्ग की साधना मे स्याद्वाद की लोकोत्तर उपयोगिता का विशिष्ट स्थान है। मुक्ति का मार्ग अतीन्द्रिय (इन्द्रियो से परे) है। आत्मा तथा कर्म का सयोग एव वियोग, उसका हेतु, उसके कारण आदि सब कुछ अतीन्द्रिय—ज्ञानगम्य है। जब तक पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान न हो जाय तब तक मनुष्य के मन मे अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसलिये तो इस लेखक ने मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थानक पर विचार करने वाले इस जगत को-इस गुणस्थानक को-'सभ्रमसदन' कहा है। जब तक इन सब सभ्रमो और विभ्रमोका बुद्धिगम्य और श्रद्धाग्राह्य निराकरण न हो जाय तब तक आत्मा के अन्तिम ध्येय को पहुँचने के विकास मार्ग मे कोई प्रगति नही हो सकती।

स्याद्वाद की जानकारी से इन सब सभ्रमो का बुद्धिग्राह्य निराकरण किया जा सकता है। एक एक मार्ग को अपना कर खडे हुए दर्शनो की त्रुटियाँ उससे दूर हो सकती है। वस्तु का सर्व देशीय ज्ञान तथा आत्मा की मुक्ति के लिये आवश्यक पुरुषार्थ भी स्याद्वाद की जानकारी से ही हो सकता है।

हमे तो इस प्रकार के आवश्यक (तथाविध) वीर्योल्लास

के अभाव मे इसका प्रारम्भ भौतिक जगत् मे रह कर ही करना है। उसमे भी स्याद्वाद श्रुत का आलम्बन हमे अत्यन्त सहायता देगा। परन्तु जीवन जीने का जो मार्ग हमे आध्यात्मिक विकास की ओर न ले जाय उस मार्ग से भौतिक क्षेत्र मे भी कोई लाभ नही हो सकता। ऐसे गलत रास्ते जीवन के झझटो को वढा देते है।

यदि हम जीवन के ध्येय और उसे प्राप्त करने के उपाय के विषय मे पर्याप्त विचार किये विना चले तो गाडी मे जुते हुए वैल मे और हममे कोई अन्तर नही रहता। इनका सुस्पष्ट रीति से विचार करके ही हम अपने जीवन का यथार्थ सुयोजन (Good planning) कर सकते है। ऐसी कोई योजना किये विना यदि हम चलने लगे तो हमारी दशा फुटवाल जैसी ही होगी। फिर हम जहाँ जाएँगे वहाँ हमे क्या मिलेगा ? झझट ही झझट।

आध्यात्मिक ध्येय से भिन्न कोई भौतिक ध्येय हो ही नही सकता। यदि हम केवल भौतिक सुख सामग्री को ही लक्ष्य मे रखकर जीवन का ध्येय निर्धारित करे तो उससे, आध्यात्मिक सुख तो दूर रहा, हमे भौतिक सुख भी नही मिलेगा। शास्त्रकारो ने जिन्हे आत्मा के शत्रु माना है उन्हे शरीर के मित्र माना ही नही जा सकता। आध्यात्मिक विकास मे जो वाधक हो वह भौतिक विकास मे भी सहायक नहीं हो सकता, यह वात हमे अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।

जैन दार्शनिको ने आत्मा के छ शत्रु वताये है, जिन्हे 'षड् रिपु' कहते है। आत्मा के इन शत्रुओ के नाम इस प्रकार है—काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, और हर्ष। आध्यात्मिक विकास मे वाधा डालने वाले ये छ दुश्मन भौतिक विकास मे

भी उतने ही और ऐसे ही बाधक है। यह बात भलीभाँति याद रखनी चाहिए। ये बहुत बडे अवगुण है। ये अवगुण व्यवस्थित जीवन के विकास मे बाधक तत्त्व (Blocking elements) है। 'अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह' इन पाँच मित्रो की सहायता लेकर उक्त छ शत्रुओ को हटाने के लिये युद्ध छेडना प्रत्येक विवेकी मनुष्य का प्राथमिक पुरुषार्थ है। इस बात को एक तरफ रखकर जीवन जीने का मार्ग निश्चित हो ही नही सकता। इसे लक्ष्य मे रखकर हम जो जीवन व्यतीत करे वही 'विशुद्ध आमोद-प्रमोदकारक नन्दनवन' है। इसे छोडकर चले तो जीवन एक झझट—महा झझट है।

इस महा झझट से छूटने के लिए स्याद्‌वादश्रुतधारक अनेकान्तवाद के अद्‌भुत तत्त्वज्ञान का आश्रय लेना अनिवार्यतः आवश्यक है। अत हमे इतना निश्चित कर लेना चाहिए —

"यह ससार केवल भ्रम नही है, वास्तविक भी है। यह जीवन केवल झझट नही है, महा-आनन्द भी है। इन दोनो मे, अर्थात् हमारे आस पास फैले हुए ससार मे और हमारे जीवन मे विष और अमृत-दोनो है। वास्तविकता, आनन्द और अमृत का व्यवस्थित आयोजन लेकर हम चलेगे, और जिस समय यह निश्चित होगा कि ससार एक भ्रम है उस समय यह भ्रम हमसे लाखो योजन दूर चला जा चुका होगा; जब हमे लगेगा कि जीवन एक झझट है, उस समय यह झझट तो बेचारा दूर खडा खडा आँसू बहाता होगा। और विष यह विष तो उसी दिन स्वय ही अमृत बन कर अमृत मे मिल चुका होगा।"

卐 卐 卐

खंडन-मंडन

पिछले पृष्ठो मे जो कुछ लिखा गया है, उसका उद्देश्य जैनधर्म और जैन तत्त्वज्ञान के मुख्य मुख्य आचारो तथा विचारो (सिद्धान्तो) की संक्षिप्त जानकारी देना ही है। किसी एक का खडन या दूसरे का मडन करने के उद्देश्य से कुछ नही लिखा है।

यह सब किसी भी प्रकार का वादविवाद खडा करने या उसमे पडने के उद्देश्य से नही वल्कि केवल उपयोगी जानकारी का प्रचार करने के हेतु ही लिखा गया है।

स्याद्वाद सिद्धान्त पूर्णतया मध्यस्थता का सिद्धान्त है। मध्यस्थता—तटस्थवृत्ति—रखे विना इस सिद्धान्त को समझना सभव नही—ऐसा भी पहले ही कहा जा चुका है।

स्याद्वाद की मध्यस्थता एक विशिष्ट प्रकार की है। इसमे मिथ्या या काल्पनिक तटस्थवृत्ति नही है। सत्य के साथ अन्याय न हो और असत्य का समर्थन न हो—यही समस्त स्याद्वाद सिद्धान्त का हृदय (रहस्य) है, मेरुदण्ड—Heart & Backbone है। इसमे अन्य किसी भी मतमतान्तर से द्वेप नही है। श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज ने इस विपय मे एक स्थान पर लिखा है कि—

अन्य शास्त्र के प्रति द्वेप रखना भी उचित नही है। वह जो कुछ कहे उसके विपय का भी यत्नत शोधन करना चाहिए। उसमे जो कुछ सद्वचन है वह सब, प्रवचन से—द्वादशागी से—भिन्न नही है।''

ऊपर के उद्धरण से स्याद्वाद की गभीरता तथा स्याद्-वादी की सच्ची मध्यस्थवृत्ति स्पष्ट होती है। स्याद्वाद के

मत मे कोई भी वचन स्वय प्रमाणरूप भी नही है और अप्रमाणरूप भी नही है। कोई वचन स्वशास्त्र का हो चाहे पर-शास्त्र का, उसके विषय के विश्लेषण—परिशोधन—से ही वह प्रमाण रूप या अप्रमाण रूप सिद्ध होता है।

जो वाक्य प्रत्यक्ष एव परोक्ष प्रमाणो से सुस्थापित हो वह प्रमाण-रूप है। प्रमाण के साथ जो मेल न खाता हो वह अप्रमाणरूप है। किसी भी एक धर्म को लक्ष्य मे रख कर कहा गया वाक्य उस धर्म को लक्ष्य मे रख कर सत्य है, जब उसी वाक्य का उपयोग अन्य धर्म को लक्ष्य मे रख कर या अन्य धर्मों का निरस्कार कर के किया जाय तब वह असत्य है। यह बात नय और सप्त-भगी समझने के बाद आसानी से समझ मे आती है।

खडन मडन अर्थात् वादविवाद। इस वादविवाद का उद्देश्य बडा पवित्र है। मत भेद तो इस विश्व का अनिवार्य अग है। जैसे मनुष्य के पास कर्म के अनुसार सम्पत्ति का प्रमाण न्यूनाधिक होता है, वैसे ही बुद्धि, तथा ग्रहण शक्ति भी न्यूनाधिक प्रमाण मे होती है। इसलिए सशय और मतभेद तो हमेशा रहेगे। परन्तु जब कोई दो व्यक्ति किसी विषय पर चर्चा करने आमने सामने बैठे तो उसका परिणाम विग्रह मे नही बल्कि सधि मे आना चाहिए। यह जरूरी नही कि यह सधि एक मति की—सहमति की—ही हो, भिन्नमति की भी सधि हो सकती है।

दुनियाँ के बुद्धिमान् लोगो ने इस विषय मे एक सुन्दर बात कही, है "दो मनुष्य जब अपने मतभेदो की चर्चा-मत्रणा करने बैठते है तो उससे दोनो की बुद्धि तथा समझने की शक्ति

मे स्फूर्तिदायक विविधता प्रकट होती है। परन्तु यदि दोनो व्यक्ति ऐसी वृत्ति लेकर बैठे कि 'मै ही सच्चा हूँ और तुम गलत ही हो' तो उससे अधमता उत्पन्न होती है और अवनति की वृद्धि होती है।

पश्चिम के देशो मे जब बुद्धिशाली मनुष्य चर्चा करने बैठते है, और जब एक दूसरे की राय से सहमत होना असभव होता है तब अलग होते समय दोनो एक बात स्वीकार कर के, एक दूसरे से हाथ मिला कर और एक दूसरे के प्रति शुभ कामना प्रकट करके अलग होते है। वे जिस बात पर 'सह-मत' होते है वह यह है, (We agree to disagree) हम दोनो मे मतक्य नही है, इस बात पर हम दोनो सहमत है।

कितनी अच्छी बात है। इसमे वैमनस्य नही है। इसके बाद वे कहेगे, (We shall try again) फिर प्रयत्न करेगे।

तात्पर्य यह कि इस पुस्तक मे जो कुछ लिखा गया है उसका उद्देश्य किसी प्रकार के वादविवाद या खडन-मडन के वितडावाद मे पडना नही है। फिर भी इस पुस्तक को पढने के बाद कोई शकाएँ उत्पन्न हो तो उनका निवारण करना अनुचित नही होगा।

हम प्रश्नोत्तर द्वारा यह विवरण देगे तो प्रश्न और उसके उत्तर को समझने से आनन्द होगा।

प्रश्न—बौद्ध मतानुसार वस्तु 'अनित्य' है। वेदान्त मत वस्तु को 'नित्य' मानता है। जैन दार्शनिको ने दोनो बातो को एकत्रित कर कहा है कि वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी। इसमे क्या नयी बात कही? उलटा सशय पैदा किया।

उत्तर—वस्तु को केवल नित्य या केवल अनित्य मान

कर बैठ जायँ तो उस विषय का ज्ञान अधूरा रहता है। उसी तरह अन्य सत्य अंश का लोप हो जाता है, जब कि अकेला 'नित्य है' अथवा 'अनित्य है' ऐसा मान कर चले तो लक्ष्य तक पहुँचा नही जा सकता। प्रत्येक वस्तु मे भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी गुण धर्म होते है। उनका संपूर्ण दर्शन न हो तो हमारी जानकारी अधूरी रहती है।

जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ मे सूक्ष्म-पृथक्करण (Microscopic Analysis) किया जाता है, उसी तरह जैन तत्त्ववेत्ताओ ने वस्तु के सभी गुणधर्मो को खोल कर बताया है। इसमे कुछ भी कही से बटोरा हुआ नही है, सब कुछ स्वतंत्र है। इसके विपरीत अन्य मत मतान्तरो मे जो एक मार्गी बाते कही गई है, वे जैन तत्त्वज्ञान मे से अनुकूलता के अनुसार एक एक बात पकडकर कही गई हो, ऐसी संभावना है।

वस्तु को 'नित्य' मान कर चलने मे उसके पर्यायो, अवस्थाओ तथा परिणमनो की बात ही उड जाती है। इसके विपरीत, वस्तु को यदि 'अनित्य' मान कर चले तो जो मूलभूत द्रव्य है उसकी उपेक्षा हो जाती है। अत. जैन तत्त्वज्ञानियो द्वारा अपेक्षा-भेद से कही गई दोनो बाते संशयात्मक नही, अपितु पूर्णत: निश्चयात्मक है।

वस्तु के इन दोनो पहलुओ की पूरी पूरी समझ का व्यवहार मे एवं आचरण मे विशेष महत्त्व है। जमीन के नीचे सब जगह पानी होते हुए भी एक स्थान पर कुँआ खोदा जाता है और दूसरी जगह नही खोदा जाता, स्थल की अपेक्षा से यह बात पानी के होने तथा न होने का द्विधा-भाव सूचित

करती है। इस तरह वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाने बिना यदि हम एक ही स्वरूप को पकड़कर चले तो विवेक करने की असमर्थता के कारण इच्छित ध्येय तक पहुँचने मे असफल होगे। बौद्ध मत और वेदान्त मत की जो एकान्त मान्यताएँ हैं, उनमे सत्य का एक अंश ही है, पूर्ण सत्य नही। फिर स्वमान्य अश का दुराग्रह रख कर अन्य अश का इनकार करने से असत्यता आ खडी होती है, जबकि सपूर्ण सत्य अनेकान्तवाद मे ही प्रकट हुआ है। यह वैज्ञानिक, स्वत प्रतिष्ठित, सुव्यवस्थित तथा बुद्धिगम्य है। यहाँ हम इतना स्पष्ट कर देते है कि ये नित्य-अनित्य आदि धर्म कोई स्वतन्त्र धर्मों का योगफल नही है, अपितु विशिष्ट अनेकान्त धर्म है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शात और तटस्थ बुद्धि का विवेकपूर्वक उपयोग करने से ऐसे सशयो का अपने आप निवारण हो जाता है।

प्रश्न—जैन तत्त्ववेत्ताओ के कथनानुसार वस्तु के गुण धर्म अनन्त है। तो फिर उनकी विश्लेषणात्मक समझ के लिए जो 'भग' बताये गये है वे केवल सात ही क्यो हैं?

उत्तर—सप्त भगी और नय, इन दोनो विषयो का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेने पर इस प्रश्न का अपने आप समाधान हो जाता है। सप्तभगी मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से वस्तु का स्वरूप समझाया गया है, जब कि सात नयो मे वस्तु के गुण धर्मो का पृथक्करण है। नय वस्तु के भिन्न भिन्न गुण धर्म बताता है जब कि सप्तभगी तो केवल प्रत्येक वस्तु के एक एक गुण धर्म का सापेक्ष विश्लेषण करती है। 'नय' के विषय मे पहले कहा जा चुका है कि जो सात नय

बताये गये है वे सात मुख्य नय है । उनके अतिरिक्त नय तो अनेक है, जितने वचन उतने नय है । सप्तभगी के सात भगो से सशयजनित जिज्ञासाओ की तृप्ति होती है । उदाहरणार्थ सग्रह और व्यवहार नय वस्तु के सामान्य तथा विशेष-ये दो स्वरूप बताते है, और उसके कितने ही अवान्तर गुण धर्मों के द्वारा वस्तु को देखते है, निरूपण करते है । सप्तभगी मे इनमे से किसी भी एक सामान्य या विशेष स्वरूप को लेकर उसका 'विशेप है', 'विशेष नही है' आदि विश्लेषण किया जा सकता है ।

तात्पर्य यह है कि यदि नय और सप्तभगी का अन्तर भली-भाँति समझ लिया जाय तो बहुत सशय दूर हो जाते है । तिस पर भी 'भग सात ही किसलिए ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आठवे प्रकार का कोई भग अभी तक कोई सशयकार नही बता सका है, क्योकि ऐसा कोई आठवाँ विकल्प ही नही है । केवल शका करके खडे रहने से किसी वस्तु का प्रतिपादन नही होता । यह तो एक निपेधात्मक-नकारात्मक (Negative) दुर्नीति है । कोई भी सूचन जब तक रचनात्मक (Constructive) ढग का न हो तब तक उसके खडन मडन मे उतरना व्यर्थ का वितडावाद है ।

वैसे थोडे मे से बहुत देखा जा सकता है, यह बात समझने के लिए यदि हम जड वस्तुओ मे दूरबीन और चेतन वस्तुओ मे अपनी आँखो के विपय मे विचार करेगे तो बहुत कुछ समझ मे आ जायगा ।

प्रश्न—सात भगो मे से अन्तिम तीन मे 'है और अवक्तव्य है', 'नही है और अवक्तव्य है' तथा 'है और नही है और

अवक्तव्य है'—यो तीन तरह से विवरण किया गया है। पाचवे भग मे पहला और चोथा आता है, छठे मे दूसरा और चौथा आता है, और सातवे भग मे पहले और दूसरे को चौथे के साथ जोडा गया हे। क्या यहाँ पहला, दूसरा और तीसरा ये तीनो चौथे भग के साथ जोड कर एक आठवाँ भग नही बनाया जा सकता ?

उत्तर—तीसरे भग मे पहले और दूसरे भग के दोनो सापेक्ष स्वरूपो का जोड—सधीकरण—है ही। अतएव आठवी दृष्टि के लिए अवकाश नही रहता।

प्रश्न—चौथे भग मे जो 'अवक्तव्यता' वताई गई है, उसी तरह क्या एक और जोड कर 'वक्तव्यता' नही वताई जा सकती ?

उत्तर—'अवक्तव्यता' भी एक प्रकार की वक्तव्यता ही है। और भी, इसमे जो अवक्तव्यता वताई गई है वह 'स्यात्' शब्द के अधीन होने से सापेक्ष है। व्यवहार मे कोई व्यक्ति जव कहता है कि "मेरे पास अपनी भावनाएँ व्यक्त करने के लिए शब्द नही है।" तव उसमे अवक्तव्यता की जो सूचना है, वह एक प्रकार की वक्तव्यता ही है। इसलिए इसमे वक्तव्यता को अलग वताना न आवश्यक है, न युक्तियुक्त। साथ ही इन सात भगो मे जहाँ अवक्तव्यता नही है, वहाँ वक्तव्यता समाविष्ट ही है। इसलिए उसका अलग स्थान नही रहता।

प्रश्न—एक ही वस्तु अच्छी ओर बुरी कही जाय—यह वात तो समझ मे आती है, परन्तु एक ही वस्तु को छोटी और वडी कैसे वताया जा सकता है ?

उत्तर—पर चतुष्टय की अपेक्षा से एक ही वस्तु को छोटी

अथवा वडी कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ —'वेर, नीबू, नारगी, नारियल, और तरबूज,—इन पाँचो फलो को एक ही मेज पर पास पास रख दीजिये। वेर की तुलना मे नीबू बडा मालूम होगा परन्तु नारगी से तुलना करने पर वही छोटा बन जाएगा। इस क्रम के अनुसार प्रत्येक फल को आसानी से छोटा और बडा कहा जा सकता है।

प्रश्न—जैन धर्म को हिन्दू धर्म की एक शाखा माना जाता है। क्या यह वात सच है ? यदि सच नही है तो इसका क्या सबूत है ?

उत्तर--नही, यह वात सच नही हैं। एक पिता के पाँच पुत्र हो तो उन पाँच मे से किसी भी एक पुत्र के लिये वह कहेगा कि 'यह मेरा पुत्र है।" दूसरे के पुत्र के लिए वह ऐसा नही कह सकेगा। एक पेड मे अनेक शाखाएँ होती है। ये सब शाखाएँ उस पेड की अगभूत होने के कारण कोई ऐसा नही कह सकता कि 'यह शाखा इस पेड की नही है।' यदि जैन-तत्त्वज्ञान हिन्दू तत्त्वज्ञान का एक अग ही होता तो हिन्दू तत्त्ववेत्ता ऐसा कहते कि 'यह हमारा एक अग है।' वे लोग ऐसा नही कहते। इतना ही नही, वे लोग जैन तत्त्वज्ञान को 'झूठा' कहते है। जव 'झूठा' कहा जाता है तव भिन्नता उपस्थित होती ही है।

वाहर की दुनिया मे 'जैन दर्शन हिन्दू-धर्म की एक शाखा है' इस प्रकार की जो मान्यता है, वह परिस्थिति के अज्ञान से उद्भूत है। यह मान्यता बिल्कुल झूठी है। इस वात को यदि हम शुद्ध तर्क द्वारा जाचेगे तो ज्ञात होगा कि जैन दर्शन एक पूर्णत. मौलिक एव स्वतन्त्र तत्त्वज्ञान है।

अन्य दर्शनो मे और जैन तत्त्वदर्शन मे एक विशिष्ट अन्तर यह है कि जैन दर्शन को छोड कर अन्य सभी दर्शन मात्र जैन दर्शन को झूठा बता कर ही नही रुक जाते, अपने सिवा अन्य सभी दर्शनो को वे झूठे मानते है। जब कि इसके विपरीत जैन दर्शन ने दूसरे मुख्य मुख्य तत्त्वज्ञानो को 'एकदम झूठ' नही माना। प्रत्येक दर्शन मे रहे हुए आशिक सत्य को जैन दर्शन ने स्वीकार किया है। पिछले पृष्ठो मे हम यह बता ही चुके है कि मुख्य मुख्य अजैन दर्शन 'स्याद्‌वाद' के सात नयो मे से कौन कौन से एक एक नय पर आधारित है। ये सभी दर्शन एक एक नय (वस्तु का एक सिरा) पकड कर बैठ गये हैं, जब कि जैन दर्शन का अनेकान्तवाद उन सातो नयो के सयुक्त आधार पर खडा है। यही इसकी विशिष्टता है। इससे यह बात स्वय सिद्ध हो जाती है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म या अन्य किसी भी धर्म की शाखा नही है।

उसी तरह यह कहना भी युक्तियुक्त (Logical) नही है कि भिन्न भिन्न तत्त्वज्ञानो का समन्वय करके अनेकान्तवाद के तत्त्वज्ञान की रचना की गई है। कपडे के थान मे से सात कोट सिल सकते है, परन्तु उन सातो कोटो को इकट्ठा करके एक थान नही बनाया जा सकता। इसके विपरीत क्रम मे, एक की सख्या मे एक से विशेष कुछ नही होता। सात मे से एक निकाला जा सकता है, एक मे से एक निकालने पर तो शून्य ही रहता है।

पिता पुत्र का क्रम ले तो, एक पिता से सात पुत्र उत्पन्न हो सकते है, परन्तु उन सातो पुत्रो को एकत्रित करने से एक पिता नही बन सकता। इस न्याय से—जैन तत्त्वज्ञान के अने-

कातवाद मे से एक एक अन्त पकड कर आंशिक सत्य वाले भिन्न भिन्न तत्त्वज्ञान अनेकातवाद मे से रचे गये है—ऐसा कहना शुद्ध तर्कसगत एव न्याय्य है ।

वस्तु के स्वरूप को देखने की जैन दर्शनकारो की मध्यस्थता का सब से बडा सबूत तो यह है कि उन्हे अन्य दर्शनो मे जो अशत सत्य दिखाई दिया, उसका इनकार नही किया । उसे उन्होने 'सत्य का अश' माना है । परन्तु सत्य के एक अश को कभी पूर्ण सत्य नही कहा जा सकता, इसलिये, यहीं तक जैन दार्शनिको ने अन्य दर्शनो का विरोध किया है । इस विरोध मे द्वेप नही है, पूर्ण सत्य का आग्रह है ।

प्रश्न—एक ऐसा मत भी है कि सब धर्मों का समन्वय करके जैन तत्त्वज्ञान का निर्माण किया गया है । इसका अर्थ यह होता है कि अन्य दर्शन पहले थे और जैन दर्शन बाद मे आया । इस बात का क्या समाधान है ?

उत्तर—यह बात सापेक्ष दृष्टि से कही जाती है कि स्याद्वाद मे अन्य सभी दर्शनो का अन्तिम समन्वय हो जाता है । किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि अन्य दर्शनो को मिला कर उनमे से जैन दर्शन की रचना की गई है । इसका केवल इतना ही अर्थ है कि अन्य दर्शनो मे जो आंशिक सत्य है वे सब अनेकातवाद मे तो थे ही ।

उदाहरणार्थ—पृथ्वी पर बहने वाली सभी नदियाँ समुद्र में जा कर मिलती है—यह एक तथ्य है । परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि ये सब नदियाँ एकत्रित हो कर समुद्र का सृजन करती है । समुद्र तो उन नदियो के जन्म से पहले भी था । ये नदियाँ समुद्र मे मिल गई—इसका अर्थ यही होता है कि

'समुद्र ने नदियो को अपने मे समा लिया।' स्याद्वाद का सिद्धान्त ऐसा ही एक महासागर है, श्रुतसागर है। इसमे आकर मिल जाने वाले सत् के अशो मे से इसका जन्म या निर्माण नही हुआ है। इसके विपरीत, स्वय स्याद्वाद ने ही सत् के भिन्न भिन्न अशो और स्वरूपो को खोल कर और पृथक् करके बताया है। सभव है कि, इनमे से एक एक अश को लेकर दूसरे दर्शन रचे गये हो।

जैन दर्शन बाद मे आया या पहले अर्थात् अन्य दर्शनो के उद्भवकाल के पूर्व भी था—यह लेखक इस प्रश्न को महत्त्वपूर्ण नही मानता। क्या इतना ही पर्याप्त नही है कि गुणवत्ता की दृष्टि से जैन तत्त्वज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। फिर भी ऐतिहासिक सास्कृतिक एव सहित्य विषयक प्रमाण इतनी बडी सख्या मे ग्रन्थस्थ हुए है कि उन्हे देखकर इस विषय मे कोई मतभेद नही रहता कि जैन तत्त्वज्ञान अति प्राचीन तत्त्वज्ञान है। वेदात दर्शन के प्राचीन ग्रन्थो मे जैनो के प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव का जो उल्लेख मिलता है उससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि श्री ऋषभदेव उन ग्रन्थो की रचना के पूर्व हुए थे।

फिर भी मेरा नम्र सुझाव है कि 'कौनसा दर्शन पुराना है और कौनसा नया ? कौनसा पहले था और कौनसा बाद मे आया ?'—ऐसे व्यर्थ के विवाद मे पडने के बदले 'पूर्ण सत्य क्या है, और वह कहाँ पडा है ?' इसकी खोज करना ही इष्ट मार्ग है।

प्राचीनकाल मे जो दर्शन एकागी थे, उनमे से अनेक मे ज्ञान के विकास के साथ वृद्धि होती गई है। वेदात तथा बौद्ध

आदि मतो ने बाद मे चलकर अपनी मान्यताएँ बदली हैं और ऐसा करने से वे अनेकातवाद के निकट आये है। जब कि अति प्राचीन काल से जो अनेकातवादी जैन दर्शन चला आ रहा है उसमे कोई परिवर्तन या वृद्धि नही करनी पडी। पूर्व और पश्चिम के कुछ गण्यमान्य विद्वानो ने जैन दर्शन की मौलिकता को स्वीकार किया है जब कि अन्य मतो के विषय मे ऐसी निश्चित राय देखने को नही मिलती।

अनेकान्तवाद का सिद्धान्त तथा उसका तत्त्व निरूपण मूल से ही पूर्ण होने के कारण अटल तथा निश्चल रहे है। इसमे किसी प्रकार का परिवर्तन करने की आवश्यकता ही उपस्थित नही हुई। इस तथ्य को देखते हुए, जिसे 'यावच्चन्द्र-दिवाकरौ' कहा जाता है—वैसा पूर्ण सत्य दुनिया में एक मात्र अनेकान्त-तत्त्वज्ञान मे ही है।

卐 卐 卐

नमस्कार महामंत्र

ससार के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञान का सक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के बाद, जिस जैन धर्म के प्रवर्तको ने दुनिया को इस महान् तत्त्वज्ञान का उपहार दिया है, उस धर्म के एक परम कल्याणकारी इष्ट मत्र का उल्लेख किये विना ग्रन्थ को समाप्त कर देना किसी राजा को मुकुट पहनाये विना सिहासन पर बैठाने के समान होगा।

यह इष्ट मत्र 'नमस्कार महामत्र' कहलाता है।

यहा हमने 'मत्र' का निर्देश किया है, इसलिए मत्र के विषय मे थोडा सा विचार करना अप्रस्तुत नही होगा।

मानव जाति अनादि काल से सुख प्राप्ति के लिये अनन्त परिश्रम करती रही है। मनुष्य चिरकाल से अनन्य, अद्वितीय तथा महत्त्वपूर्ण सुख की खोज मे भटकता रहा है।

इस सवके पीछे अविकसित मनुष्य का प्राथमिक हेतु भौतिक एवं सासरिक सुखसामग्री प्राप्त करना होता है। प्रेममयी पत्नी, प्यारे वच्चे, किलकिलाता हुआ परिवार, घन, वैभव और वज्र के समान दृढ शरीर आदि उसकी प्राप्ति के लक्ष्य होते है। इसके अतिरिक्त अपना नाम प्रख्यात हो, लोगो मे अपनी पूछ हो, पूजा हो अपने हाथो कोई सुयश का वडा कार्य हो, सत्ता तथा प्रभुता प्राप्त हो—ये सब चीजे भी मनुष्य की सुख प्राप्ति की इच्छा मे शामिल है।

मनुष्य को इन सव शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा अन्य वहुत सी भौतिक सिद्धियो के लिये अविरत प्रयत्न करते, मुसीवते झेलते और समाप्त हो जाते भी अनादि काल

से दुनिया ने देखा है, इतिहासकारो ने उसका वर्णन किया है।

इस हेतु की प्राप्ति के लिये सभी प्राप्य साधनो का मनुष्य ने उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त, सुख प्राप्ति मे उपयोगी बन सके, ऐमे नये नये साधन खोजने तथा पैदा करने का भी मनुष्य ने अविरल प्रयत्न किया है।

इन सब भिन्न-भिन्न साधनो मे 'मत्र' के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न भी मनुष्य अज्ञात काल से करता आया है। चमत्कारपूर्ण सिद्धि दे सकने वाले विशिष्ट शब्दो अथवा शब्द-समूहो मे एव उनके विधि पूर्वक प्रयोगो मे मनुष्य अनन्य श्रद्धा रखता रहा है।

'मत्र' क्या है ? क्या इन मत्रो मे सचमुच ऐसी सिद्धि-दायक शक्ति है जिसका आरोपण उनमे किया जाता है ? क्या इन मत्रो के पीछे कोई बुद्धिगम्य और वैज्ञानिक बल है, या यह कोई ऐसी वस्तु है जो मनुष्य की बुद्धि और समझ के परे है ?

इन प्रश्नो का उत्तर पाने के लिये किसी भी मत्र मे जो तीन अग महत्त्वपूर्ण होते हैं, हमे उनकी जाँच करनी चाहिए। ये तीन अग निम्नलिखित हैं —

(१) शब्दो की शक्ति,

(२) शब्दो का अर्थ और उस अर्थ की शक्ति,

(३) उसके पीछे कार्य करने वाली मत्रसृष्टा की सकल्प शक्ति।

आज शब्दो की शक्ति के विषय मे तो कोई मतभेद नही है। शब्द मे अपरिमित शक्ति होती है। इसका अनुभव करने के बाद शब्दब्रह्मवादियो ने शब्द को भी 'शब्द ब्रह्म' नाम दिया है।

जब हम कोई शब्द बोलते हैं तो उसमें से एक नाद और एक प्रभाव उत्पन्न होता है। वायु की तरंगे मुंह में से बाहर निकले हुए शब्दों को ग्रहण करती हैं और उसे सुनने वाले के कानों तक एवं सारी दुनिया में फैलाती हैं।

शब्द में से जो नाद (आवाज) उत्पन्न होता है, वह अपना प्रभाव भी उत्पन्न करता है। शब्द का नाद जहां जहां जाता है, वहाँ वहाँ उसका प्रभाव भी साथ ही जाता है। सुनने वाले मनुष्य के कान शब्द के नाद को झेलते हैं, और उसकी बुद्धि तथा हृदय शब्द के प्रभाव को झेलते हैं।

शब्द के प्रभाव का अंश एवं प्रमाण बोलने वाले व्यक्ति की शक्ति तथा योग्यता पर अवलंबित है। वह सुनने वाले की पात्रता पर भी निर्भर है।

शब्द के अर्थ में जो गहनता तथा गंभीरता होती है, उसकी मात्रा के अनुसार शब्द का प्रभाव भी न्यूनाधिक होता है। शब्द मनुष्य को हँसा सकते हैं, रुला सकते हैं, सुला सकते हैं, जगा सकते हैं। शब्द की अपनी शक्ति उसके अर्थ की शक्ति के साथ मिलकर ऐसे बहुत से कार्य करती है।

जहाँ तक मंत्र का सम्बन्ध है उस मंत्र के अधिष्ठायक देवता के सामर्थ्य का शब्द के अर्थ में बड़ा महत्त्व है। जिनको उद्देश कर मंत्र रचा गया हो उसका नाम मंत्र के शब्दों में आता ही है। अतः जिसका नाम आता है उनकी योग्यता का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इसके पश्चात् मंत्र की तीसरी शक्ति मंत्र का निर्माण करने वाले, मंत्र तैयार करने वाले सम्पादक की 'संकल्प-शक्ति' है। मंत्रसृष्टा अपने संकल्प-बल से शब्दों को अधिकृत बना कर

मत्र का निर्माण करता है। यह सकल्पबल किसी भी मत्र का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अग है।

इस प्रकार तैयार किया हुआ मत्र, शब्दो के क्षेत्र मे एक अद्‌भुत औषधि का सा स्थान प्राप्त करता है। विशिष्ट प्रकार की सिद्धियो के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के मत्र इस तरह अस्तित्व मे आये है। इस प्रकार मत्र का स्वरूप पूर्णत: वैज्ञानिक एव बुद्धिगम्य है। मत्रो से अमुक प्रकार के कार्य हुए होने की जो बाते हम पढते है वे सब कपोलकल्पित नहीं होती। हाँ, उनमे मानव-सुलभ अतिशयोक्ति तो होती है। आज भी हमे मत्रशास्त्र के ग्रन्थो मे ऐसे अनेक मत्र मिलते है।

परन्तु मत्र के परिणाम की प्राप्ति मत्र के अस्तित्व मात्र से नही हो जाती। कोई भी व्यक्ति कोई भी मत्र लेकर उसे जपने बैठ जाय तो इतने से ही वह मत्र फलदायक नही बन जाता। जैसे उसकी उत्पत्ति मे तीन महत्त्वपूर्ण कारण अपना कार्य करते है, उसी तरह उसकी सिद्धि की कुछ निश्चित शर्ते होती है। इसमे प्राय पॉच शर्तें मुख्य होती है—

(१) श्रद्धा
(२) एकाग्रता
(३) दृढता
(४) विधि
(५) हेतु (उद्देश्य)

इनमे सर्व प्रथम आवश्यकता श्रद्धा की है। यहॉ 'श्रद्धा' शब्द का प्रयोग 'अधश्रद्धा' के अर्थ मे नही किया गया है। जैन तत्त्ववेत्ताओ ने बुद्धि तथा श्रद्धा को समान महत्त्व दिया है। उन्होने कहा है कि "श्रद्धा रहित बुद्धि वेश्या है, और

बुद्धि-रहित श्रद्धा वन्ध्या है।" इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि श्रद्धारहित बुद्धि मनुष्य को तरह तरह से वन्दर की भाँति नचाती है, और बुद्धिरहित श्रद्धा वन्ध्या की तरह कुछ भी फल नही देती।

श्रद्धा और बुद्धि के सुयोग्य मिलन की बात बहुत ध्यान देने योग्य है। जैन तत्त्वज्ञान को ससार मे सर्वाधिक बुद्धिगम्य (Most rational) तत्त्वज्ञान माना गया है।

'यह एक अद्भुत तत्त्वज्ञान है'—इस प्रकार की पक्की और सच्ची समझ प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम श्रद्धा से ही प्रारभ करना पडता है। फिर भी अपनी स्थिति का निश्चित ज्ञान रखने वाले जैन तत्त्ववेत्ताओ का कथन है कि—"श्रद्धा पूर्वक आइये, पर बुद्धि को भी साथ लेकर आइये।" वे बुद्धि को छोडकर आने की बात नही करते।

जब मनुष्य किसी भी बात को श्रद्धा से ही सच मानता है, तब वह श्रद्धा के परिवलो से उस बात पर पूर्णतया आसक्त हो गया होता है। परन्तु उसमे वही बात दूसरो को समझाने की शक्ति नही होती। यदि मनुष्य ने श्रद्धा के परिवल से किसी बात को बुद्धिपूर्वक समझा हो, तो वह स्वय तो उस बात को भलीभाँति समझता ही है, दूसरो को भी वह बात समझा सकता है।

इस ससार मे जो अनेक विचित्रताएँ देखी जाती है, उनमे 'श्रद्धा' भी एक अजीव वस्तु है। समग्र विश्व की कोई भी प्रवृत्ति जब श्रद्धा की धुरी के इर्द गिर्द घूमती हो तभी वह सफल होती है। जिस प्रवृत्ति के मूल मे श्रद्धा न हो, (ऐसी कोई कदली नही फलती) उसमे सफलता नही मिलती।

यदि हम थोडे या बहुत से व्यक्तियो से मिल कर पूछे तो मालूम होगा कि अधिकाश लोग श्रद्धा को मानते ही है। परन्तु इनमे से सब के सब शायद ही 'श्रद्धा' शब्द का अर्थ जानते है।

सामान्य अर्थ मे वे 'श्रद्धा' को 'विश्वास' या 'भरोसा' मानते है। परन्तु यदि श्रद्धा के बदले विश्वास के विषय मे उनसे पूछा जाय तो अधिकाश लोग तुरन्त ही यह कह उठेगे, "नही, भाई नही, इस दुनिया मे किसी का भी विश्वास करने योग्य नही है।" विधि की विचित्रता देखिये कि 'विश्वास रखने योग्य नही है' ऐसी व्यापक मान्यता के बावजूद समस्त विश्व का व्यवहार विश्वास पर ही चलता है।

परन्तु श्रद्धा का अर्थ बडा गहन और गभीर है। यह मानना और कहना कि 'इसमे मुझे श्रद्धा है', बडी साधारण, छोटी, सीधी सी बात है। इससे यह फलित नही होता कि ऐसा कहने वाला और मानने वाला व्यक्ति श्रद्धालु है। किसी भी मनुष्य को किसी वस्तु पर जो श्रद्धा होती है उसकी प्रतीति तो तभी हो सकती है जब कि इस विषय मे उसकी परीक्षा ली जाय और उस परीक्षा मे उत्तीर्ण होने को वह तत्पर हो। जिस वस्तु मे खुद को श्रद्धा हो उस वस्तु के लिये आवश्यकता पडने पर मर मिटने की अथवा सर्वस्व बलिदान करने की तमन्ना जिसमे हो उसी मनुष्य को 'श्रद्धावान्' कह सकते है। उसके सिवा, केवल शब्दो मे व्यक्त होने वाली श्रद्धा तो भेड़ो के समूह जैसी है, उसे जिस ओर मोडना चाहे उस ओर मुड जाती है।

तात्पर्य यह कि मन्त्रसिद्धि के लिए आवश्यक शर्तो मे जिसे प्रथम स्थान मिला है वह श्रद्धा इस प्रकार की पूर्ण श्रद्धा

होनी चाहिए। बुद्धिपूर्वक प्राप्त समझ के द्वारा अधिकृत या प्रतिष्ठित श्रद्धा ही फलदायक होती है। उससे रहित श्रद्धा फल नही देती। जो श्रद्धा 'आगे से चली आई है' ऐसे अर्थ वाली (मात्र परपरागत) होती है वह सच्ची श्रद्धा नही है। सच्ची इस अर्थ मे नही है कि इस प्रकार की श्रद्धा वाले मनुष्य परीक्षा के समय पानी के बुदबुदे की तरह विला जाते है।

मत्रसिद्धि मे दूसरी महत्त्व की वस्तु 'एकाग्रता' है। चित्त की एकाग्रता (Concentration of mind) एक बडी भारी शक्ति है। इसके विना मनुष्य मत्र के विषय मे कोई प्रगति नही कर सकता। स्थिर हुए विना, अनेक प्रकार के मनोव्यापारो मे बिजली की सी गति करने वाला मन एकाग्रता प्राप्त नही कर सकता। इस विषय मे मन को तैयार करने के लिए मनुष्य को बडा भारी पुरुषार्थ करना पडता है, मन की एक निश्चित सुव्यवस्थित अवस्था का निर्माण करना होता है। यदि ऐसा न हो सके तो मत्रसिद्धि कभी प्राप्त नही हो सकती।

तीसरी शर्त दृढता है। यह भी एक महान् शक्ति है। इस दृढता को अग्रेजी मे Power of Perseverance कहते है। मुसीवते आवे, आफते आवे, दु ख पडे और अपनी धारणा से अधिक समय लग जाय तो भी इन सवके सामने मनुष्य को दृढता-पूर्वक डटे रहना चाहिए। बुद्धि सहित श्रद्धा से युक्त एकाग्रचित्त मे निश्चय-शक्ति तो अपने आप प्रकट होती है। परन्तु जिनमे उस पर दृढतापूर्वक डटे रहने की और कुछ भी हो जाय तो भी अपने प्रयत्न को न छोडने की शक्ति हो उन्ही को सिद्धि प्राप्त होती है।

चौथी शर्त 'विधि' से सम्बन्धित अर्थात् विधिपूर्वक

(Methodical) साधना करने की है। यह भी एक अद्भुत शक्ति है। तज्ज्ञ पुरुषो से मत्रसाधना की विधि भली भाँति समझ लेने के पश्चात् उसका विना किसी भूल के पालन तथा अनुसरण किया जाय—मत्रसिद्धि के लिए यह चौथी महत्त्वपूर्ण शर्त है। इसमे एक खास ध्यान रखने की बात यह है कि पुस्तक के पृष्ठो पर लिखित मत्र अथवा किसी के पास से प्राप्त मत्र सुषुप्त दशा मे होते है। जब तक योग्य गुरु से विधिपूर्वक मत्र ग्रहण न किया जाय, तब तक उसमे चैतन्य प्रकट नही होता, वह मत्र तब तक जड रहता है। मत्र है, इसलिए उसकी साधना फलदायक तो होती ही है। फिर भी गुरु के पास से ग्रहण करके 'चेतन' बनाने के वाद उसकी सिद्धि एव शक्ति अद्भुत बन जाती है।

पाँचवी और अतिम शर्त मत्रसिद्धि के हेतु (उद्देश्य) से सबधित है। यहाँ स्वभावत यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि 'हेतु की विशुद्धता या अयोग्यता के साथ मत्रसिद्धि का क्या सम्बन्ध है ?'

'बुद्धियुक्त श्रद्धा, चित्त की पूर्ण एकाग्रता तथा दृढ कार्य-क्षमता रखने वाला मनुष्य यदि विधिपूर्वक मत्र साधना करे तो उसमे उसके हेतु की शुद्धता-अशुद्धता से क्या सम्बन्ध है ?' ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है ?

यह एक बहुत ही ध्यान मे रखने की बात है। दुनिया का यह एक अबाधित तथा सनातन सिद्धान्त है कि उद्देश्य की पवित्रता से रहित कोई भी कार्य अन्तत सुखदायक—इष्ट-प्राप्ति करानेवाले—कभी नही हो सकते। उद्देश्य या हेतु से मत्रसिद्धि का घनिष्ठ सबध है।

मनुष्य मन्त्रसिद्धि की कामना शुभ हेतु से करता है, या अशुभ अथवा अशुद्ध हेतु से—यह वडे महत्त्व का प्रश्न है। अशुभ हेतु से किये हुए कार्य मे श्रद्धा, एकाग्रता तथा दृढता हो तो काम भले ही वन जाता है, परन्तु उसका परिणाम दीर्घकाल तक निभ नही सकता। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार की सिद्धि अन्त मे उसका खुद का भी अहित ही करती है, उसको ही अधोगति के गहरे गर्त मे धकेल देती है; जव कि शुभ हेतु से की गई मत्रसाधना अपने साधक को उत्तरोत्तर शक्ति देती रहती है और साथ ही उसे निरतर कल्याण के पथ पर भी अग्रसर करती है।

यदि कोई मनुष्य—अपनी किसी आपत्ति को दूर करने के लिए, कुटुम्ब के पालन के लिये या भौतिक आवश्यकताओ के लिए मत्र साधना करे तो हम उसे शुभ नही कह सकते; परन्तु वह अशुभ भी नही कहलाएगी। 'शुभ है।' और 'अशुभ नही है।'—इन दो वाक्यो के अर्थ मे वडा अन्तर है। किन्तु जो हेतु अशुभ नही है, उनको मत्र साधना के लिए अनिष्ट नही माना गया। जव तक मनुष्य पराया या अपना कल्याण चाहता हुआ प्रवृत्तियाँ करता रहे, उसमे दूसरे किसी को पीडा अमगल या दु ख पहुँचाने की वृत्ति न हो, तवतक हम उसके हेतु को 'अशुद्ध' नही कह सकते।

यहाँ जव कि हमने अशुभ हेतुओ की, और जो अशुभ नही है, उन हेतुओ की चर्चा की है तो अव इस वात का भी थोडा सा विचार कर ले कि शुभ अथवा शुद्ध हेतु किसे कहते है।

ज्यो ज्यो हम जीवन के हेतु अथवा 'ध्येय' के विषय मे

उपयोगिता की दृष्टि से क्रमश विचार करते चलेगे त्यो त्यों हमे नया प्रकाश मिलता जायगा। यह विचार करते करते हमारी विचारधारा नाशवत पर्यायो को छोड कर जो ध्रुव स्वरूप है, जो परिणामीनित्य है, उस आत्मा तक अवश्य पहुँचेगी।

इस तरह विचार करते करते, इस विश्व के इतिहास को खोजते खोजते, और अपने आस पास-नित्य होती हुई घटनाओ का तात्त्विक विश्लेषण करते करते आखिर हम इस नतीजे पर पहुँचेगे कि जीवन का अतिम ध्येय शरीर और सपत्ति नही बल्कि आत्मा और उसकी मुक्ति है। बुद्धिमान् और ज्ञानी लोग अपने श्रेय के लिये लघुदृष्टि को छोड कर दीर्घदृष्टि से काम लेते है। जिस विचार या आयोजन के पीछे दीर्घ दृष्टि न हो उससे हमे शायद तात्कालिक लाभ हो सकता है, परन्तु दीर्घकाल तक वह हितकारी नही होता। अतएव जब भी हमे अपना ध्येय निश्चित करना हो तब 'आत्मा की अन्तिम मुक्ति'—Final Emancipation of the soul— को केन्द्र मे रख कर ही हमे अपने जीवन का आयोजन-Planning करना चाहिए। आत्म-कल्याण के साथ सबध रखने वाली एक महत्त्व की बात है, समस्त विश्व का कल्याण करना और चाहना। अत आत्मा के कल्याण के लिए, उसकी अन्तिम मुक्ति के लिए, और उसे लक्ष्य मे लेकर परकल्याण के लिए जो कोई मत्र साधना की जाय उसका हेतु शुद्ध तथा शुभ माना जायगा, क्योकि उसमे कोई भौतिक स्वार्थ या कामना नही होती।

अब हम अपनी मत्रसाधना विषयक विचारधारा को

और आगे बढाते हैं। ऊपर जो पांच शर्तें बताई गई हैं उन्हे नीचे से ऊपर के क्रम मे लेते हुए शुद्ध हेतु या अशुद्ध न हो ऐसा हेतु, तज्ज्ञ पुरुष से प्राप्त विधि, दृढ कार्यक्षमता, पूर्ण एकाग्रता, और बुद्धियुक्त श्रद्धा—इन पांचो वस्तुओ का आलंबन लेकर यदि कोई भी मनुष्य मन्त्रसाधना करे तो उसे सिद्धि प्राप्त होती है—ऐसा शास्त्र का वचन है।

परन्तु ये पांचो चीजे एकत्रित होने मात्र से मन्त्रसिद्धि फलदायक हो जाती है, ऐसा नही मान लेना चाहिए। यहाँ मन्त्र की पसदगी का एक अत्यत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है।

हमने पिछले पृष्ठो मे देखा है कि जो भौतिक जीवनमार्ग हमे आध्यात्मिक प्रगति की सीढी तक न ले जाय वह सच्चा जीवन-मार्ग ही नही है। उससे सच्चे सुख की प्राप्ति नही होती, क्योकि ऐसे सुखो मे पुन दूसरे अनेक छोटे बडे दुखो की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार से, जो मन्त्र स्वय ही सासारिक सुखप्राप्ति को लक्ष्य मे रख कर रचा गया हो, उस मन्त्र की सिद्धि आखिरकार दुखदायक ही होती है। 'कागविद्या' (कर्ण-पिशाचिनी विद्या) के उपासको और साधको की कैसी दशा होती है? मैली विद्या (काला जादू) के आराधको की कैसी हालत होती है? यह सब देखे तो उपर्युक्त कथन अच्छी तरह समझ मे आएगा।

एक और उदाहरण लेते है। एक मन्त्र है जिसे 'वशीकरण' कहते है। यह एक बडा आकर्षक मन्त्र है। ऐहिक सुख के अभिलाषी, विशेषत किसी खास स्त्री को पाने की कामना

वाले कोई कोई व्यक्ति इस मत्र का ग्राश्रय लेते है। इन पक्तियो के लेखक को ऐसे दो किस्से—सत्य घटनाएँ—मालूम है। किसी स्त्रीविशेष को ग्रपने वश मे करने के लिए सुध-बुध खोये हुए दो शक्तिशाली युवको ने इस मत्र की साधना की थी। दोनो को इसमे सफलता प्राप्त हुई थी, ग्रौर दोनो ग्रपनी ग्रपनी इच्छित रमणियो को वश मे करके उनके साथ शादी कर सके थे। परन्तु वशीकरण मत्र की सिद्धि से पहले ये दोनो स्त्रियाँ ग्रपने ग्रपने प्रेमी युवक को घृणा की दृष्टि से देखती थी। मत्रसिद्धि के वाद मत्रवल से हिप्नोटाइज होकर उन दोनो स्त्रियो ने उन पुरुपो से व्याह तो किया, परन्तु इसका परिणाम क्या हुग्रा ?

एक स्त्री तो मत्र से ग्रभिभूत स्थिति मे केवल कठपुतली वन गयी, ग्रौर हृदय की उष्मा खो वैठी। उक्त युवक ने जिस सुख की ग्राशा से मत्रसिद्धि का पुरुषार्थ किया था, वह सुख उसे जीवन भर नही मिल सका। ग्रौर उलटे जोवन भर के लिए उसे महादु:ख प्राप्त हुग्रा। दूसरे किस्से मे स्त्री कुछ ग्रधिक मनोवल वाली थी, इसलिए यद्यपि उसने मत्र के प्रभाव के कारण उस युवक से शादी कर ली, तथापि वह उसे ग्रपना प्रेम न दे सकी। इसके वदले उस स्त्री का ग्रपना जीवन नष्ट हो गया। इस घटना मे भी एक 'ग्रयोग्य पात्र' को ले ग्राने का दु:ख उस युवक का जीवनसाथी वन गया। उस पात्र मे जिस ग्रयोग्यता ने प्रवेश किया उसका जिम्मेदार वह युवक स्वय ही था—यह वात ग्रभो तक उसके दिमाग मे नही वैठी।

इस पर से यह वात सिद्ध होती है कि मनुष्य को मत्र की पसदगी करते समय पूर्ण विवेकबुद्धि से काम लेना

चाहिए। मत्र ऐसा होना चाहिए जो स्वय 'सर्वसिद्धिप्रदायक' होने के उपरात साधक की मानसिक एव आध्यात्मिक भावनाओ को भी प्रकट करने और प्रवल वनाने की शक्ति रखता हो।

यह मत्र साधक की साधकावस्था की त्रुटियो को स्वयं दूर करने की शक्ति रखने वाला, साधन की अपवित्रता को स्वयं पवित्र वनाने में समर्थ, तथा साध्य (हेतु) को भी स्वयं शुद्ध तथा सुमंगल बनाने में शक्तिमान् होना चाहिए। यह मंत्र ऐसा होना चाहिए जो स्वयं 'पारसमरिण' के समान क्षमता रखता हो, स्पर्श मात्र से सीसे को कचन बना दे, और केवल अपनी ही शक्ति से 'साधक, साधन और साध्य'—तीनो का सुनियंत्रण कर सके-ऐसा 'स्वयसिद्ध एवं स्वयसंचालक' हो।

ऐसे सुयोग्य मत्रो मे से श्रेष्ठ मत्र इस जगत यदि कोई हो तो वह एक "नमस्कारमहामत्र" है। इस महामंत्र को "मंत्राधिराज" का मंगल विरुद प्राप्त हैं।

सीधे-सादे शव्द और सरल अर्थ वताने वाला यह मत्र सामान्य मनुष्य पर प्रथम दृष्टि मे वहुत वडा या असाधारण प्रभाव नही डालता।

छोटा सा वालक जव पहलेपहल स्कूल मे पदार्पण करता है तव प्रारभ मे उसे वर्णमाला सिखाई जाती है। वर्णमाला को अच्छी तरह सीख लेने के वाद जवानी मे या वडी उम्र मे उस वर्णमाला को कौन याद करता है ? फिर भी यह कौन नही जानता कि अप्रतिम विद्वत्ता की नीव वर्णमाला ही है।

जैनो के वालको को धार्मिक शिक्षा देने का प्रारभ इस 'नमस्कारमहामत्र' से होता है। उस समय इस मत्र को 'नवकार मत्र' के unconspicuous अप्रसिद्ध नाम से पहचाना

जाता है। परन्तु यह 'नवकारमत्र' भौतिक जगत की वर्ण-माला से लाखो गुनी अधिक शक्ति रखने वाला मत्र है। इस बात का ज्ञान वाद मे चलकर विचार करने से तथा योग्य गुरु के मार्गदर्शन से प्राप्त होता है।

यह एक स्वयसिद्ध मत्राधिराज है। यह मत्र साधक को सुधड बना सकता है, साधन को शुद्ध बना सकता है, और साध्य का भी स्वय ज्ञान कराता है। परन्तु ऐसा कब हो सकता है ? इस मत्र मे जो 'सर्वसिद्धिप्रदायकता' है वह कब प्रकट हो सकती है ?

इसकी पहली शर्त यह है कि 'हम श्रद्धापूर्वक प्रयत्न के द्वारा, इस मत्र मे जो सर्वसिद्धिप्रदायकता का अपूर्व भडार भरा हुआ है उसकी बौद्धिक समझ से सुसज्जित हो।'

अब हम इस मत्र के शब्द-शरीर का निरीक्षण करे —

"नमो अरिहताण
नमो सिद्धाण
नमो आयरियाण
नमो उवज्झायाण
नमो लोए सव्वसाहूण
एसो पचनमुक्कारो
सव्वपावप्पणासणो
मगलाण च सव्वेसि
पढ म हवइ मगल।"

इन वाक्यो मे प्रथम दृष्टया क्या कोई असाधारणता दिखाई देती है ? पहले पाँच वाक्यो-पदो-मे 'अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और सर्वसाधु' इन पाच 'परमेष्ठियो' को नमस्कार

किया गया है। अतिम चार वाक्यो मे इस प्रकार किये गये नमस्कार का फल तथा प्रभाव वर्णित है। फल और प्रभाव बताने वाले इन चार पदो को नमस्कार महामत्र के अन्तर्गत ही माना गया है।

हमने जो नौ पद अभी पढे, उनका सीधा-सादा और सरल अर्थ निम्नानुसार होता है :—

१ अरिहत (भगवान्) को नमस्कार करता हूँ।
२ सिद्ध (परमात्मा) को नमस्कार करता हूँ।
३ आचार्य (भगवत) को नमस्कार करता हूँ।
४ उपाध्याय (महाराज)को नमस्कार करता हूँ।
५ लोक मे रहे हुए सर्व साधु महाराजो को नमस्कार करता हूँ।
६ इन पाचो को किया हुआ नमस्कार
७ सर्व पापो को नाश करने वाला है।
८ और सर्व मगलो मे
९ प्रथम (उत्कृष्ट) मगल है।

सीधा-सादा दिखाई देने वाला यह मत्राधिराज कितना अर्थगम्भीर है—इस बात का शीघ्र ही खयाल आ जाना सभव नही है। फिर भी इसमे रही हुई गहन और गूढ अर्थगभीरता के विषय मे विचार करने से पहले हम यह देखेगे कि जिन्होने इस महामत्र का अशत स्वाद अनुभव किया है वे लोग इस विषय मे क्या कहते है। प्रारभ श्रद्धा से करना। इस श्रद्धा को बाद मे बुद्धिगम्यता से अलकृत करेगे।

"यह नवकार मत्र सभी शास्त्रो का सार रूप है। यह मत्र अचित्य प्रभावशाली है। इसका प्रभाव न केवल मनुष्यो

को, अपितु देवो तथा दानवो को भी आकर्षित करता है। इससे सभी मनोरथपूर्ण होते है। यह मत्र तमाम विघ्नो को दूर करता है। इस मत्र के प्रभाव से सव प्रकार की बाधाएँ तथा आपत्तियाँ (उपसर्ग) नष्ट होती है। यह मत्र जगल मे मगल करने वाला, चिंतामणि रत्न के समान, कल्पवृक्ष और काम-धेनु से अधिक अभीष्टदायक और शून्य मे से सृष्टि वना देने वाला है। इस मत्र के सेवन से सव प्रकार के पाप नष्ट होते है। यह मत्र इह लोक और परलोक मे सुख सामग्री और अपूर्व ऋद्धि सिद्धि की प्राप्ति कराता है। इस मत्र के प्रभाव से निकाचित और निविड़ कर्म की निर्जरा होती है। जन्म-जन्म के पाप इसके पावक जापरूपी जल से धुल जाते है, आत्मा दुर्गति के घोर दु खो से वच जाता है। कर्म के वन्धन से मुक्ति पाकर शुद्ध निर्मल और पवित्र वना हुआ आत्मा इस मत्र के प्रभाव से ही अपना शुद्ध स्वरूप प्रकट करता है और केवल-ज्ञान प्राप्त करता है।

"प्रात काल इसका स्मरण करने से सारा दिन परममगल-मय तथा आनन्दकारी वनता है। जन्म लेते हुए वालक को जन्म के समय यदि यह मत्र सुनाया जाय तो उसका समस्त जीवन परम सफल तथा यगस्वी वनता है। पापात्मा को उसकी मृत्यु के समय सुनाया जाय तो वह सद्गति पाता है। "यह मत्र चीटी को कन, हाथी को मन, दुखी को सुख, सुखी को सन्तोप और सन्तोपी को परम सामर्थ्य देता है। जिन-जिन को तीव्र अभिलापा जगे उन सवको सव प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करने की उच्च और उत्कृष्ट गक्ति इस स्वयं सिद्धमंत्र मे है। यह सर्वसिद्धिप्रदायक मत्राधिराज है, मत्रशिरोमणि है।

इस नमस्कार महामत्र की शक्तियो और सिद्धियो के विषय मे अनादि काल से अनेक अनुभवसिद्ध महापुरुषो ने इतना सारा लिखा है, इस मत्र के एक एक अक्षर मे रही हुई शक्तियो का वर्णन इतना विस्तारपूर्वक किया है कि उसे पढने के और समझने के लिये सौ वर्ष का आयुष्य भी कम है ।

इस मत्र मे इतना सारा, ऐसा सब क्या है ?

क्या जवाब दू ?

इस महासिधु के एक अत्यल्प बिदु का जो अनुभव हुआ है उसका वर्णन करने के लिए भी शब्द नही मिलते । मुख्यतः तो यह अनुभव का विषय है । इसका सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐसे महानुभाव साधु पुरुषो का सत्सग प्राप्त करना आवश्यक है जिन्हे इसका पर्याप्त अनुभव हो । विद्यमान जैन आचार्यों तथा मुनि महाराजो मे से इसके अनुभव वाले किसी विरले महात्मा के पास जाइए, श्रद्धा और जिज्ञासा लेकर जाइए, तो आप को निराश नही होना पडेगा ।

इस महामत्र मे जो 'नमो' शब्द है, उस एक ही शब्द के धारण तथा अगीकरण के लिए हमारे पास असाधारण योग्यता होनी चाहिए । जब हम शिष्टाचार के लिए 'मै नमस्कार करता हू, वन्दन करता हूँ'—ऐसे शब्द कहते है तब यह न मान ले कि हमारे द्वारा नमस्कार या वन्दन हो जाता है ।

"जब तक ऐसी आत्मप्रतीति न हो कि मै केवल नमस्कार करने के ही योग्य हूँ, तब तक कोई भी नमस्कार फलदायक नही होता । यह आत्मप्रतीति अपने आप मे एक विशिष्ट प्रकार की और उच्च पात्रता है । हमारे भीतर क्षण क्षण, जाने-अनजाने, हर समय और हर जगह जो अहंभाव

घर किये रहता है उसे जब तक हम पूर्णतया छोड़ न दें तब तक हमसे पूर्ण और शुद्ध नमस्कारभाव प्रकट नहीं होता।

यह भाव कब प्रकट होता है ?

यह भाव तभी प्रकट होता है जब हमारी समझ जिनके विषय मे हम नमस्कार-भाव का चिंतन करते हो उनके साथ अर्थात् उनके सद्गुणो तथा प्रभावो के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है।

तो इस मंत्र मे हम नमस्कार किसे करते है ?

इसे 'पंचपरमेष्ठिनमस्कार' कहते है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुगण–पंच परमेष्ठि को–महान परमात्मतत्त्व को उद्देश कर हम नमस्कार करते है।

आत्मा के शत्रुओ का अर्थात् इस संसार मे रममाण तमाम आत्माओ को सद्गति और शिव लक्ष्मी प्राप्त करने मे बाधा डालने वाले तमाम शत्रुओ का जिन्होने हनन किया है, ऐसे अरिहंत परमात्मा को, सभी कर्मो का क्षय करके सिद्धत्व प्राप्त किये हुए सिद्ध भगवन्तो को, हमे इस मार्ग का यथार्थ ज्ञान देने वाले कुलपति—आचार्यो को, इस ज्ञान की प्राप्ति मे हमारी सहायता करने वाले प्राध्यापक-उपाध्यायो को, और जिनका चित्त इस मार्ग पर क्रियाशील बना है, ऐसे सभी साधुजनो को हम नमस्कार करते है।

पंच परमेष्ठी के विशिष्ट गुणो को व्यक्त करने के लिए स्थान, समय और शक्ति के अभाव के कारण, यह लेखक केवल इतना नम्रतापूर्वक सूचित करता है कि इस विषय मे जैन आचार्य महाराजो का सम्पर्क साधकर सत्संग प्राप्त करने से जितना प्रकाश मिल सकता है उतना अनेक सूर्यसमूह एकत्रित होकर भी नही दे सकते।

परन्तु एक महत्त्व की वात याद रखे। आज इस जगत मे यह मत्राविराज 'नमस्कार महामत्र' ही एक मात्र ऐसा मत्र है जिसके रटन से मनुष्य मात्र की तन, मन और धन की सारी आकाक्षाओ का शुद्धिकरण, उत्क्रातिकरण, और ऊर्ध्वीकरण होता है। अन्य किसी भी प्रकार के लम्बे चौडे विचार किये विना केवल इस महामन्त्र के रटनमात्र को ही ध्येय वना कर यदि इसका रटन करना शुरू कर दिया जाय तो उससे रटन करने वाले के समस्त जीवन का कार्य-भार यह मत्राविराज अपने ऊपर ले लेता है।

नमस्कार महामत्र की शरण मे जाने वालो के लिए यह नमस्कार महामत्र स्वय पिता है, स्वय गुरु है, स्वय देव है, स्वय धर्म है, स्वय उद्धारक है और स्वय तारक है।

यह महामत्र स्वय अपने साधक की सभी विवेकयुक्त भौतिक कामनाओ को पूर्ण करता हुआ, सभी प्रकार के सकटो को नष्ट करता हुआ, देह, आत्मा एव परिवार की रक्षा करता हुआ, उसे पूर्ण और अनन्त सुख की ओर खीच ले जाता है।

आपको सुधासरोवर के तट पर लाकर खडा कर दिया गया है। अमृत-रस आँखो के सामने दिखाई देता है। यह आपको प्रेमपूर्वक—आग्रहपूर्वक आमत्रण देता है कि आप उसका आस्वाद लेकर धन्य वने।

खडे खडे देखते रहने से क्या लाभ है ?

इसमे हाथ डालिये, इसमे से कुछ वूदे करकमल मे ग्रहण करके अपनी जिह्वा पर रखिये, फिर जो अनुभव होता है उसका परम आनन्द स्वय भोगिये।

विदा

'वाच्य और वाचक' की यह सत्सगी मुलाकात अपने सिरे पर आ पहुँची है । 'नमस्ते, पधारियेगा' आदि मगल—शब्द-ध्वनि के द्वारा हम अलग हो उससे पहले नेत्रो को 'दो मिनट' का विराम देकर हम इष्ट मत्र का ध्यान कर ले—

... .

. . . .

... .

. . ..

. . ..

. . ..

. . ..

. .. .

. .. .

दो मिनट का मौन पूर्ण करके अब हम चिन्तन करने योग्य दो उत्कृष्ट भावो को अपने हृदय मे धारण करे:—

(१)

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमतु मे,

मित्ती मे सव्वभूएसु वेर मज्झ न केणइ ।

(२)

शिवमस्तु सर्वजगत. परहितनिरता भवन्तु भूतगणा,

दोषा प्रयान्तु नाश, सर्वत्र सुखी भवतु लोक. ।

अच्छा तो फिर, नमस्ते—